संस्कृत में

प्रतीक नाटकों का उद्भव और विकास

एक अध्ययन

(A Study of Origin & Development of Allegorical Dramas in Sanskrit)

प्रयाग-विश्वविद्यालय की डी० फिल्० उपाधि के लिये प्रस्तुत

शोध - प्रबन्ध

लेखक

ओङ्कारनाथ ~~पाण्डेय~~, एम० ए०

★ ★

निर्देशक

डॉ० सुरेशचन्द्र श्रीवास्तव्य, एम०ए०, डी०फिल्०, शास्त्री, साहित्यरत्न

संस्कृत - विभाग

प्रयाग-विश्वविद्यालय, प्रयाग

सन् १९६७ ई०
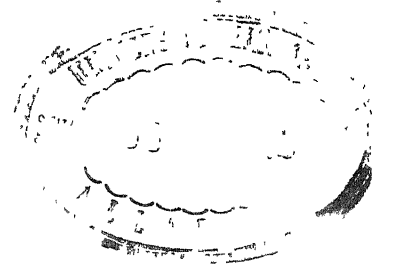
दो शब्द

वैसे तो सामान्यरूप से सम्पूर्ण मानव जीवन ही प्रतीकमय है । जीवन, स्पन्दन आदि स्वयं विराट् शक्ति के प्रतीक हैं । प्रतीकों के प्रति मानव मन का आकर्षण भी उनकी रहस्यात्मकता के कारण स्वभाव-सिद्ध है । सामान्य नाटक हिन्दी एवं संस्कृत के पढ़ने को मिले और उनमें रसानुभूति का भी आनन्द उठाया गया परन्तु इनसे भिन्न प्रतीक नाटक नाम जब सुनने को मिला तब एकाएक मस्तिष्क प्रतीकों के प्रति जागरूक हो उठा कि आखिर प्रतीक है क्या ? काव्य परम्परा में उसका विनियोग क्योंकर हुआ है ? कैसे उसकी सार्थकता है ? इस विषय में मन में एक प्रबल व्यग्रता उत्पन्न हुई और प्रतीक नाटकों पर शोध करने की एक प्रवृत्ति जाग उठी ।

मैंने सन् १९६५ ई० में जब काशी हिन्दूविश्वविद्यालय से एम०ए० किया तत्पश्चात् ही मुझे इस विषय पर शोधकार्य करने की प्रबल आकांक्षा उत्पन्न हुई । मैंने अन्दर से काफी नीरस, शुष्क एवं दर्शनोन्मुख विचारों वाला व्यक्तित्व पाया था परन्तु एम०ए० किया साहित्य वर्ग से । अतएव ऐसे विषय पर शोधकार्य करना चाहता था जो साहित्य के माध्यम से मेरी दार्शनिक जिज्ञासाओं की अभिव्यक्ति कर सके । काशी हिन्दू विश्वविद्यालय ने " धनपाल की तिलकमंजरी " पर शोधकार्य करने को दिया । स्वाभाविक था विषय मुझे मनोनुकूल न प्रतीत हुआ । कुछ तो इस कारण से और कुछ अन्य परिस्थितियोंवश मैंने प्रयाग विश्वविद्यालय की शरण ली । यहां मेरी भेंट संस्कृत साहित्य के उद्भट विद्वान् डा० चन्द्रिकाप्रसाद जी शुक्ल एम०ए०, साहित्याचार्य से हुई उन्होंने मेरी प्रवृत्ति के अनुकूल और मेरी चिरसंचित आकांक्षाओं के अनुरूप " संस्कृत के प्रतीक नाटक " सम्बन्धी शोध विषय ग्रहण करने की प्रेरणा दी

तात्कालिक विभागाध्यक्ष आदरणीय पं० सरस्वतीप्रसाद जी चतुर्वेदी ने मेरे लिए यही विषय — "A study of the origin and Development of Allegorical Dramas in Sanskrit"

दिला दिया। साथ ही मुझे डा० सुरेशचन्द्र जी श्रीवास्तव्य के सुयोग्य निर्देशन में रख दिया। अपनी सम्पूर्ण रहस्यात्मकता एवं जटिलता के परिवेष में निमीलित प्रतीक नाटकों के अध्ययन में गति एवं दृष्टि की प्राप्ति में श्रद्धेय गुरुवर्य की कृपा ही प्रधान रही है।

वर्तमान अध्यक्ष एवं प्रकाण्ड दार्शनिक विद्वान् डा० आद्याप्रसाद जी मिश्र के प्रति मैं अपना जो कुछ आभार प्रकट करूं वह कम ही है। उनकी अहैतुकी कृपा से सभी छात्रलाभान्वित होते हैं भला मैं कैसे अपवाद बनता। श्रद्धेय पं० महावीरप्रसाद जी लखेड़ा का मैं अत्यन्त आभारी हूं जिनके स्नेह एवं सहयोग से मुझे अपार बल प्राप्त होता रहा है।

यद्यपि यह शोधकार्य बहुत अधिक व्ययसाध्य रहा। बहुत-सी किताबें बाहर से अपने खर्चे से मगानी पड़ीं। शारिपुत्रप्रकरण को कुछ लोगों[१] द्वारा प्रतीक नाटक की श्रेणी में रखे जाने के कारण उसके स्वरूप निर्णय के लिए बड़ा प्रयास करना पड़ा, परन्तु जब परम पूज्य गुरुवर्य पं० क्षेत्रेशचन्द्र चट्टोपाध्याय की महती कृपा से काशी में ही उनके घर पर अश्वघोषकृत दो नाटकों की खण्डित प्रतियां देखने को मिलीं तो यह जानकर कि शारिपुत्रप्रकरण प्रतीक नाटक नहीं है उसमें एक भी पात्र अमूर्त नहीं हैं। वरन् खण्डित प्रतिवाला दूसरा नाटक प्रतीकात्मक है तो आन्तरिक हर्ष हुआ।

पुस्तकों को भेजने एवं उचित समय पर सूचना देने वाले आगरा यूनिवर्सिटी लाइब्रेरी, दिल्ली यूनिवर्सिटी लाइब्रेरी, नेशनल लाइब्रेरी कलकत्ता,

---

१. महाकवि अश्वघोष — डा० हरिदत्त शास्त्री, पृ० ६३

सैन्ट्रल लाइब्रेरी बरोदा, मद्रास यूनिवर्सिटी लाइब्रेरी आदि स्थानों के पुस्तकालयाध्यक्षों के प्रति मैं अत्यन्त आभारी हूं। साथ ही उन प्रतिभासम्पन्न सभी विद्वानों के प्रति अपना आभार प्रकटकरता हूं जिनकी कृतियों से मैं बार-बार लाभान्वित हुआ हूं। टंकणकार्य सम्पन्न करने वाले श्री मेवालाल मिश्र को भी धन्यवाद देता हूं जिन्होंने मनोयोग पूर्वक इस कार्य को किया है।

टंकण यंत्र की कठिनाई के कारण चन्द्रबिन्दु और ~~अक्षर के~~ संयुक्ताक्षर का कार्य अनुस्वार लगाकर पूरा किया गया है जिसके लिए मैं क्षमा चाहता हूं।

: दीपावली :
संवत् २०३४ विक्रमी
१०६, हिन्दू छात्रावास
प्रयाग विश्वविद्यालय, प्रयाग

—— ओंकारनाथ पाण्डेय

प्रस्तावना

"प्रस्तावना"

प्रतीक शब्द उस दृश्य या गोचर (वस्तु) के लिए प्रयुक्त होता है जो किसी अदृश्य (अगोचर या अप्रस्तुत) विषय का प्रतिविधान उसके साथ अपने साहचर्य के कारण करती है। दूसरे शब्दों में किसी अन्य स्तर की समान-रूप वस्तु द्वारा किसी अन्य स्तर के विषय का प्रतिनिधित्व करने वाली वस्तु प्रतीक है। अमूर्त, अदृश्य, अश्रव्य, अप्रस्तुत विषय द्वारा करता है। उदाहरण के लिए हम कह सकते हैं कि अदृश्य या अप्रस्तुत ईश्वर, देवता अथवा व्यक्ति का प्रतिनिधित्व उसकी प्रतिमा या अन्य कोई वस्तु करती है।

प्रतीक की सामान्यतया दो विशेषताएं दृष्टिगोचर होती हैं — पहली तो यह कि प्रतीक सदैव किसी न किसी मध्यस्थ प्रकार के व्यापार का प्रतिनिधि होता है। इसका अर्थ यह है कि सभी प्रतीकों में ऐसे अर्थ निहित होते हैं जिनको केवलप्रत्यक्ष अनुभव के सन्दर्भ से नहीं जाना जा सकता। दूसरी विशेषता यह है कि प्रतीक अपने विषय की बोध्यता को घनीभूत कर देता है, प्रतीक की तुच्छता और उसके वास्तविक महत्त्व के परिणाम में कोई सम्बन्ध नहीं होता।

प्रतीक दो प्रकार के बताये जाते हैं — संदर्भीय और संघनित। सन्दर्भीय प्रतीकों में वाणी और लेखन से अभिव्यक्त शब्द राष्ट्रीय पताकाएं, तारों के परिवहन में प्रयुक्त होने वाली संहिता, रासायनिक तत्त्वों के चिह्न आदि आते हैं। धार्मिक कृत्यों में स्वप्न तथा अन्य मनोवैज्ञानिक प्रक्रियाओं में संघनित प्रतीक देखने को मिलते हैं। मनुष्य के व्यावहारिक जीवन में दोनों प्रकार के प्रतीकों का सम्मिश्रण मिलता है।

यह सच है कि मनुष्य प्रतीकों के माध्यम से सोचता है, चिन्तन और मनन करता है इसीलिए विद्वानों ने अमूर्त चिन्तन को श्रेष्ठ चिन्तन के रूप में स्वी

किया है। बात यह है कि सामान्य मनुष्य अपने चिन्तन को प्रत्यक्ष जगत् तक ही विकसित कर सकता है। किन्तु विशेष व्यक्ति प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष मूर्त और अमूर्त लगभग सभी पहलुओंपर अपनी दृष्टि दौड़ाता है। इसीलिए विशेष व्यक्ति का यह अमूर्त चिन्तन शास्त्र विद्या का 'रूप' ग्रहण करता है।

कला और साहित्य, इन्हीं विशिष्ट व्यक्तियों के चिन्तन का परिणाम होता है। मनुष्य की सम्पूर्ण सांस्कृतिक चेतना और उसका कला-ज्ञान इसी अमूर्त चिन्तन का परिणाम है।

कला में इस अमूर्त चिन्तन की प्रवृत्ति का आभास कला-सृजन की प्रारम्भिक स्थितियों से ही मिलता है — ऐसा न कहकर अगर हम यह कहें कि मनुष्य की अमूर्त चिन्तन की इस मूलभूत प्रवृत्ति ने ही कलात्मक सृजन की प्रेरणा प्रदान की है तो अधिक समीचीन होगा। अपनी प्रारम्भिक अवस्था में कला मनुष्य के मनोजगत् का स्थूल उद्घाटन करती थी। मूर्त और अमूर्त का स्वरूप भी प्रारम्भ में स्थूलत्व लिए हुए ही रहा होगा। कुछ मोटी-मोटी वस्तुओं को प्रतीकीकरण के माध्यम से प्रकट करने की इच्छा कलाकारों में जागरित हुई होगी। चेतन दृष्टि प्राप्त करके और अपने को सोचने-समझने के स्तर पर महसूस करके कलाकारों ने अपने चारों तरफ के वातावरण से उत्प्रेरित अपने मनोजगत् का उद्घाटन करना प्रारम्भ किया होगा।

चूंकि, मनुष्य के सम्पर्क में सबसे अधिक यहां प्रकृति ही रही है इसलि सबसे अधिक प्रेरणा लोगों को प्रकृति से ही मिली है। कहीं-कहीं बर्फ से ढका विशालकाय पर्वत, कहीं तीव्रावेग से प्रवाहित हो रही सरिता की जलधारा, तारों की छटा, सूर्य-चन्द्र की ज्योति, रात-दिन की विचित्रता, ग्रहों और नक्षत्रों का सौन्दर्य — इन सबने समवेत रूप से हमारे पूर्वज बुद्धिजीवियों को बहुत बड़ी मात्रा में प्रभावित किया होगा। प्राचीन चित्रकला का इतिहास, एलोरा और अजन्ता की गुफाएं, सिन्धुघाटी हरप्पा और मोहनजोदड़ो की खुदाई से प्राप्त मूर्तियाँ, और नालन्दा तथा कौशाम्बी के भावपूर्ण चित्र

इसके उदाहरण हैं ।

सभ्यता के विकास में लेखन की शुरुआत अन्य कलाओं की अपेक्षा ज़रा देर में हुई है । लिपि के अभाव में चित्र द्वारा भावों की अभिव्यक्ति सम्भव थी । बाद में जब लिपि का विकास हुआ तब लोगों ने अपने मनोभावों को भाषाबद्ध या लिपिबद्ध करना प्रारम्भ किया । इस तरह से लिपिबद्ध हुआ सबसे पहला ग्रन्थ जो उपलब्ध होता है, वह है — ऋग्वेद संहिता । इस ग्रन्थ में प्रतीक का बहुलता से प्रयोग हुआ है । यह युग दैवी प्रकोपों का युग था । आंधी-तूफान, अतिवृष्टि - अनावृष्टि और दावाग्नि लोगों को आतंकित कर देती थी । मनुष्य की बौद्धिकता का विकास अभी नहीं हो पाया था । उनमें तर्क बुद्धि की जगह विश्वास और प्रेम कार्यशील था इसीलिए लोग अपने बचाव के लिए, प्रकृति की विकरालता से अपनी सुरक्षा का आश्वासन पाने के लिए नाना देवोपासना में प्रवृत्त हुए । भारतीय धर्म-शास्त्र के इतिहास में बहुदेवोपासना की तह में यहां की प्रकृति के नाना विध्वंसकारी रूप ही कारण रहे हैं ।

इस प्रकार यह स्पष्ट लगता है कि वेदों में प्रतीक शैली का विधान उपासना रूप में ही हुआ है जो निश्चय ही सामान्य प्रतीकीकरण के प्रारम्भिक रूप में दिखाई पड़ता है ।

इस प्रतीकात्मकता का आधार लेकर लिखे गए इन आलोच्य संस्कृत नाटकों में मनोभावों एवं समस्त आन्तरिक प्रक्रियाओं का विशद स्वरूपाङ्कन करने की चेष्टा की गई है । मैंने इन नाटकों का सर्वाङ्गीण अध्ययन प्रस्तुत करने की योजना इस प्रकार बनाई है — प्रथम अध्याय में संस्कृत वाङ्मय में प्रतीक शब्दों का प्रयोग, दूसरे अध्याय में प्रतीक नाटकों का उद्भव, तृतीय अध्याय में प्रतीक नाटकों का साहित्यिक कला की दृष्टि से समीक्षात्मक अध्ययन, पंचम में प्रतीक नाटकों का दार्शनिक सन्देश और षष्ठ में प्रतीक नाटकों का महत्त्व प्रतिपादित किया गया है । अन्तिम अध्याय में विषय

का उपसंहार किया गया है ।

मुझे विश्वास है कि यह अध्ययन प्रतीक नाटकों का पूर्ण रहस्य खोलने में समर्थ न होने पर भी तद्विषयक एक गवेषणात्मक आलोक की सृष्टि अवश्य करेगा जो भावी अनुसंधित्सुओं के हेतु स्वल्प किन्तु सक्षम संबल बनेगा ।

विषयानुक्रमणिका

—: विषयानुक्रमणिका :—

विषय पृष्ठ संख्या

प्रथम अध्याय

संस्कृत वाङ्मय में प्रतीक शब्द का प्रयोग और प्रतीक नाटक

वैदिक संहिताओं में प्रतीक शब्द का प्रयोग—

प्रतीक नाटकों के महत्त्व एवं वैशिष्ट्य का अनुशीलन और प्रतिपादन करने के पूर्व हमें यह देख लेना चाहिए कि संस्कृत वाङ्मय में कितने प्राचीन काल से किन-किन अर्थों में प्रतीक शब्द का प्रयोग होता आया है। संस्कृत वाङ्मय में उपलब्ध भारतीय विद्याओं की प्राय: सभी शाखाओं की प्राचीनतम ज्ञानराशि वेद है, अत: हमें सर्वप्रथम वेदों में प्रयुक्त प्रतीक शब्द के अर्थ पर विचार करना होगा। ऋग्वेद संहिता में इस शब्द का प्रयोग कई स्थलों पर हुआ है। एक स्थल पर "यो दत्रवां उषसो न प्रतीकम्"[1] के रूप में अर्थात् "जो उषा की मूर्ति के समान दानशील हो", इसका प्रयोग हुआ है। इस स्थल पर प्रतीक शब्द का प्रयोग मूर्ति के रूप में हुआ है। दूसरे स्थल पर एक पंक्ति मिलती है --"जीमूतस्येव भवति प्रतीकं यद् वर्मी यति समदामुपस्थे"[2] अर्थात् "बादल के प्रतिरूप में दिखाई देता हुआ कवचधारी युद्ध के बीच जाता है।" इस स्थल पर प्रतीक शब्द का प्रयोग "प्रतिरूप" के अर्थ में हुआ है। तीसरे स्थल पर एक पंक्ति है —"सुसंदृक ते स्वनीकं प्रतीकम्"[3] अर्थात् "हे अग्नि, तुम्हारी सुन्दर ध्वजा वाला प्रतीक (चिह्न) देखने में सुन्दर है।" यहाँ प्रतीक शब्द चिह्न के अर्थ में है।

प्रतीक शब्द का प्रयोग ऋग्वेद संहिता में चौथे स्थल पर "रूप" के अर्थ में किया गया है — यथा "इन्धे राजा समर्यो नमोभिर्यस्य प्रतीकमाहुतं घृतेन"[4]

---

१. ऋग्वेदसंहिता — ६।५०।८

२. वही — ६।७५।१

३. वही — ७।३।३

४. वही — ७।८।१

अर्थात् मैं नमस्कारों द्वारा राजा (वैश्वानर अग्नि) को उसके अनुगामियों सहित प्रज्ज्वलित करता हूं जिस अग्नि का प्रतीक (रूप) घी से सना हुआ है । एक भिन्न स्थल पर " वि सानुना पृथिवी सस्र उर्वी पृथु प्रतीकमध्येधे अग्नि: "[1] आया है जिसका तात्पर्य यह है कि "पृथ्वी के विस्तृत अङ्गों के ऊपर अग्नि प्रज्ज्वलित होती है।" इस स्थल पर प्रतीक शब्द का अर्थ अंग है । इसी पंक्ति का भाष्य करते हुए सायणाचार्य ने लिखा है — " तथाग्नि: पृथु विस्तीर्ण प्रतीकं पृथिव्या अवयवम् ।"

इसी प्रकार तद्भिन्न कई स्थलों पर क्रमश: मुख[2], शरीर[3] रूप[4] आदि अर्थों में भी प्रतीक शब्द ऋग्वेद में प्रयुक्त हुआ है ।

ब्राह्मण ग्रन्थों में प्रतीक का प्रयोग—

संहिता के बाद ब्राह्मण ग्रन्थों में भी प्रतीक शब्द का प्रयोग कई स्थलों पर हुआ है — शांख्यायन ब्राह्मण में एक स्थल पर "प्रतीक" शब्द "संकेत" या "द्योतक" अर्थ में प्रयुक्त हुआ है— "विभक्तिभि: प्रयाजानुयाजान्यजत्यर्तवो वै प्रयाजानुयाजा ऋतुभ्य एनं तत्समाहरत्यग्र आयाहि वीतयेऽग्निं दूतं वृणीमहेऽग्निनाऽग्नि: समिध्यते ग्निर्वृत्राणि जङ्घनदग्ने: स्तोमं मनामहे गायो मर्त्यो दुव, इत्येता सामृचां प्रतीकानि........ "[5] इस स्थल पर प्रयुक्त प्रतीक शब्द ऋचाओं के प्रतीक अर्थात् संकेत या द्योतक के रूप में प्रयुक्त हुआ है । इसी ब्राह्मण में एक अन्य स्थल पर भी इसी अर्थ में प्रतीक शब्द का प्रयोग हुआ है ।[6]

---

१. ऋग्वेद संहिता — ७।३६।१

२. ऋग्वेद — १०।८८।१९ "यावन्मात्रं उषसो न प्रतीकं, सुपर्ण्यो ३ वसते मातरिश्व:" अर्थात् जब तक वायु उषा के मुख को नहीं ढक लेता" वहां "मुख" अर्थ में ।

३. ऋग्वेद — स आहुतो विरोचतेऽग्निरीकेन्यो गिरा स्रुचा प्रतीकमज्यते — ११।११८। "शरीर" अर्थ में ।

४. ऋग्वेद — १०।११८।८

५. शांख्यायन ब्राह्मण — १।४

६. वही, ७।४

तदनन्तर शतपथ ब्राह्मण में प्रतीक शब्द का प्रयोग तीन स्थलों पर 'मुख', संकेतादि के रूप में मिलता है।[१] कृष्णयजुर्वेद के तैत्तिरीय ब्राह्मण में प्रतीक शब्द का 'प्रतिरूप' के अर्थ में प्रयोग हुआ है।[२] अथर्ववेद के गोपथब्राह्मण में — तानग्निना मुखेनान्ववग्यन्, यदाग्निमनष्टुपसदा प्रतीकानि भवन्ति' — 'प्रतीकानि' शब्द का अङ्गों के अर्थ में प्रयोग हुआ है।[३]

उपनिषदों में प्रतीक—

तदनन्तर बृहदारण्यक उपनिषद् में तीन स्थलों[४] पर मुख एवं संकेत के अर्थ में प्रतीक शब्द का प्रयोग हुआ है। प्रथमाध्याय में पंचम ब्राह्मण के द्वितीय मंत्र में 'सोऽन्नमत्ति प्रतीकेनेति मुखं प्रतीकं मुखेनेत्येतत्' प्रतीक शब्द 'मुख' रूप में प्रयुक्त हुआ है। छान्दोग्योपनिषद् के अध्याय एक के प्रथम मंत्र के भाष्य में प्रतीकोपासना के रूप में प्रतीक शब्द आया है।[५] पारस्कर गृह्य सूत्र[६] में भी प्रतीक शब्द अंग अर्थ अर्थ में आया है।[६]

काव्यों और पुराणों में प्रतीक—

महाभारत, भागवतपुराण, वायुपुराण आदि में भी प्रतीक शब्द इन्हीं अङ्ग, अवयव, रूप इत्यादि अर्थों में प्रयुक्त हुआ है।[७]

---

१. शतपथ ब्राह्मण —'सोऽन्नमत्ति प्रतीकेनेति मुखं प्रतीकं' १४,४,३,७ तथा द्रष्टव्य— १४।६,१,५ एवं १४,४,३,१

२. तैत्तिरीय ब्राह्मण भाग २— 'जीमूतस्येव भवति प्रतीकमित्याह' —३।६।४।३

३. गोपथब्राह्मणोत्तर भाग—२।२।८

४. (अ) 'यो वैतामक्षितिं वेदसोऽन्नमत्ति प्रतीकेन' —१,५,१
   (ब) 'इति ह प्रतीकान्युदाजहार' — ६,२,३

५. छान्दोग्योपनिषद् — 'वाचादिवत्परस्यात्मन: प्रतीकं सम्पद्यते। एवं नामत्वेन-प्रतीकत्वेन परमात्मोपासनसाधनं.........'

६. पारस्करगृह्यसूत्र —३।१६।१

७. मोनियर विलियम्स डिक्शनरी, पृ०६७५ ।

तत्पश्चात् शिशुपाल वध काव्य के अठारहवें सर्ग के ७६ वें श्लोक में भी प्रतीक शब्द का प्रयोग अवयव के ही अर्थ में हुआ है।[१]

प्रतीक शब्द का कोशों में प्रयोग —

इस प्रकार वैदिक संहिता काल से ही प्रचलित इस प्रतीक शब्द के भिन्न भिन्न अर्थों का संग्रह अमर कोश,[२] मेदिनी कोश[३], शब्दरत्नसमन्वय कोश[४], वाचस्पत्यम्,[५] इत्यादि प्राचीन कोशों में किया गया है। इन्ही अर्थों को मोनियर विलियम्स,[६] वामन शिवराम आप्टे[७] आदि अर्वाचीन कोशकारों ने भी स्वीकृत किया है।

प्रतीक शब्द की व्युत्पत्ति—

प्रतीक शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार की जा सकती है — प्रतीयते ज्ञायते वा इति प्रतीकम्। प्रति + इण् + कीकच्, 'अलीकादयश्च' सूत्र से।[८] इस प्रकार

---

१. कीर्णा रेजे साजि भूमि: समन्तादप्राणाद्भि: प्राणभाजां प्रतीकै:
   वह्वारम्भैरर्धसंयोजितैर्वा रूपै: स्रष्टु: सृष्टिकर्मान्तशाला ।

   — शिशुपालबधम् १८।७६

२. अङ्ग प्रतीकोऽवयवोऽपघनोऽथ कलेवरम् ।
   गात्रं वपु: संहननं शरीरं वर्ष्म विग्रह: ।।

   — अमरकोश २।६।७०

३. मेदिनीकोश— अङ्गं गात्रे प्रतीकोपाययो: पुंभुम्नि निवृति ।

४. (अ) अङ्ग दमाभृत्पादपयोरङ्गं चान्तिकगात्रयो: । शब्दरत्नसमन्वय कोश
   प्रतीकोपाययो: पुंसि भूम्नि नीवृति गद्यते ।। — पृ० ५६, का० २
   (ब) प्रतिकूले प्रतीक: स्यात्तथाऽवयवमात्रके । वही — पृ० २०, का० १४

५. वाचस्पत्यम्, षष्ठ भाग, पृ० ४४५७, प्रति + कन् नि० दीर्घ: अवयवे, प्रतिरूपे च

६. संस्कृत इंगलिश डिक्शनरी — मोनियर विलियम्स, पृ० ६७५
   प्रतीक — टर्न्ड आर डायरेक्टेड टू वर्ड्स, एड वर्स, कन्ट्रेरी, रिवर्स्ड शेप, लुक, अपीरेन्स, फेस, लिम्ब, पोर्शन, मेम्बर।

७. संस्कृत इंगलिश डिक्शनरी — वामन शिवराम आप्टे, पृ० ३६०
   प्रतीक — डाइरेक्टेड आर टर्न्ड, टूवर्ड्स, इनवर्टेड, अन फेवरेबुल, कन्ट्रेरी, एडवर्स, एलिम्ब — मेम्बर

८. उणादि प्रकरण — सिद्धान्त कौमुदी ४।६५

जिससे जाना जाय' अथवा ' जो जनावे[१]' वह प्रतीक कहलाता है। इसलिए प्रतीक शब्द अङ्ग अवयव, शरीर, मूर्ति-वाची सिद्ध होता है।

प्रतीक नाटक शब्द की व्याख्या—

'प्रबोधचन्द्रोदय', 'चैतन्यचन्द्रोदय' आदि नाटकों में अमूर्त भावों का मूर्तिकरण या मानवीकरण किया गया है। ये अमूर्त पात्र काम, क्रोध आदि भावनाओं के प्रतीक या द्योतक हैं। भौतिक जगत् में मूर्त रूप में इनकी सत्ता उपलब्ध नहीं होती। अत: इन नाटकों को प्रतीक नाटक कहा गया है। इन नाटकों में इस प्रकार कल्पित मूर्त पात्रों को रङ्गमंच पर लाया गया है और उनके माध्यम से दार्शनिक, धार्मिक अथवा सामाजिक समस्याओं पर प्रकाश डाला गया है। औषध विज्ञान से सम्बन्धित प्रश्नों पर भी कभी कभी इनके माध्यम से विवेचन प्रस्तुत किया गया है। इन नाटकों का सामान्य नाटकों से अलग एक प्रधान वैशिष्ट्य यह है कि सामान्य नाटकों के पात्र भौतिक जगत् के स्त्री पुरुष आदि अथवा जगत् के देवी-देवता आदि होते हैं जबकि इन नाटकों के पात्र अमूर्त, ऐतिहासिक एवं पौराणिक, मानवीय भावनाएं भी होती हैं। रसाभिव्यंजना के हेतु ये भावनाएं मानवपात्रों की भूमिका में प्रस्तुत की जाती हैं।

अब प्रश्न उठता है कि भावनाओं को रङ्गमंच पर लाने में इस रसाभिव्यंजना के अतिरिक्त और कौन-सा प्रयोजन हो सकता है— (१) मानव-रूप में पात्रों का चित्रण करने से विषय-बोध में सहृदय को सुविधा होती है। (२) साथ ही दुरूह अमूर्तता के हट जाने से गूढ़ दार्शनिक तत्त्व-बोध में एक विशेष चमत्कार आ जाता है। (३) अमूर्त के मूर्तिकरण में काव्य की एक नवीन विधा का भी एक अद्भुत आकर्षण है।

मूर्तत्व की ओर नाटक रचना की यह अभिरुचि इन नाटकों को नाटक की अन्य विधाओं से पृथक निस्सन्देह एक अद्भुत वैशिष्ट्य प्रदान करती है। तथापि नाटक के रचनाप्रकार में अन्य नाटकों से इसमें कोई अन्य भेद नहीं आता। कदाचित् इसीलिए प्राचीन शास्त्रीय ग्रन्थों में इस प्रकार के नाटकों का भिन्न रूप में वर्गीकरण

नहीं किया गया । न ही इनके लिए कोई अन्य शास्त्रीय पारिभाषिक (टैक्निकल) नाम दिया गया है । फलतः `अमूर्त के मूर्तत्व `पर मूलतः आधारित इस प्रकार की रचनाओं का मूर्तिवाचक प्रतीक शब्द के द्वारा नामकरण किया जाना सर्वथा समीचीन प्रतीत होता है । आचार्य प्रवर श्री पं० बलदेव उपाध्याय ने भी इन नाटकों को प्रतीक नाटक की ही संज्ञा प्रदान की है ।[१] अन्य अनेक विद्वान् भी इनको प्रतीक नाटक ही कहते हैं ।[२]

इन्हीं प्रतीक नाटकों को अंग्रेजी भाषा में (एलागोरिकिल ड्रामाज़) कहते हैं । ` एलिगरी ` शब्द ग्रीक एलो (allo) तथा एगोरियन (agoreuein) दो शब्दों से मिलकर बनता है जिसमें एलो का अर्थ कुछ अन्य `तथा एगोरियन का अर्थ `कहना` ( to speak ) होता है अर्थात् `एलिगरी` (Allegory ) का अर्थ हुआ `किसी चीज के बारे में कहना` । इस प्रकार `एलिगरी` शब्द हिन्दी के `अन्योक्ति` शब्द के अधिक समीप है । एनसाइक्लोपैडिया(Encyclopaedia)

---

१. ` संस्कृत साहित्य में एक नये प्रकार के रूपक उपलब्ध होते हैं, जिसमें श्रद्धा, भक्ति आदि अमूर्त पदार्थों को नाटकीय पात्र बनाया गया है । कहीं तो केवल अमूर्त पदार्थों की मूर्त कल्पना उपलब्ध होती है और कहीं पर मूर्त, अमूर्त का मिश्रण है । साधारण नाटक के लक्षण से इसमें किसी प्रकार पार्थक्य नहीं मिलता । इसलिए नाट्य के लक्षणकर्त्ताओं ने इसका पृथक् वर्गीकरण नहीं किया । यह इस प्रकार के नाटकों को हमने प्रतीक नाटक कहा है ।`

— संस्कृत साहित्य का इतिहास
बलदेव उपाध्याय, पृ० ६१५ ।

२. हिन्दी नाटक का उद्भव और विकास — डा० दशरथ ओझा —
डा० ओझा ने ऐसे नाटकों को प्रतीकात्मक या भावात्मक नाटक स्वीकार किया है ।

'एलिगरी' शब्द का अर्थ स्पष्ट है —

1. Allegory:- " A figurative representation conveying a meaning other than and in addition to literal."[1]

2. Allegory:- (from Greek allo, something else, and agoreuein, to speak) a figurative representation in which the signs (words or form) signify something besides their literal or direct meaning, each meaning being complete in itself."[2]

इस allegorical शब्द का ~~पौरस्त्य~~ प्रयोग इन नाटकों के लिए यद्यपि प्रायः सभी पाश्चात्य और पौरस्त्य विद्वानों ने किया है, तथापि ऊपर दिए गए allegory शब्द के प्रचलित अर्थों के विवेचन से यह तर्क स्वभावतः उठता है कि allegories में तो अन्य अर्थ ही अभीष्ट अथवा अधिक प्रिय होता है, वाच्यार्थ उसमें प्रधान नहीं रहता। यह स्थिति संस्कृत के अप्रस्तुत-प्रशंसा इत्यादि अलंकारों में और हिन्दी के अन्योक्ति अलंकार में ही देखने को मिलती है। इसलिए इन नाटकों को allegory नाम देना बहुत तर्क संगत नहीं प्रतीत होता।

एक अन्य पारिभाषिक शब्द 'मौरालिटी' है। इस नाट्य रूप में 'मौरालिटी' शब्द के प्रयोग के बारे में चर्चा करते हुए कोशकार कहता है कि —

(Morality drama is) akind of drama which grow out of mysteries and miracle-plays and continued in fashion till Elizabeth's time, in which ~~the~~ allegorical representations of virtues and vices were introduced as dramatis personae.[3]

मौरालिटी का अर्थ यहाँ इस प्रकार दिया गया है :
" Quality of being moral अथवा the practice of moral duties apart from religion."

इस विशेष नाट्य को 'मौरालिटी' शब्द से अभिहित करने का विशेष प्रयोजन हो

---

१. चैम्बर्स डिक्शनरी

1. Encyclopaedia Britanica, Vol.I, Page 645
2. The Encyclopaedia Americana, Vol.I Page
3. The Chamber's Dictionary.

सकता है ।

शैल्डान चेनी ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ रंगमंच में मौरालिटी नाटकों का विशद वर्णन करते हुए कहा है – ` जिस समय यह मानवीय स्वर चमत्कार नाटकों में आने लगा था – एलिज़ाबेथीय नाटककारों ने बाद में इस स्वर को अपनाना शुरू कर दिया था – `मौरालिटी` नाटकों में एक बिल्कुल दूसरे प्रकार का विकास होने लगा था । इङ्गलैण्ड में ही इस नाट्यरूप को पूर्णरूप से विकसित और प्रफुल्लित होने का अवसर मिला । सन् १४०५ ई० में अभिनीत ` कैस्टेल आव पर्सीवेरैंस` इसका सर्वोत्कृष्ट उदाहरण है । नाटक के क्षेत्र में `मौरालिटी` का वही स्थान है जो काव्य में `एलीगोरी` का है । इसमें पात्र मानवगुणों का प्रतिनिधित्व करते हैं । कथानक अथवा संघर्ष का आधार मनुष्य के सद् और असद्गुणों के या मनुष्य के लिए पाप और पुण्य के बीच का द्वन्द्व होता है – यद्यपि ऐसे कथानक में नाटकीयता के गुण बहुत कम होते हैं । इसके दो उदाहरण अवशिष्ट हैं ,वे एक को छोड़कर हमें चमत्कार नाटकों से कम रुचिकर लगते हैं क्योंकि आदि से अन्त तक ये निरन्तर अनुदेशिक होते हैं । यदि इनमें प्राचीन नाटकों के दो पात्रों, शैतान और पाप, का समावेश न होता तो हमें ये `नैतिकतापरक` नाटक असह्य लगते ।

` आधुनिक सामाजिक घटनाओं पर आधारित विश्रृंखलित नाटकों के अभिनेताओं की भांति ही, पाप निरन्तर शैतान को छेड़ता रहता है । इस प्रकार वह धीरे-धीरे बढ़ती क्रियाशीलता को गति देता है और नाटक के वायवी पात्रों की अस्पष्टता और धुंधलेपन के अभिशाप को मिटाता रहता है । निश्चय ही अपनी नैतिक प्रकृति के कारण हम उस समय ताली बजाकर हर्ष प्रकट करते हैं जब पुण्य की विजय होती है , जब सुबुद्धि, गम्भीरता,उदारता, विनयशीलता अपनी ओर मनुष्य को आकृष्ट करती है , हम उस समय भी हर्ष प्रकट करते हैं जब मूर्खता, पेटूपन, दम्भ, कामुकता और ईर्ष्या का पतन होता है । सभी पात्र बिल्कुल वायवी हों ऐसी बात नहीं है । बुरी आदतें, कल्पनाशीलता, मानव, नेक, सलाह, दुर्भाग्य , बुरा नतीजा, उदर शूल, जलोदर, दवा की गोलियां, यहां तक कि प्रात: भोज, नैश भोजन, और सम्भोज जैसे पात्र भी इन अभिनयों में होते थे । निश्चय ही इन

नाटकों में ऐसे पात्रों की भी रचना होती थी जो पात्र विचार-परक न अधिकाधिक मात्रा में मानवचरित्रपरक होते थे। ये थे ढोंग,कपट, भद्रता और गप जैसे पात्र । व्यंग्य सुखान्त नाटकों और पात्र-प्रधान सुखान्त नाटकों का वास्तविक प्रारम्भ यहीं से होता है।

`एवरीमैन` उन नाटकों में एक ऐसा अपवाद है जिसे देखने के बाद मोरालिटी नाटकों को `विभिन्न वस्तुओं का कौतुकालय से अधिक नहीं` कह कर निन्दा करने के पहिले एक बार रुक जाना पड़ेगा। ऐसा इसलिए कि यहां नैतिक शिक्षा और उपदेश का सामंजस्य , भ्रातृत्व, सत्कार्य, मृत्यु तथा इसी प्रकार के अन्य पात्रों के साथ कर दिया गया है और `एवरीमैन` की आत्मा में जो निरन्तर संघर्ष होता रहता है, उसमें हमें एक नाटकीय आकर्षण-विकर्षण दिखाई देता है। सोलहवीं शताब्दी में इस प्रकार के नाटकों के प्रति लोगों के मन में एक विशेष आकर्षण था उसके अनेक शुरू के छपे संस्करण प्राप्त होते हैं। डच भाषा में उसका एक अनुवाद भी मिलता है (या जैसा कि कुछ लोग विश्वास करते हैं, डच भाषा का यहीं मूलग्रन्थ है, जिससे अंग्रेजी संस्करण तैयार किए गए थे। हमारे युग में इस नाटक को एक नवीन प्रसिद्धि प्राप्त हो गयी है। अंग्रेजी और जर्मन भाषाओं में इसका उत्तमकोटि का अवतरण हुआ।[१])

वस्तुत: अंग्रेजी और संस्कृत के एक-से लगने वाले इन प्रतीक शैली के नाटकों को जो Morality और Allegory दो भिन्न संज्ञाएं प्रदान की गयीं वह दो अलग-अलग वैचारिक वैभिन्य की सूचक हैं। MoralityPlays के समर्थकों का ध्यान अवश्य ही नाटक के उद्देश्य पर रहा होगा और इसमें संदेह नहीं कि इन नाटकों में नैतिकता की प्रतिष्ठा की गई है लेकिन संस्कृत के प्रतीक नाटकों को जिन विद्वानों ने Allegory कहा उनकी दृष्टि मुख्यत: नाटक की रूपरेखा पर थी, उनके ढांचे पर थी। इन नाटकों में अमूर्त भावनाओं को जि स नाटकीयता के साथ रंगमंच पर प्रस्तुत किया जाता है उसे ध्यान में रखते हुए इन्हें

---

१ शैल्डानचैनी रंगमंच, अनुवादक श्रीकृष्णादास, पृ० २१०-२१३

Allegorical Dramas कहना ही अधिक समीचीन लगता है। वस्तुत: अंग्रेजीके Morality Play को भी उनके ढांचे और उनकी प्रकृति के अनुसार संज्ञायित किया जाय (जो उद्देश्य के अनुसार संज्ञायित करने से भिन्न होगा) तो इन्हें भी Allegorical Dramas ही कहना उचित होगा। पाश्चात्य विद्वानों ने नाट्य के इस विशिष्ट रूप की ओर ध्यान नहीं दिया वरन् इन नाटकों के संदेश को ध्यान में रख कर ही इनका नाम Morality Play रख दिया। प्रचलन के आधार पर संज्ञा बनी हुई है। नामकरण में प्रचलन सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण प्रमाण हुआ करता है क्योंकि 'योगाद् रूढ़िर्बलीयसी' सर्व स्वीकृत तथ्य है।

यहीं एक बहुचर्चित शब्द 'रूपक' पर भी विचार कर लें। हम जानते हैं कि सामान्यरूप से संस्कृत में 'रूपक' शब्द का प्रयोग दो अर्थों में होता आया है। एक नाट्य रूप में और दूसरा अलंकार रूप (रूपकालंकार) में। अवस्थानुकरण को ही नाट्य कहा जाता है, इसीको नाट्य रूप तथा आरोप होने के कारण यही नाट्यरूप रूपक भी कहलाता है।[१] रूपकालंकार वहां होता है जहां उपमान तथा उपमेय का अभेद आरोपित होता है।[२] तात्पर्य यह कि उपमान तथा उपमेय में अभेद का आरोप ही रूपकअलंकार है। अत्यन्त साम्य के कारण यह अभेदारोप होता है। रूपक में उपमान और उपमेय दोनों की समान सत्ता रहती है। उनकी तद्रूपता में ही पृथकता का स्पष्ट आभास होता है। परन्तु इन दो रूपों में 'रूपक' के प्रयोग के अतिरिक्त कुछ लोगों के द्वारा रूपक शब्द का प्रयोग तीसरे अर्थ में भी किया गया है।[३]

---

१. अवस्थानुकृतिर्नाट्यं रूपं दृश्यतयोच्यते
रूपकं तत्समारोपात् दशधैव रसाश्रयम्
— दशरूपक, प्रथम प्रकाश, कारिका — ७

२. तद्रूपकमभेदो य उपमानोपमेययो: —
— काव्यप्रकाश, दशम उल्लास, पृ० ५६३

३. प्रबोधचन्द्रोदय और उसकी हिन्दी परम्परा
— डा० सरोज अग्रवाल, पृ० ३१–३२

नागोजी भट्ट ने अध्यवसान पद का अर्थ स्पष्ट करते हुए लिखा है :·

`स्वासाधारणधर्मेणानुपादानादनाहार्यभेदधीरिति`[१] इन सभी स्थलों पर ध्यान देने से यह बात निर्णीत हो जाती है कि अन्य पदार्थों में किसी अन्य का निश्चय होना या दो पदार्थों में अभेद का निश्चय होना ही अध्यवसान कहलाता है। इस विवेचन के आधार पर हम प्रतीक नाटकों को साध्यवसान नहीं कह सकते क्योंकि :—

(१) इन नाटकों के पात्र किसी अन्य पदार्थ का अध्यवसान नहीं कराते। क्रोध, लोभ , आदि क्रोधभिन्न या लोभभिन्न किसी सत्ता का निगरण करके प्रस्तुत नहीं किए जाते ।

(२) ये पात्र वस्तुत: अपने ही अमूर्त व्यक्तित्व का निश्चय कराते हैं ।

(३) अपना निश्चय कराना अध्यवसान का लक्ष्य या उदाहार्य नहीं हो सकता। यह तो बोधमात्र की स्थिति है।

(४) जब यहां पर दो पदार्थ एक रूप में अध्यवसित नहीं होते तो इन नाटकों को साध्यवसान कहना उचित नहीं प्रतीत होता।

कुछ लोगों ने इन नाटकों को `आध्यात्मिक नाटक`[१] नाम से अभिहित किया है। यह नाम पात्रों की अभिव्यक्ति के प्रकार पर आधारित नहीं

---

१. `यतिराजविजयनाटकम्`

— प्रस्तावना, पृ० २

तिरुमाला—तिरुपति देवस्थानं तिरुपति से रत्नदीपिका व्याख्या-सहित, १९५६ में प्रकाशित `यतिराजविजयनाटकम्` की प्रस्तावना में ऐसे नाटकों को आध्यात्मिक नाटक कहा गया है ।

है। प्रत्युत् पात्रों के चयन के आधार पर आधारित है। अनेक नाटकों का नाम उनके नायकों के आधार पर ही रक्खा गया है परन्तु क्या ऐसा करना उचित अथवा तर्कसङ्गत था ?

(१) इन नाटकों का वैशिष्ट्य या सामान्य संस्कृत नाटकों से इनका भेद नाट्यवस्तु के विषय में नहीं है क्योंकि कथानक का प्रवाह इनमें भी वैसा ही है। कोई राजा होता है, उसके मन्त्री होते हैं, किसी विषय पर विरोधी नायक से उसका संघर्ष होता है और फिर अनेक संघर्षों के बाद नायक की विजय होती है।

(२) वस्तुत: इन नाटकों का वैशिष्ट्य इनके पात्रों का चयन है। ये पात्र अधिकांशत: अमूर्त होते हैं। नाटक के माध्यम से उन्हें मूर्त किया जाता है।

(३) किसी वस्तु का नामकरण या उसका लक्षण उसके असाधारण अर्थात् विशिष्ट धर्म के आधार पर निश्चित किया जाता है। इसलिए इन नाटकों का नामकरण इस पात्र-चयन की विशिष्ट प्रणाली के प्रकाशन के रूप में होना चाहिए।

(४) यदि वस्तु के आधार पर भी नामकरण किया जाय तो भी इन्हें आध्यात्मिक नाटक नहीं कहा जा सकता। क्योंकि इनका विषय केवल आध्यात्मिक है ऐसी बात नहीं है। `जीवानन्दनम्` एवं `अमृततोदयम्` इत्यादि प्रतीक नाटक भेषजशास्त्र और दर्शनशास्त्र का विषय लेकर चलते हैं। इस दृष्टि से उन्हें हम आध्यात्मिक कैसे कह सकते हैं ? इस प्रकार से तो इन नाटकों को आध्यात्मिक कहने में अव्याप्ति दोष अपरिहार्य है।

इन सभी अशेष-विशेषों का विधिवत् परीक्षण करने पर हम इस निर्णय पर पहुंचते हैं कि इन नाटकों को `प्रतीक नाटक` (अंग्रेजी में Allegorical Dramas) ही कहा जा सकता है। `रूपक नाटक` या

'साध्यवसान नाटक' इत्यादि नाम इसके लिए अनुपयुक्त है ।

प्रतीक नाटकों की सामान्य विशेषताएं—

प्रतीक नाटक अन्य सामान्य नाटकों से न केवल कथ्य, शिल्प और उद्देश्य में वरन् वातावरण में भी बिल्कुल भिन्न दिखाई पड़ते हैं । वस्तुत: यह वातावरण का अन्तर ही सबसे बड़ा अन्तर है । देश-काल का महत्त्व अन्य कला-कृतियों में हो या न हो, किन्तु नाटक में इसके महत्त्व को इनकार नहीं किया जा सकता । नाटक रङ्गमंच की दृष्टि से लिखा जाता है और दर्शकों के सामने उसके प्रस्तुतीकरण में केवल अभिनेता या सामग्रियां ही पर्याप्त नहीं है । दर्शकों में नाटक के भावों को जताने के लिए (दर्शकों में रसानुभूति कराने के लिए) यह अनिवार्य है कि अभिनेता को रङ्गमंच पर उसके देश-काल के साथ प्रस्तुत किया जाय । अभिनेता जब अपने सम्पूर्ण वातावरण के परिप्रेक्ष्य में रङ्गमंच पर प्रस्तुत किया जायगा तब कोई कारण नहीं है कि दर्शकों में नाटक के मन्तव्य के अनुरूप भाव जाग्रत न हों ।

वैशिष्ट्य की दृष्टि से प्रतीक नाटकों पर विचार किया जाय तो सहसा यह लगेगा कि सामान्य नाटकों की अपेक्षा इन प्रतीक नाटकों में कथन की शैली और वस्तुतत्त्व की परिकल्पना में पर्याप्त भिन्नता है । वस्तुतत्त्व को बौद्धिक धरातल पर विश्लेषित करने और व्याख्यायित करने का महत्त्व-पूर्ण प्रयास इन प्रतीक नाटककारों ने ही किया । इस दृष्टि से आज की वैज्ञानिक भाषा में ये तथाकथित प्रतीकनाटककार पहले बुद्धिवादी रचनाकार हैं । इन नाटकों में बुद्धि तत्त्व ही प्रधान है, भावतत्त्व नहीं । किसी दार्शनिकगुत्थी को काव्यात्मक रचना के माध्यम से प्रस्तुत करना इसी बुद्धि तत्त्व के द्वारा सम्भव हो सका है ।

विषयवस्तु की दृष्टि से प्रतीक नाटक सामान्य नाटकों से भिन्न हैं। सामान्य नाटकों में जहां लौकिक मनुष्य को, उसके राग द्वेष को और उसके स्थूल क्रिया-कलापों को अभिव्यक्त कराया जाता है, वहां प्रतीक नाटकों में मनुष्य के अमूर्त भावों को मूर्तस्वरूप प्रदान करके उनमें समस्त मानवीय गुणों का संविधान किया गया है। इसी प्रकार सामान्य नाटकों में जहां लौकिक मनुष्यों की प्रेमगाथाओं, उनके संघर्षों और उनके अलग-अलग मनोरागों को अभिव्यक्ति का विषय बनाया जाता है वहां प्रतीक नाटकों में आध्यात्मिक स्तर पर अमूर्त मनोभावों को ही रक्त-मांसधारी भौतिक मनुष्य का स्वरूप प्रदान कर दिया गया है। रोचकता की दृष्टि से नीरस एवं शुष्क , पर पाण्डित्यपूर्ण दार्शनिक सिद्धान्तों की अभिव्यक्ति इन नाटकों को दुहरा महत्त्व प्रदान करती है। इसीलिए इन नाटकों में एक उच्चस्तरीय, सुसंस्कृत और आभिजात्य गुणसम्पन्न दर्शकवर्ग की आवश्यकता होती है।

चरित्र-चित्रण की दृष्टि से प्रतीक नाटकों की विशिष्टता इस अर्थ में है कि उनमें अमूर्त भावनाओं को मूर्त पात्रों के रूप में में उपस्थित किया जाता है जबकि सामान्य नाटकों में मूर्त जीवधारी मनुष्य या देवता आदि पात्र बनते हैं। लेकिन ध्यान देने की बात यह है कि इन अमूर्त और अदेह भावनाओं को भी इन नाटकों में ऐसे सामर्थ्य के साथ रखा गया है कि इनसे स्थूल - वास्तविकता की ही झांकी प्रस्तुत होती है। सचमुच ये चरित्र वास्तविक मानव की तरह चलते- फिरते से नज़र आते हैं। इनका आपसी व्यवहार भी मानवीय दौर्बल्य तथा मानवीय सक्षमता का पद - पद पर दर्शन होता है। यद्यपि प्रतीक नाटकों के चरित्र सही अर्थ में मानव नहीं होते तो भी उनका विकास नाटककार की सृजनात्मक क्षमता के कारण अस्वाभाविक नहीं लगता। उसमें मान सुलभ स्वाभाविक गुणों की अभिव्यक्ति निश्चय ही होती है इनमें से कुछ नाटकों में चरित्र-चित्रण की यह स्वाभाविकता सर्वत्र तो नहीं पर कहीं-कहीं अत्यन्त सजीव हो उठी है। यहां सहसा यह विश्वास करने को मन नहीं चाहता

कि ये चरित्र किसी दर्शन के सिद्धान्तों की कठपुतली मात्र हैं। उनमें मानवीय व्यापारों का प्रारूप सही-सही देखा जा सकता है। यह भी द्रष्टव्य है कि इन नाटकों के उनके चरित्र केवल दर्शन के सिद्धान्त भर बने रहते हैं, उनमें जैविक संचेतना का सर्वथा अभाव है।

रस की दृष्टि से प्रतीक नाटक सामान्य नाटकों की अपेक्षा अधिक गम्भीर समस्या के साथ अवतीर्ण हुए हैं। सामान्य नाटक जहाँ अपनी सीमा में शृंगार और वीर को अङ्गी रूप में ग्रहण कर पाते हैं वहाँ प्रतीक नाटक अपनी सीमा में शृङ्गार, वीर, भयानक, करुण सबको समेटते हुए शान्त की व्यंजना में पर्यवसित होते हैं।

मूलत: यह अन्तर विषयगत अन्तर ही है। सामान्य नाटकों में लौकिक जीवन को विषय बनाने के कारण उनमें रागात्मक संवेदनाएं पूर्णत: उभरती हैं। उनमें मनुष्य के आपसी सम्बन्धों का प्रारूप अभिव्यक्त होता है। भाई-भाई का प्यार, स्त्री-पुरुष का प्यार और भाई-बहन का प्यार तथा विरोधियों के घात-प्रतिघातआदि स्थूल निदर्शन हैं जो बरबस सहृदय पाठकों के हृदय में राग-द्वेषादि को जगाते हैं।

इन विश्वजनीन सम्बन्धों की प्रतिकृति इन प्रतीक नाटकों में अवश्य प्रस्तुत की गई है। तथापि इन नाटकों का मुख्य अभिव्यङ्ग्य ये सम्बन्ध नहीं बन पाते। यहाँ पर शान्त रस का अखण्ड साम्राज्य ही प्रतिष्ठापित होता है। `निर्वेद` अथवा `शम` की परिधि में इनका अन्तर्भाव स्वाभाविक सरलता के साथ इन नाटकों में प्रदर्शित किया गया है। सभी प्रकार के प्रकाशमान् जीवन के आलम्बन यहाँ एक तात्त्विक चेतना के चमत्कार से अभिभूत हो जाते हैं। वैराग्य की गहरी अन्विति सबको शान्त रस की

सिद्धि के प्रति गतिशील बनाती है। और, अन्ततोगत्वा शान्तरस की अभि-व्यक्ति के प्रति सभी भाव अपना-अपना व्यक्तित्व एवं अस्तित्व समर्पित कर देते हैं। इन प्रमुख वैशिष्ट्यों के अतिरिक्त अन्य अनेक छिटपुट विशेषताएं इस प्रकार के नाटकों में दृष्टिगोचर होती हैं जिनका सुविस्तृत निर्वचन चतुर्थ अध्याय में किया जायगा।

द्वितीय अध्याय

प्रतीक नाटकों का उद्भव

द्वितीय अध्याय

वैदिक वाङ्मय में प्रतीकात्मकता —

भारतीय मानस सदा से स्थूल से सूक्ष्म की ओर अधिक उन्मुख होता रहा है। स्थूल बाह्य जगत् की अपेक्षा आन्तरिक भाव सूक्ष्म होते हैं। इस आन्तरिक भाव-जगत् की ओर वैदिक ऋषियों का बहुत अधिक ध्यान रहा है। स्वभावत: इस सूक्ष्म भावात्मक अथवा आन्तरिक भाव-राशि का वर्णन अथवा चित्रण एक विशाल पैमाने पर वैदिक काल से ही किया जाता रहा है। किन्तु इन वर्णनों की बोधगम्यता उतनी सरल नहीं है जितनी कि उस विषय के प्रति आकर्षण और उन्मुखता। कारण स्पष्ट है। यह आभ्यान्तर अथवा आध्यात्मिक जगत् अत्यन्त सूक्ष्म है। इसीलिए इन चित्रणों को अधिक बोधगम्य और प्रभावशाली बनाने के लिए इनका वैयक्तीकरण करने और इन अमूर्त तत्त्वों को मूर्तत्व प्रदान करने की प्रेरणा वैदिक ऋषियों को हुई होगी।

ऋग्वेद संहिता की देव-कल्पना में प्रकृति की अमूर्त्त शक्तियों को मूर्त-रूप में वर्णित करने की चेष्टा की गयी है। उदाहरणस्वरूप शक्ति अधिष्ठातृ-देवता[1] इन्द्र का वर्णन देखा जा सकता है। इसी प्रकार 'वाक्सूक्त'[2] अमूर्त-

---

1. इन्द्र को 'शचीपति' अर्थात् 'शक्ति का स्वामी' कहा गया है। परवर्ती कालमें शची की कल्पना इन्द्र की पत्नी के रूप में कर ली गयी। परन्तु ऋग्वेद संहिता में 'शची' शब्द बहुवचन में भी आया है, जैसे- शचीभि: (१-३०, १५ : १,६२,१२ इत्यादि) जिससे इसका 'शक्ति' अर्थ समर्थित होता है।

2. १०।१२५

वाक् मूर्त रूप में अपना परिचय दे रही है। अमूर्त तत्त्वों को मूर्त स्वरूप देने की यह प्रारम्भिक विधा रूपकालङ्कार की स्थिति में वर्णन करना या अमूर्त का किसी मूर्त पदार्थ से अभेदात्मक चित्रण करना भी है। इस आरम्भिक विधा का प्रयोग ऋग्वेद के सातवें मण्डल में आये हुए इस मन्त्र में स्पष्टरूप से किया गया है —

उलूकं यातुं शुशुलूकयातुंजहि श्वयातुमुतकोकयातुम् ।
सुपर्णयातुमुत गृध्रयातुं दृषदेव प्रमृण रक्ष इन्द्र ।।

अमूर्त अज्ञान, क्रोध, मात्सर्य, काम, अहंकार और लोभ इनको इस मं में क्रमश: उलूक, भेड़िया, कुत्ता, चिड़ा (पक्षी विशेष), गरुड़ और गृध्र से अभिन्न रूप में किया गया है।[१]

सामवेद में श्रद्धा को माता से अभिन्न रूप में चित्रण किया गया है —

पितायत्कश्यपस्याग्नि: श्रद्धा माता मनु: कवि: ।[२]

यजुर्वेद में भी मन की अनेक शक्तियों का वर्णन मूर्त व्यक्ति के रूप में किया गया है —

सुषारथिरश्वानिव यन्मनुष्यान्नेनीयतेऽभीशुभिर्वाजिनइव ।
हृत्प्रतिष्ठं यदजिरं यविष्ठं तन्मेमन: शिवसंकल्पमस्तु ।।[३]

कृष्णयजुर्वेद में इन्द्रियों का सम्भाषण देखने को मिलता है —

---

१. ऋग्वेदसंहिता —७।१०४।२२

२. सामवेद पूर्वार्चिक, आग्नेयकाण्ड,प्रथम प्रपाठक, नवम खण्ड का दसवां मन्त्र

३. यजुर्वेद, अध्याय ३४, मन्त्र ६।

अहं भद्रकारं वाक्यं मनश्चातीयेताम् अहं देवेभ्यो हव्यं वहामीति वागब्रवीत् , अहं देवेभ्य इति मनः । तौ प्रजापतिं प्रश्नमैताम् । सोऽब्रवीत् प्रजापतिर्दूतीरेव तद्भटः तुभ्यम् । न वाचा जुह्वन्नित्यब्रवीत् । तस्मान्मनसा प्रजापतये जुह्वति ' इति ।[1]

संहिताओं में इस प्रकार के अनेक मन्त्र भरे पड़े हैं किन्तु फिर भी इनमें सादृश्य अथवा अभेद के माध्यम से ही अमूर्त का मूर्तरूप में वर्णन हुआ है । अमूर्त का मूर्तरूप में साक्षात् वर्णन इसके बाद प्रारम्भ होता है । यह शैली ब्राह्मण ग्रन्थों, उपनिषदों और निरुक्ति आदि में पनपती है । शतपथ ब्राह्मण में श्रद्धा और इड़ा मूर्त स्त्रियों के रूप में वर्णित हुई हैं — श्रद्धा देवो वै मनुः ।[2]

बृहदारण्यकोपनिषद् में यह कथा मिलती है[3]— ' ते हेमे प्राणा प्राणा अहंश्रेयसे विवदमाना ब्रह्म जग्मुः । तद्धोचुः को नो वसिष्ठ इति । तद्धो-वाच । यस्मिन् व उत्क्रान्त इदं शरीरं पापीयो मन्यते , स वो वसिष्ठ इति'

वाग्घोच्चक्राम, सा संवत्सरं प्रोष्यागत्योवाच । कथमशकत मदृते जीवितुमिति । ते होचुः यथा कला, अवदन्तो वाचा, प्राणन्तः प्राणेन, पश्यन्तश्चक्षुषा , शृण्वन्तः श्रोत्रेण , विद्वांसो मनसा, प्रजायमाना रेतसैव-मजीविष्मेति । प्रविवेश ह वाक् ।।

चक्षुर्होच्चक्राम ------------------- इत्यादि ।

---

१. कृष्णयजुर्वेद (१६.५ , ११-४)
२. शतपथ ब्राह्मण - काण्ड प्रथम, अध्याय ८
३. बृहदारण्यकोपनिषद् - षष्ठ अध्याय, प्रथम ब्राह्मण , मन्त्र ७ से १४ तक ।

इसी प्रकार छान्दोग्योपनिषद् अध्याय ५, खण्ड १ में इन्द्रियों का विवाद वर्णित है[1] —

अथ ह प्राणा अहं ँ श्रेयसि व्यूदिरेऽहं ँ श्रेयानस्म्यहं ँ श्रेयानस्मीति ।।६।।

< < < <

< < < <

सा ह वागुच्चक्राम सा संवत्सरं --------- प्रविवेश ह वाक्

< < < <

< < < <

मनो हो च्चक्राम तत्संवत्सरं प्रेत्य -------- ह मनः ।।११ ।।

एतरेय उपनिषद् में भूख और प्यास परमात्मा से कहती हैं कि हमारे लिए भी स्थान की व्यवस्था कीजिए —

तम् अशनायापिपासे अब्रूताम् आवाताम् जहाति ।[2]

प्रश्नोपनिषद् में सभी महाभूतों , इन्द्रियों और अन्तःकरण के मध्य परस्पर विवाद होता है —

ते प्रकाश्याभिवदन्ति वयमेतद्बाणमवष्टभ्य विधारयामः । तान्व-

---

१. छान्दोग्योपनिषद् , अध्याय ५, खण्ड १, पृ० ४४७–४५२

२. ऐतरेयोपनिषद् – अध्याय १, खण्ड २

रिष्ठः प्राण उवाच । मा मोहमापद्यथाह्यैवैतत्पंचधाऽऽत्मानं प्रविभज्यैतद्
बाणमवष्टभ्य विधारयामीति तेऽश्रद्धधाना बभूव ।

सोऽभिमानादूर्ध्वमुत्क्रमत इव तस्मिन्नुत्क्रामत्यथेतरे सर्व एवोत्क्रामन्ते
तस्मिं्श्च प्रतिष्ठमाने सर्व ए व प्रतिष्ठन्ते । तद्यथामक्षिका मधुकरराजानमुत्क्रा-
मन्तं सर्वा एवोत्क्रामन्ते तस्मिं्श्च प्रतिष्ठ माने सर्वा एव प्रातिष्ठन्त एवं
वाङ्मनश्चक्षुः श्रोत्रं च ते प्रीताः प्राणः स्तुवन्ति [1] ।।४।।

निरुक्त में दिए हुए मन्त्र ब्राह्मण संहिता के एक उद्धरण में विद्या
ब्राह्मण से बात - चीत करती है — विद्या ह्वै ब्राह्मणं आजगाम । गोपायमा
शेवधिष्टे ।[2]

इन उद्धरणों से प्रकट होता है कि वैदिक वाङ्मय के प्रारम्भ से
ही अमूर्त तत्त्व मूर्त एवं चेतन रूप से व्यवहार करते दिखाए गए हैं । यद्यपि यह
मूर्तीकरण मुख्यतः दिव्य-तत्त्वों का है न कि भाव तत्त्वों का ।

रामायण में प्रतीकात्मकता—

इस प्रतीकीकरण का विकास दिव्य तत्त्वों के मूर्तीकरण से चल
कर भाव तत्त्वों के मूर्तीकरण में स्पष्टता के साथ परिलक्षित किया जा सकता
है । प्रतीक शैली की परम्परा में किंचित् भिन्न रूपों में हमारे आदि कवि ने
भी इस प्रतीक शैली का प्रयोग किया है — ऐसा कुछ विद्वान् मानते हैं ।[3] यद्यपि
रामायण में कहीं भी इस बात का स्पष्ट उल्लेख नहीं है , फिर भी उसकी
रचना शैली पर गम्भीरता से विचार करने पर यह तथ्य आभासित होता है ।

---

१. प्रश्नोपनिषद् — द्वितीय प्रश्न, २,३,४
२. निरुक्त — अध्याय , २ खण्ड ४
३. प्रो० कान्तानाथ शास्त्री तैलंग ।

इसमें प्रतीकात्मकता को संभाल कर रखा गया है। राम, विवेक के प्रतीक हैं तो रावण, मोह का, सीता, विवेक की पत्नी बुद्धि और मन्दोदरी मोह की पत्नी मिथ्यादृष्टि की प्रतीक।

महाभारत में प्रतीकात्मकता—

रामायणाकार के बाद दूसरे प्रयोग कर्ता हैं — श्री महर्षि वेदव्यास। उन्होंने भी अपने महाभारत में प्रतीक शैली का समीचीन प्रयोग प्रस्तुत किया है। महाभारत के आदि पर्व में अमूर्त भाव-तत्त्व मूर्त मानव सम्बन्ध में कल्पित हुए हैं। धर्म की दस पत्नियाँ बतायी गयी हैं, साथ ही तीन पुत्र और तीन पुत्र-बधुएं भी वर्णित की गयी हैं —

कीर्तिर्लक्ष्मी धृतिर्मेधा, पुष्टिश्रद्धा क्रिया तथा ।।
बुद्धिर्लज्जामतिश्चैव पत्न्यो धर्मस्य ता दश ।।
दाराण्येतानि धर्मस्य विहितानि स्वयम्भुवा ।।
त्रयस्तस्य वरा: पुत्रा: सर्वभुत मनोहरा ।
शम: कामश्च हर्षश्च तेजसा लोकधारिणा ।।
कामस्य तु रतिर्भार्या शमस्य प्राप्तिरंगना ।
नन्दा तु भार्या हर्षस्य यासुलोका: प्रतिष्ठिता:[१] ।।

यह वर्णन न केवल अमूर्त का मूर्तीकरण है प्रत्युत् अमूर्त का चेतनीकरण या बहुत कुछ अंशों में उसका मानवीकरण भी है। महाभारतकाल तक में इस वैयक्तीकरण प्रक्रिया में एक स्पष्ट निखार आ गया है। तथापि संवाद इत्यादि

१। महाभारत— ६६— १४,१५
 ।। वही, ६६-३२
 ।।। वही, ६६-३३

के अभाव के कारण इस मूर्तीकरण में सशक्तता एवं नाटकीयता नहीं आई । बौद्ध-साहित्य की ' जातकनिदान ' कथाओं में भी कहीं कहीं इस प्रतीक शैली का प्रयोग देखने को मिलता है । 'जातकनिदान' कथा के ' अविदूरेनिदान' के 'मारविजय' सम्बन्धी आख्यायिका और 'सन्तिकेनिदान' की अजपाल के बाद-वाली आख्यायिका में प्रतीकात्मक शैली का बहुश: उपयोग हुआ है । किन्तु इस काल तक भी संवादात्मक रीति से तथा अनुभूति के माध्यम से किए गए व्यव-हारों का पूर्ण सन्निवेश इन प्रतीक पात्रों के चरित्र में नहीं हो पाया । पात्रों की प्रतीकात्मकता का ढांचा भले ही इन कथाओं तक तैयार हो गया हो किन्तु उन पात्रों के व्यवहार में स्फुट सजीवता नाममात्र को भी नहीं आई , और यह काम या तो ऐसी कथाओं के माध्यम से सम्भव हो सकता था जिनमें नायक या नायिका स्वयं प्रतीक पात्र हो यो गौण रूप में आए हुए इन प्रतीक पात्रों की अवतारणा नाटकों के माध्यम से की गई हो ।

भास के 'बालचरितम्' में प्रतीकात्मकता का आभास —

संस्कृत साहित्य के सर्वप्रथम नाटककार महाकवि भास के बालचरित नामक नाटक में प्रतीकात्मक पात्रों के प्रयोग का आभास मिलता है । इस नाटक की कथावस्तु के अनुसार जब वसुदेव बालक कृष्ण को जमुना के पार ले जाकर नन्द को सौंपते हैं तब उस बालक का भार इतना अधिक हो जाता है कि नन्द उसे आगे लेकर चलने में असमर्थ होते हैं । उस समय कृष्ण के दिव्य अस्त्र तथा वाहन मूर्त मानव रूप में उपस्थित होते हैं । किन्तु ऐसे स्थल पर शुद्ध प्रतीकात्मकता नहीं मानी जा सकती क्योंकि ये दिव्य तत्त्व हैं । अमूर्त भाव तत्त्व अथवा अदृश्य सूक्ष्म तत्त्व नहीं हैं । और दिव्य तत्त्वों की दिव्यता का फल ही यह है कि वे जिस रूप में चाहें— प्रस्तुत हो सकने की क्षमता रखते हैं । कवि कल्पना मात्र से उनमें मूर्तत्त्व नहीं आता । हाँ, इस 'बालचरितम्' के द्वितीय अङ्क[1] में

---

1. 'बालचरितम्' — द्वितीय अङ्क, पृ०३३- ३८ तक ।

अवश्य प्रतीकात्मक प्रयोग की आभा हमें देखने को मिलती है, जबकि शाप तथा राज्यश्री स्वयं पात्र रूप में प्रविष्ट होते हैं। शाप चाण्डाल के भेष में मुण्ड-माला धारण किए हुए कंस के भवन में प्रवेश करना चाहता था है। दरबान मधूक उसे द्वार पर रोकता है। चाण्डालवेषी शाप अपनी नैसर्गिक शक्ति द्वारा उसे पराभूत करके भवन में प्रविष्ट हो जाता है। उसी समय कंस के राज्य-वैभव की प्रतीक राज्यश्री स्त्री-पात्र के रूप में उपस्थित होकर उसे रोकती है। शाप कहता है कि मुझे क्यों रोकती हो, मैं तो विष्णु की अनुमति से ही आया हूं। विष्णु का नाम सुनकर राज्यश्री उसे जाने देती है और स्वयं हट जाती है। चाण्डालरूप में शाप कंस के पास पहुंच जाता है और अपनी दूतियों को सम्बोधित करके कहता है —

अपक्रान्ता राज्यश्रीः। हन्तेदानीमिदमस्माकमावासः संवृत्तः। अलक्ष्मि! खलति! कालरात्रि! महानिद्रे! पिङ्गलाक्षि! अभ्यन्तरं प्रविश्य स्वजातिसदृशी क्रीडा क्रियताम्। < < < <

परिष्वजामि गाढं त्वां नित्याधर्मपरायणम्।
प्राप्नोमि मुनिशापस्त्वामचिरान्नाशमेष्यसि ॥६॥[१]

प्रस्तुत वर्णन में शाप और राज्यश्री आदि अमूर्त तत्त्वों का पात्ररूप में उपस्थित होना प्रतीक शैली का सफल नाटकीय प्रयोग है। विचित्र बात है कि संस्कृत के प्रथम नाटककार के ही नाटक में प्रतीकात्मक शैली के नाटकों का बीज दृष्टिगोचर होने लगता है। किन्तु फिर भी यह बीज, बीज मात्र ही रह जाता है। यह प्रतीकात्मक शैली के नाटकों का प्रस्फुटित रूप नहीं है। तीस-चालीस पात्रों की लम्बी सूची में एक, दो प्रतीक पात्र वह भी गौण पात्र और चार, छ वाक्य मात्र का संवाद करके ही नाटकको प्रतीकात्मक नाटक कहे जाने में समर्थ नहीं बना सकते। फिर भी प्रतीकात्मक पात्रों की कल्पना,

---

१. बालचरितम्, द्वितीय अंक, पृ० ३७

रंगमंच पर उनकी अवतारणा और उनका संवादात्मक भूमिका निभाना प्रतीक नाटकों की परम्परा के उद्भव का मार्ग प्रशस्त तो करता ही है। एक बात और इस प्रसंग में ध्यान देने की है कि शाप और राज्यश्री शुद्ध भावात्मक पात्र न होने पर भी विष्णु के अस्त्रों और वाहन की भांति दिव्य तत्त्व नहीं हैं। इसलिए इनका मूर्तत्व बहुत कुछ अंशों में कवि कल्पना प्रसूत ही है।

'अभिज्ञान शाकुन्तल' में प्रतीकात्मकता का रूप--

नाटक सम्राट कालिदास के नाटकों (अभिज्ञानशाकुन्तलम्, विक्रमोर्वशीयम् एवं मालविकाग्निमित्रम्) में इस प्रकार के भाव तात्त्विक प्रतीक पात्रों का प्रयोग नहीं हुआ है। शाकुन्तलम् के चतुर्थ अङ्क में प्रतीकात्मकता का हलका आभास जरूर मिलता है। जब शकुन्तला की विदायी की तैयारी होती है, उस समय वन-वृक्षों में चन्द्रमा-सदृश-शुभ्र रेशमीवस्त्र , किसी ने लाक्षारस और किसी ने कोमल किसलय रूपी वनदेवी के करतलों के द्वारा आभूषण प्रदान किए हैं --

> क्षौमं केनचिदिन्दुपाण्डुतरुणा माङ्गल्यमाविष्कृतं
> निष्ठ्यूतश्चरणोपभोगसुलभो लाक्षारसः केनचित् ।
> अन्येभ्यो वनदेवताकरतलैरापर्वभागोत्थितै-
> र्दत्तान्याभरणानि तत्किसलयोद्भेदप्रतिद्वन्द्विभिः ।।[१]

प्रियम्वदा के शब्दों में वृक्षों की यह अनुपपत्ति शकुन्तला की भावी राजलक्ष्मी की सूचक है। किन्तु न तो वृक्ष अमूर्त हैं, कि उनका मूर्तीकरण हुआ है और न ही वे कुछ मानवोचित कार्य करते हैं जैसे बोलना , चलना, प्रदान करना

---

१. अभिज्ञानशाकुन्तलम् -- अङ्क ४, श्लोक ५

इत्यादि। वृक्षों से जो चीजें मिलती हैं वे मौके से मिल गयीं। कवि ने इसी को शुभ शकुन समझा और इसी में उसने वनस्पतिकृत सेवा की कल्पना की है। वृक्षों में मानवीकरण नहीं कल्पित किया गया। शकुन्तला के विदा होते समय जब वह वन-वृक्षों से अनुमति लेकर चलना चाहती है तब वन वृक्ष कोकिल के शब्दों में उसे अनुमति देते हैं। उसके पश्चात् आकाशवाणी के रूप में वन-देवियों का भी आशीर्वाद शकुन्तला को मिलता है। कोकिल का बोलना संयोग की बात है और आकाशवाणी दिव्य व्यापार है। इसमें प्रतीकात्मकता बिलकुल नहीं है। शकुन्तला के वियोग में लताओं का पीले पत्ते के रूप में आंसू बहाना भी वनस्पति सुलभ व्यवहार ही है। इस प्रकार हम देखते हैं कि कालिदास के नाटकों में अमूर्तों के मूर्तीकरण या भावतत्वों के मानवीकरण रूप में कोई प्रतीकात्मकता नहीं है।

महाकवि अश्वघोष कृत प्रथम प्रतीक नाटक —

इसके पश्चात् महाकवि अश्वघोष के नाटक दृष्टिपथ में आते ह। अश्वघोष कनिष्क के समकालीन हैं। अत: उनका समय ईसा की प्रथम शताब्दी स्वीकार किया गया है। अश्वघोष महाकवि होने के साथ साथ बौद्ध दार्शनिक भी थे। महायानश्रद्धोपाद, वज्रसूची, गण्डीस्तोत्रगाथा और सूत्रालङ्कार ये उनके दार्शनिक ग्रन्थ हैं। सूत्रालङ्कार के अश्वघोष की कृति होने के सम्बन्ध में प्रोफेसर लूडर्स का मतभेद है। प्रो० लूडर्स इसे कुमारलात की रचना मानते हैं।[१] नैंजो के बौद्धत्रिपिटक के चीनी अनुवाद में अश्वघोष के छः ग्रन्थों का परिगणन किया गया है।[२] डा० राघवन् ने विविधसूत्रानुगतसूत्रों से इनके उन्नीस ग्रन्थ गिनाये हैं।[३] बुद्ध चरित और सौन्दरनन्द अश्वघोष के महाकाव्य

---

१. महाकवि अश्वघोष— डा० हरिदत्तशास्त्री, पृ० ४५

२. वही, पृ० ४५

३. वही, पृ० ४५

हैं। स्वर्गीय सिलवांलेवी के अनुसार अश्वघोष सम्भवत: एक गेय नाटक के भी लेखक हैं जिसमें राष्ट्रपाल की कथा वर्णित है।[१]

सन् १६११ ई० में मध्य एशिया के तुरफान नामक स्थान से अत्यन्त प्राचीनकाल के तालपत्र पर अङ्कित तीन बौद्ध नाटकों की खण्डित पाण्डुलिपियों को एच० लूडर्स महोदय ने खोज निकाला है।[२] इन तीन में से एक का कर्तृत्व तो निश्चित ही है क्योंकि उसके अन्तिम अङ्क की पुष्पिका सुरक्षित है। इसमें लिखा है -

'शारिपुत्रप्रकरणे नवमोऽङ्क:। सुवर्णाक्षी पुत्रस्य भदन्ताश्वघोषस्य कृतिश्शारद्वतीपुत्रप्रकरणं समाप्तम्।'

इस नाटक में शारिपुत्र एवं मौद्गल्यायन की बौद्धधर्म में दीक्षित होने की कथा वर्णित है। इस नाटक में एक पद्य बुद्धचरित से सम्पूर्णत: ग्रहण किया गया है और सूत्रालङ्कार में इस महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ का दो बार निर्देश किया गया है। नाट्यशास्त्र की परिभाषा के अनुसार यह रचना प्रकरण है। भरत-वाक्य के नायक कृत न होने और मृच्छकटिक की भांति अङ्कों का नाम न रखने के अतिरिक्त और हर प्रकार से यह प्रकरण प्राचीन शास्त्रीय प्रकरण नाटक पद्धति के अनुसार ही है।

इस नाटक में कोई अमूर्त पात्र मूर्तरूप में प्रयुक्त नहीं हुआ। अत: यह नाटक प्रतीकनहीं है न तो इसमें प्रतीकात्मकता के लेशमात्र भी किसी अंश में दृष्टिगोचर होता है। कुछ लोगों ने[३] इस नाटक में बुद्धि, कृति, धृति इत्यादि

---

१. महाकवि अश्वघोष - डा० हरिदत्त शास्त्री, पृ० ४५

२. संस्कृत नाटक --ए०बी० कीथ, पृ० ७२

३. (अ) महाकवि अश्वघोष - डा० हरिदत्त शास्त्री, पृ० ६३

(ब) यतिराजविजयनाटकम् — ति०कु०वैं०न० सुदर्शनाचार्य, प्रस्तावना, पृ० ३।

पात्रों का समावेश माना है। किन्तु ग्रन्थ के अध्ययन करने से यह भ्रान्त धारणा सर्वथा निर्मूल तथा निराधार सिद्ध होती है। वास्तविकता यह है कि शारिपुत्र प्रकरण के अतिरिक्त जिन दो नाटकों की खण्डित पाण्डुलिपियां लूडर्स महोदय के द्वारा इसी के साथ उपलब्ध की गयी हैं उनमें से किसी प्रतीकात्मक नाटक का अंश है। और तीसरा मागधवती नाम की गणिका, कुमुदगन्ध नाम का विदूषक और सोमदत्त नायक विषयक एक सामान्य परम्परा का नाटक था। शारिपुत्र और मौद्गल्यायन तथा धनंजय इत्यादि भी इसके पात्र हैं। यह नाटकखण्ड सामान्य नाटक परिपाटी की एक रचना का अंश है, इसमें कोई प्रतीकात्मकता नहीं है।

इस प्रकार से इन तीन नाटकों में से दूसरी वाली रचना जिसके पात्र प्रतीकात्मक हैं — हमारे अध्ययन का अभीष्ट विषय है। यह नाट्यांश बहुत ही संक्षिप्त और केवल एक पन्ने का है। बहुत ही त्रुटित अंश के रूप में लूडर्स महोदय को यह प्राप्त हुआ। यह अंश लूडर्स के BRUCHSTÜCKE BUDDISITS-CHER DRAMEN के छासठवें पृष्ठ पर बर्लिन से १९११ में प्रकाशित हुआ है। इसकी प्रतिलिपि परिशिष्ट संख्या एक में देखी जा सकती है। देवनागरी-लिपि में इसका अक्षुण्ण रूप यह है —

१– –यु भवद्‌निवर्त्तकेषु क्लेशेषु न किंचिद् अस्तिप्रहातव्यं यस्य नित्यम् अनित्यं (—) व (T) न क ( ) च (f) द् अस्त (f) बोद्धव्य (—) — त० म्० य्० न्० च्० प्त् --------------(म्) (य) ऊख्० र० ३ -------------------- (र्) ज्० (य्) स्य्० (ध्०) व्० (स्) त्०

२, ----------- येनावाप्तम् परमममृतम् दुर्लभमृतम् मनोबुद्धिस्तस्मिन्न-ह्मभिरमे शान्तिपरमे — धृति — अस्ति तत् मत्प्रभावपरिगृहीत पुरुषसंज्ञकम् तेज: प्रादुर्भूत (म) .

३. ------------------(द) ा नी ----- कृ० ------- बुद्धि:- तथा तत् अपिच — नित्यं स सुप्त (इ) व यस्य न बुद्धिरस्ति नित्यं स मत्त इव यो धृतिविप्रहीणा ------------------------------ स च य (र) यु० नृ० कृ० .

पृष्ठ भाग

। --------------- ति (ठ्) यस (यु) ा कीर्ति:— क्व पुनरिदानीं पुरुषविग्रहो धर्म: सम्प्रति विहरति—

बुद्धि :— स्वाधीनायामृद्धौ क्व पुनर्न विह ------------------------- ------------ व व्योम्नि याति व्र ----------

२. ------------- स (ह्०) ग्० (सु) तृ० (यु) ----- द-- गाम् प्रविशति बहुधा मूर्तिं विभ (जति) खे वर्षत्यम्बुधोरां प्रविशति बहुधा मूर्तिं विभ (जति) खे वर्षत्यम्बुधोरां ज्वलति च युगपत् सान्ध्यम्बुद इव स्वच्छन्दात् = पर्व -------- (व्) रजति च वि (ध्वि) (दृ) = ध ------------- (मृ) मृ० (͵) = व्० (च)

३. ------------- (ह्०) ----- गोचर: — धृति:— तेन हि सर्व्वां यैव तावदेबं वासवृत्तीकुर्म: हि स महर्षिर्मगधपुरस्योपवने सम्प्रति —— सौण्णर्द्धि (͵) स् = तमिमृदुजालपाणिपा (द)

यह एक पन्ने की प्रति है जिसमें ऊपर नीचे दोनों और लिखा है। जिसमें बुद्धि और धृति परस्पर वार्ता करती हैं। धृति बताती है कि मेरे प्रभाव से युक्त पुरुष संज्ञक तेज उत्पन्न हो गया है। इस थोड़े से अंश में भी बहुत से शब्द और वाक्य पाण्डुलिपि के जीर्ण और गलित होने के कारण लुप्त हो

गए हैं । इसलिए कोई वाक्य ठीक से बन नहीं पाता, फिर भी जोड़-जोड़ कर बिठालने से धृति, बुद्धि, कीर्ति के यत्किंचित कथन स्पष्ट होते हैं । धृति के कथोपरान्त बुद्धि का यह वक्तव्य पढ़ने में आता है — कि फिर भी वह नित्य ही सोया हुआ है जिसके बुद्धि नहीं है और वह नित्य ही मत सदृश है — जो धृति से शून्य है । इसके पश्चात् प्राप्त संलाप में कीर्ति कहती है कि — पुरुषशरीरधारी धर्म इस समय कहां भ्रमण कर रहे हैं । बुद्धि उत्तर देती है कि सब ऋद्धियों और सिद्धियों को स्वाधीन कर लेने पर वह कहां नहीं विचरण कर सकते ? वे पक्षियों की भांति आकाश में भी विचरण करते हैं । आगे कदाचित् उन्हीं सिद्धियों का वर्णन है कि वह पुरुषशरीरधारी धर्म अपने शरीर को नाना रूपों में विभाजित कर देते हैं और अपनी इच्छा से आकाश में जलधारा की वृष्टि करते हैं और सायंकालीक मेघों के समान जाज्वल्यमान भी रहते हैं । इसके आगे त्रुटितांशों के पश्चात् धृति कहती है — तो फिर हम लोग सभी उनको अपने निवास का वृक्ष बनावें अर्थात् उनमें निवास करें (एनं वास-वृक्षीकुर्मः) । वे महर्षि अर्थात् पुरुषशरीरधारी धर्म (कदाचित् भगवान् बुद्ध) मगधपुर के उपवन में इस समय (विराजे हैं) । इसके आगे प्रति पूर्णतः खण्डित है । केवल दो पद मिलते हैं।— 'स ऊर्णभ्रूः' अथवा 'स्वर्णभ्रूः' और 'तमिमृदुजालपाणिपादः' जो कदाचित् उनकी बैठने की मुद्रा के सम्बन्ध में उनके विशेषण हैं ।

यद्यपि समुपलब्ध हुए इस इतने छोटे अंश से न तो नाटक के कथानक के सम्बन्ध में कोई विशेष ज्ञान होता है, न उसमें अभिव्यंजित रस का ही स्फुट सङ्केत होता है, न ता सभी पात्रों से परिचय ही प्राप्त होता है, न नाटक के अन्य किसी भी उपादान के सम्बन्ध में ही कोई जानकारी होती है । फिर भी केवल इन तीन पात्रों (धृति, बुद्धि और कीर्ति) के ज्ञान हो जाने और उनके व्यवहार की अथवा सम्भाषण की प्रणाली से ही यह स्पष्ट सिद्ध हो जाता है कि यह एक प्रतीक नाटक रहा होगा । इसमें अमूर्त भावात्मक

पात्र मूर्तिमान मानव पात्रों की भाँति रंगमंच पर आते हैं। बातचीत करते हैं। और कथानक अपनी नैषर्गिक गति से आगे बढ़ता है। जितना अंश सुलभ है उतने को देखने से यह निश्चित लगता है कि इसमें यथार्थ-पात्र मानव या दिव्य एक भी रंगमंच पर नहीं आते। जिस पुरुषविग्रहधारी धर्म की ओर सङ्केत है वे भले ही मगधपुर के उपवन में निवास करने वाले भगवान् बुद्ध ही क्यों न हों, किन्तु इतने मात्र से यह सिद्ध नहीं होता कि इन तीनों पात्रों का संलाप दिखाया गया होगा। क्योंकि कृति की योजना उनको वास वृक्ष बनाने की है। उनसे बात करने, उपदेश ग्रहण करने की नहीं। वासवृक्ष बनाने का अर्थ उनमें समाविष्ट हो जाने या उनमें निवास करने से है। इस प्रकार यह नाटक शुद्ध रूप में प्रतीकात्मक रहा होगा। क्योंकि इसमें प्रतीक पात्रों से वार्ता करते हुए इसे बढ़ाते हैं।

यह बात भी स्मरणीय है कि कीर्ति, धृति इत्यादि पात्र भास के बालचरित में आए हुए शाप और राज्यश्री की भाँति दिव्य शक्ति या सिद्धि-जन्य प्रभाव के कारण नाना रूप धारण करने वाले नहीं हैं प्रत्युत् केवल कवि की कल्पना से ही नहीं इनमें मूर्तत्व, चेतनत्व और मनुष्यत्व लाया जा सकता है और लाया गया है। इसलिए पूर्ण अंश में यह नाटक खण्ड एक शुद्ध प्रतीक नाटक की सत्ता को सिद्ध एवं व्यक्त करता है। इन कीर्ति, धृति और बुद्धि इत्यादि का स्थान इस नाटक में गौण नहीं रहा होगा। यह बात इनके नाटक के आदि में आने से और संस्कृत बोलने से प्रकट होता है। इस प्र

इस प्रतीक नाटक का कर्तृत्व :—

इस नाटक के कर्तृत्व के विषय में कोई प्रत्यक्ष प्रमाण उपलब्ध नहीं है तथापि परिपुष्ट कल्पना एवं यथार्थ अनुमानों के आधार पर यह निर्णय लिया जा सकता है कि यह अश्वघोष की ही कृति है। इस सम्बन्ध में नीचे लिखे तर्क उपादेय हो सकते हैं।

(१) यह नाटक खण्ड उसी हस्तलेख में पाया जाता है जिसमें अश्वघोष की अन्य प्रमाणित कृति शारिपुत्रप्रकरण प्राप्त होती है।

(२) इस पाण्डुलिपि की सामान्य रूपरेखा वही है जो शारिपुत्र प्रकरण की है।

(३) यह रचना भी भगवान् बुद्ध के गरिमामय व्यक्तित्व के सम्बन्ध में ही हुई है। अत: यह रचना किसी बौद्ध मतावलम्बी की ही हो सकती है।

(४) शारिपुत्रप्रकरण की समसामयिक नाट्य रचना कर सकने वाले किसी अन्य बौद्ध कवि से हम लोग अपरिचित हैं। अत: किसी बाधक प्रमाण के अभाव में इस कृति के रचयिता के रूप में अश्वघोष को मानने में कोई असंगति नहीं प्रतीत होती।

(५) इसमें प्रयुक्त भाषा की सरलता, प्रांजलता, और स्पष्टोक्ति प्रवणता के आधार पर भी यह रचना अश्वघोष कृत नहीं हो सकती, ऐसा नहीं लगता।

(६) भाषा के अतिरिक्त अलंकार योजना की दृष्टि से भी अश्वघोष की अन्य प्रमाणित कृतियों से इस रचना का सादृश्य प्रतीत होता है जैसे कीर्ति, पुरुषविग्रहधारी धर्म अर्थात् गौतमबुद्ध की सिद्धिमत्ता का वर्णन करती हुई कहती है —

'ऐ वर्षन्त्युम्बुधारां ज्वलति च युगपत् सान्ध्यम्बुद इव -

ठीक ऐसा ही चित्रण सौन्दरनन्द के तृतीय अङ्क में आया हुआ है—

' युगपत् ज्वलन् ज्वलनवत् च जलमेवसृजनंश्चमेघवत् तप्तकनक सदृश प्रभया सब भो प्रदीप्त इव सन्ध्या धना।' (३-४)

इस उदाहरण में न केवल वर्णित चित्र का साम्य है वरन् उनके प्रकाश शब्दों का भी साम्य है। 'युगपत् ज्वलन' और ' ज्वलति च युगपत्' का शब्द

साम्य एक निर्भ्रान्ति सा सादृश की धारणा प्रदान करता है।

(७) इस हस्तलेख में जो तीसरा नाटक खण्ड मिलता है वह भी उसी समय की रचना है। किसी बौद्ध कवि की लिखी हुई है। शारिपुत्र तथा मौद्गल्यायन नामक पात्रों के सन्निविष्ट होने के कारण अश्वघोष कृत ही सम्भावित होता है।

(८) इस प्रकार से पाण्डुलिपि में पाई हुई प्रथम और तृतीय रचनाएं अश्वघोष कृत हैं तो यह सम्भावना और अधिक बढ़ जाती है कि यह रचना अश्वघोष की ही होगी। डा० कीथ[१], डा० जान्स्टन[२], प्रो० बलदेव उपाध्याय,[३] प्रो० एस०के० डे[४] इत्यादि विद्वान् भी इस रचना के अश्वघोष कर्तृक होने में विश्वास करते हैं। अत: इसका रचनाकाल अश्वघोष कृत शारिपुत्रप्रकरण के कुछ वर्ष ही इधर या उधर मानना समीचीन प्रतीत होता है।

यदि यह नाटक खण्ड सम्पूर्ण रूप में सुलभ होता तो पता चलता कि यह पूर्ण रूपेण प्रतीक पात्रों के द्वारा ही अभिनीयमान नाटक था जैसे कि आगे चलकर प्रबोधचन्द्रोदय, संकल्पसूर्योदय इत्यादि देखने को मिलते हैं अथवा यह भास के `बालचरित` की ही भांति केवल एक आध अंश में प्रतीकात्मक है। अनुमान तो यही होता है कि यह पूर्ण रूप से प्रतीकात्मक नाटक रहा होगा क्योंकि इस अंश में बुद्ध का परिचय प्राप्त होता है जो कि प्राय: यही सिद्ध करता है कि यह नाटक का प्रारम्भिक अंश है। और प्रारम्भिक अंश में आए हुए प्रतीक पात्र निश्चय ही गौण न होकर मुख्य पात्र होंगे। आगे चलकर ये पात्र बुद्ध से मिलने

---

१. संस्कृत ड्रामा — कीथ, पृ० २३०
२. बुद्धचरित का अंग्रेजी अनुवाद — भूमिका २०—२१
३. संस्कृत साहित्य का इतिहास— बलदेव उपाध्याय, पृ० २०५
४. हिस्ट्री आफ संस्कृत लिटरेचर — एस०के०डे०, पृ०७७

के लिए कृतप्रतिज्ञ हैं। इस प्रकार अमूर्त और मूर्त, कल्पित एवं यथार्थ पात्रों का संवाद यदि होता भी है तो उससे यह नहीं कहा जा सकता कि इससे नाटक की प्रतीकात्मकता उसके बाद समाप्त हो जाती है। चैतन्यचन्द्रोदय इत्यादि इसके उदाहरण हैं। यह नाटक पूर्णतः प्रतीकात्मक होगा, ऐसा प्रायः अनेक विद्वानों ने स्वीकार किया है।[१] यदि यह पूरा नाटक प्रतीकात्मक न भी रहा हो तो भी कोई अन्तर इस बात में नहीं आता कि यह नाटक शुद्ध प्रतीक प्रयोगों का सफल सूत्रपात करता है।

यों तो भास के बालचरित में ही प्रतीकात्मकता का सुन्दर विनियोग हुआ है - तथापि उसमें यह प्रधान न होकर गौण रूप में गृहीत है। नाटक की कथावस्तु का नायकत्व शाप, राज्यश्री आदि में नहीं है। शापकृत प्रभाव के मूर्तरूप का अभिनेय स्वरूप मात्र उसमें प्रदर्शित है। अतः बालचरित प्रतीक नाटक न होकर सामान्य शैली का नायक कृष्ण के चरित का नाटकीय अङ्कन है। रस आदि की दृष्टि से भी प्रतीक नाटकों के अग्रणी होने का श्रेय बालचरित को कभी नहीं मिल सकता। बालचरित वीर रस प्रधान नाटक है जबकि परवर्ती सभी प्रतीक नाटक शान्त रस प्रधान नाटक हैं। बालचरित की कथावस्तु प्रख्यातवृत्त है। जबकि प्रतीक नाटकों की कथावस्तु पूर्णतः कल्पित एवं निजन्धरी होती है।

नाटक तीनों उपादानों वस्तु, नेता और रस की दृष्टि से विचार करने पर स्पष्ट होता है कि बालचरित प्रतीक नाटकों का न तो आदर्श रहा है और न सूत्रपातिक बिन्दु। हाँ अश्वघोष का यह नाटक अवश्य ही

---

१. (अ) बलदेवउपाध्याय - संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृ० २०५

(ब) संस्कृत ड्रामा - कीथ, पृ० ७६ (अनूदित)

अपनी शैली, वस्तु नेता और रस सभी दृष्टियों से प्रतीक नाटकों की [illegible]
में चलने वाली परम्परा का प्रेरणाप्रोत रूप प्रथम सफल प्रयोग रहा होगा ।

भविष्यत्कालिक प्रतीक नाटकों की दार्शनिकता तथा धार्मिकता का बीच भी इसी प्रतीक नाटक में देखने को मिलता है । अश्वघोष की अन्य कृतियों की ही भांति इसका भी अङ्गी रस शान्त ही रहा होगा, यह तो लग-भग निश्चित ही है । वस्तु की दृष्टि से भी यह नाटक प्रतीक नाटकों का प्रतिनिधि रहा होगा इस बात का बाधक कोई प्रमाण नहीं है । अत: इस रचना को प्रतीक नाट्य परम्परा का प्रथम आविर्भाव मानने में कोई विप्रतिपत्ति नहीं प्रतीत होती ।

विचारणीय यह है कि कौन-सी ऐसी सम्भावित सामाजिक एवं साहित्यिक परिस्थितियां रही होंगी जिनके परिणामस्वरूप अश्वघोष की लेखनी से यह प्रथम प्रतीक नाटक आविर्भुत हुआ । स्पष्ट है कि अश्वघोष का युग बढ़ी-चढ़ी हुई धार्मिकता तथा दार्शनिकता का था । अश्वघोष स्वयम् बौद्ध धर्म एवं दर्शन के प्रकाण्ड पण्डित तथा गण्यमान्य नेता थे । कनिष्क के समय में कश्मीर में आयोजित चतुर्थ बौद्ध संगीत में उन्होंने प्रमुख भाग लिया था ।[1] और वे महायान श्रद्धोत्पाद-संग्रह एवं सूत्रालंकार जैसे उच्चकोटि के दार्शनिक ग्रन्थों के प्रणेता भी थे । अत: बौद्ध दर्शन सूक्ष्म जटिलताओं एवं दुरूहताओं को सुलझाने तथा सरस एवम् चित्ताकर्षक माध्यम से बौद्धभिक्षुओं अथवा जिज्ञासुनागरिकों को सुगम एवं बोधगम्य कराने के लिए उन्होंने अमूर्त तत्त्वों की मूर्तकल्पना का आश्रय लिया होगा । विषय को स्पष्ट एवं प्रभावशाली बनाने की अदम्य आकांक्षा विधाओं के सुलभ एवं ज्ञात होने पर रोकी नहीं जा सकती ।

अमूर्त को मूर्तरूप में कल्पित करके व्यवहार चलाने की परम्परा महा-

---

१. एनशीएण्ट इण्डिया— आर०के० मुकर्जी, पृ० २३०

भारतकाल में ही आरम्भ हो चुकी थी । भास ने अपने नाटक के बीच में शापादि अमूर्त्त पात्रों को ला ही दिया था । दिशा खुल चुकी थी । सरणि बन गई थी । उसका सम्यक् एवं सर्वाङ्गीण उपयोग भर करना था । फलतः काव्य प्रतिभा के धनी अश्वघोष की कल्पना मुखर हो उठी होगी और संस्कृत साहित्य के प्रथम प्रतीक नाटक की रचना हो गई । भले आज हमें वह खण्डित रूप में ही उपलब्ध हो । अनुसंधित्सा को पूर्ण तृप्ति न हो, न सही, किन्तु संतोष लाभ तो होता है ।
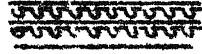
तृतीय अध्याय

प्रतीक नाटकों का विकास

तृतीय अध्याय

विगत अध्याय में यह कहा जा चुका है कि इन प्रतीक नाटकों में अमूर्त भावों को मूर्त रूप में चित्रित किया गया है। मानव के हृद्गत भाव जो अमूर्त हैं, उनको जब तक मूर्त रूप में प्रकट नहीं किया जाता है तब तक वे सूक्ष्म ही होते हैं और उनको स्थूल इन्द्रियों के द्वारा देखा नहीं जा सकता है। परन्तु जब उन्हें प्रतीक शैली के माध्यम से मूर्त रूप में ला दिया जाता है तो वे ही अमूर्त भाव अद्भुत प्रभाव शक्ति से युक्त सजीव रूप में अनुभूत होने लगते हैं। इस प्रकार के नाटकों में न केवल श्रद्धा, विवेक, क्षमा, संतोष इत्यादि अमूर्त भावनाओं को मानव रूप में चित्रित किया गया है प्रत्युत् न्याय, आन्वीक्षिकी इत्यादि शास्त्र, यक्ष्मा, विषूची, पाण्डु आदि रोग संजीविनी (लता विशेष) आदि औषधियों को भी मानव रूप में चित्रित किया गया है। इस प्रकार इनमें न केवल अमूर्त का मूर्तीकरण किया जाता है प्रत्युत् उन्हें मानव रूप में मूर्तिमान किया जाता है।

संस्कृत में लिखे गए इन प्रतीक नाटकों की सूची यह है —

(१) एक खण्डित प्रति वाला प्रतीक नाटक	अश्वघोष कृत ।
(२) प्रबोधचन्द्रोदयम्	श्रीकृष्ण मिश्र कृत ।
(३) मोहराजपराजयम्	यशःपाल कृत ।
(४) संकल्पसूर्योदयम्	वेंकटनाथ (वेदान्तदेशिक) कृत ।
(५) चैतन्यचन्द्रोदयम्	कवि कर्णपूर कृत ।

(६) धर्मविजयनाटकम्	भूदेव शुक्ल कृत
(७) अमृतोदयम्	गोकुलनाथ कृत
(८) जीवानन्दनम्	आनन्दरायमखी कृत
(९) विद्यापरिणयम्	आनन्दरायमखी कृत
(१०) पुरंजनचरितम्	श्रीकृष्णादत्त मैथिल कृत
(११) जीवन्मुक्तिकल्याणम्	नल्लाध्वरी कृत
(१२) यतिराजविजयनाटकम्	श्रीवत्स्य वरदाचार्य कृत (अमलाचार्य)
(१३) जीवसंजीविनीनाटकम्	श्री वेंकटरमणाचार्य कृत
(१४) ज्ञानसूर्योदय नाटकम्	वारिचन्द्र सूरि कृत
(१५) मुक्तिपरिणयम्	सुन्दरदेव कृत
(१६) प्रचण्डराहूदयम्	घनश्याम कृत
(१७) चित्तवृत्तिकल्याणम्	नल्लाध्वरी कृत
(१८) श्रीदामाचरितम्	सामराज दीक्षित कृत
(१९) भावनापुरुषोत्तमनाटकम्	रत्नखेट श्रीनिवास कृत
(२०) सिद्धान्तभेदीनाटकम्	सुदर्शनाचार्य कृत
(२१) विवेकविजय नाटकम्	रामानुजकवि कृत
(२२) अनुमितिपरिणयम्	नरसिंह कवि कृत
(२३) भक्तिवैभवनाटकम्	जीवादेव कृत
(२४) मिथ्याज्ञानखण्डनम्	रविदास कृत
(२५) मुद्रितकुमुदचन्द्रम्	यशःचन्द्र कृत
(२६) पूर्णपुरुषार्थचन्द्रोदयम्	जातवेद कृत
(२७) ज्ञानमुद्रानाटकम्	———
(२८) प्रबोधोदयनाटकम्	शुक्लेश्वरनाथ कृत
(२९) शिवनारायणभाञ्जामहोदयनाटिका	नृसिम्ह मिश्र कृत
(३०) सत्सङ्गविजयनाटकम्	वैजनाथ कृत

३१. स्वानुभूति नाटकम्	अनन्तपण्डित कृत
३२. विवेकचन्द्रोदयनाटिका	शिव कृत
३३. धर्मोदयनाटकम्	धर्मदेव कृत
३४. मायाविजयम्	अनन्तनारायण सूरि कृत
३५. ज्ञानचन्द्रोदयम्	पद्मसुन्दर कृत
३६. आगमातनाटकम्	जयन्त भट्ट कृत
३७. तत्त्वमुद्राभद्रोदयम्	त्रिवेणी कृत
३८. भर्तृहरिराज्यत्यागनाटकम्	कृष्णावलदेव वर्मा कृत
३९. चित्सूर्यालोकम्	नृसिम्हदैवज्ञ कृत
४०. पाखण्डधर्मखण्डननाटकम्	कृष्णावलदे दामोदर मिश्र कृत
४१. स्वात्मप्रकाशनाटकम	सुन्दरशास्त्री कृत
४२. कृष्णभक्तिचन्द्रिका नाटक	अनन्तदेव कृत
४३. शिवभक्तनन्द नाटकम्	———
४४. विजयरंजन नाटकम्	इन्दिरेश कवि कृत
४५. सौभाग्यमहोदयनाटकम्	जगन्नाथशीघ्रकवि कृत
४६. शिवलिङ्गसूर्योदयम्	मल्लारि आराध्य कृत
४७. शुद्धसत्त्वम्	माडभूषिवेङ्कटाचार्य कृत
४८. विद्वन्मनोरंजिनी	चिरंजीवि भट्टाचार्य
४९.	

इनमें से अधोलिखित नाटक प्रकाशित हैं —

(१) प्रबोधचन्द्रोदयम्[१] — चौखम्भा विद्याभवन, बनारस— १ ई०, १९५५ ।

---

१. (अ) दो टीकाओं के साथ निर्णय सागर प्रेस से प्रकाशित, षष्ठावृत्ति,
—सन् १९३५

(ब) (श्री गोविन्दामृत भगवत्कृतयानाटकाभरणाख्य व्याख्या) कृष्णमिश्र, त्रिवेन्द्रम संस्कृत सीरिज, नं० १२२, राजकीय मुद्रणा यंत्रालय से प्रकाशित, सन् १९३६ ।

(२) मोहराजपराजयम् -संपादक, मुनिचतुरविजय जी, सेन्ट्रल लाइब्रेरी, बड़ौदा, — १६१८ ई० ।

(३) संकल्पसूर्योदयम्- अड्यार पुस्तकालय से प्रकाशित मद्रपुरी, १६४८, (प्रभाविलास एवं प्रभावली व्याख्या सहित) । दो भाग ।

(४) चैतन्यचन्द्रोदयम्- निर्णय सागर प्रेस- २३, कोलभट लेन, बाम्बे, द्वितीय संस्करण, ख्रिस्ताब्द १६१७ ।

(५) अमृतोदयनाटकम्[1]- निर्णयसागरप्रेस,-- २६--२८, कोलभटलेन, बाम्बे, द्वितीय वृत्ति, १६३५ ।

(६) विद्यापरिणायम् -निर्णयसागर प्रेस २६- २८, कोलभट लेन, बाम्बे, द्वितीय संस्करण, १६३० ।

(७) जीवानन्दनम्[2]-मुद्रक-टाइमटेबुलप्रेस, बनारस (हिन्दी व्याख्या सहित), सित १६५५ ।

(८) पुरंजनचरितम- चैटर बुकस्टाल आनन्द डब्ल्यू आर, इण्डिया, प्रथम संस्कर १६५५ ।

(६) जीवसंजीविनीनाटकम् -बंगलौर वि० वि० सुब्बय्य अण्ड् सन्स मुद्राक्षरशाला मुद्रित, १६४५ ।

(१०) धर्मविजयनाटकम्-- विद्याबिलासप्रेस, गोपालमन्दिर लेन, बनारस सिटी, १६३०

(११) जीवन्मुक्तिकल्याणम्-श्रीरङ्गम् श्री वाणीविलास प्रेस, १६४४ ।

(१२) चित्तवृत्तिकल्याणम् -सं० मुनिचतुरविजय जी, सेन्ट्रल लाइब्रेरी, बड़ौदा

(१३) यतिराजविजयनाटकम्-तिरुमाला-तिरुपती-देवस्थानम्-तिरुपति, १६५६

---

१ (अ) निर्णयसागर प्रेस, १८६७ ।
(ब) (आचार्य रामचन्द्रमिश्र कृत हिन्दी व्याख्या)-प्रकाशित-चौखम्भा विद्याभव वाराणसी-१,

२ अड्यार से १६४७ में प्रकाशित, मद्रास

(१४) ज्ञानसूर्योदयम्— प्रकाशित, गवर्नमेण्टप्रेस, नागपुर, १६२६ ।
(१५) मिथ्याज्ञान बिडम्बनम्— हरिश्चन्द्र, कविरत्न द्वारा विद्यारत्न यं०, कलकत्ता में मुद्रित, सन् १८६४ ।
(१६) मुनिचतुर्विजयम् — गायकवाड़ ओरियण्टल सीरीज, बड़ौदा, १६१८ ।

अप्रकाशित किन्तु पाण्डुलिपि के रूप में समुपलब्ध होने वाले, प्रतीक नाटक ये हैं —

(१) खण्डित प्रति अश्वघोष कृत[१]
(२) मुक्तिपरिणाय[२]
(३) प्रचण्डराहूदयम्[३]
(४) भावनापुरुषोत्तम[४]
(५) सिद्धान्तभेरीनाटक[५]
(६) विवेकविजय नाटक[६]

---

१. यह प्रति तथा शारिपुत्र प्रकरण की प्रति मुझे पं० चौत्रेशचन्द्र चट्टोपाध्याय की महती कृपा से समुपलब्ध हो सकी ।
2. Tanjore New Catalogue 4460. NW. Provinces Cat. Pt. VII. P. 46.
3. Tanjore New Cat. ~~Vol.~~ 4388.
4. Theodor Aufretch Cat. Vol. I, P. 407. Burnell's 170, Oppert 3439, Tanjore New Cat. NOS. 4427-4429.
5. Catalogue of Sans. Manuscripts in Mysore and Coorge. P. 286.
6. MDSC. 12683-4. Adyar II, P. 30 b.

(७) अनुमितिपरिणाय[७]

(८) भक्तिवैभवनाटक[८]

(९) मिथ्याज्ञानखण्डन[९]

(१०) पूर्णपुरुषार्थचन्द्रोदय[१०]

(११) प्रबोधोदयनाटक[११]

(१२) शिवनारायणभाण्जामहोदयनाटिका[१२]

(१३) सतसंगविजयनाटक[१३]

(१४) स्वानुभूति नाटक[१४]

(१५) विवेकचन्द्रोदय नाटिका[१५]

(१६) धर्मोदयनाटक[१६]

(१७) आणमातनाटक[१७]

(१८) तत्त्वमुद्राभद्रोदय[१८]

(१९) भर्तृहरिराज्यत्यागनाटक[१९]

(२०) चित्सूर्यालोक[२०]

(२१) पाखण्डधर्मखण्डन[२१]

---

7. Descriptive Catalogues of the Madras Govt. Oriental MSS. Library. 12463. MDSC. 12463.
8. Triennial Cats. of the Madras Govt. Ori. MSS. Library 375
9. 10.4200. Bombay Branch. R.A.S. 1289-90 and many cats.
10. MDSC. 12540-1, ~~adse~~ MDSC. 14602.
11. Mm. Harprasad Sastry, Notices, 11 series, Vol.III, No. 190. P. 122-24.
12. The Asiatic Society Bengal. 1901. P. 18. and Mm Harprasad Sastry, Report on search for skr. MSS. 1805-1900.
13. Cat. of SKT. MSS. in private lib. of Guj., Kath., Kacch., Sind and Khandes. By Buhler (11), P. 124, No. 54.
14. Ms. dated Sam. 1705. by Anantapandita., S. R. Bhandarkar 11 Jour. Report of MSS. in Raj. and Centr. India, 1904-6. P. 9.
15. S. R. Bhandarkar, Deccan coll. cat. P. 43. No. 31.
16. Jour. of the Assam Res. Society, III 4, P. 119.
17. Peterson's Report, V. P. 262, No. 407.
18. Dr. M. Krsnamacharya, Skr. Poetesses, pp. 62-63. Souvenir of the Silver Jubilee of the Trivandrum Skr. Series.
19. Printed Books Catalogue, 1892-1906, Column 315.
20. Vijianagaram, 1894, Printed Books Cat. Column 315.
21. Br. Mu. Prt. Bks. Cat. 1906-28, Column 234.

(२२) स्वात्मप्रकाशनाटक[1]

(२३) कृष्णभक्तिचन्द्रिकानाटक[2]

कतिपय प्रतीक नाटकों की सूचना नाम-मात्र ही प्राप्त हुई है[3]—

(१) विजयरंजननाटकम्

(२) सौभाग्यमहोदयनाटकम्

(३) शिवलिङ्गसूर्योदय

(४) शुद्ध सत्त्वम्

(५) विद्वन्मनोरंजिनी

(६) शिवभक्तनन्दनाटक

(७) मायाविजय

(८) ज्ञानचन्द्रोदय

(९) ज्ञानमुद्रा

अश्वघोष कृत प्रथम प्रतीक नाटक—

अश्वघोषविरचित एक पन्ने की खण्डित प्रति उपलब्ध होती है। प्रति के गलित होने एवं त्रुटितांशों के कारण ठीक प्रकार से कोई वाक्य पढ़ा भी

---

1. Pub. Chidambaram, 1319. Ibid. 1037-8.

2. Numerous MSS. Edn. Bombay, Granthamala, 1887-62.

3. यतिराजविजयनाटकम्—श्री टी०के०वी०एन०सुदर्शनाचार्य, पृ० ३६
डा० वी० राघवन ने (द नम्बर आफ रसाज , पृ० ३६ पर) अनेक प्रतीक नाटकों को गिनाया है जिनमें उपरोक्त नाटक ही विशेषत: सम्मिलित हैं।

नहीं जाता, परन्तु जोड़-जोड़ कर बिठालने से धृति कीर्ति और बुद्धि इन तीन पात्रों के संलाप का पता चलता है। इससे अनुमान किया जा सकता है कि यही प्रथम प्रतीक नाटक रहा होगा। इसके कथानक रस, अङ्क इत्यादि का पूर्ण रूप से पता तो नहीं लगता, परन्तु इतना अवश्य आभास मिलता है कि यह भगवान् बुद्ध के ही जाज्ज्वल्यमान जीवन से सम्बन्धित नाटक रहा होगा।[१]

प्रतीक नाटकों की विकास-परम्परा में विच्छेद—

ऐतिहासिक दृष्टि से विचार करने पर प्रतीक नाटकों की परम्परा का दीर्घकालिक विच्छेद दृष्टिगोचर होता है। प्रत्येक प्रकार की काव्य-रचना की विकास परम्परा में थोड़ा-बहुत तो क्रमभंग सर्वत्र होता है परन्तु यहाँ जो एक लम्बा अन्तराल समुपलब्ध होता है वह अवश्य विशेष विचार की अपेक्षा रखता है। जैसा कि हम कह चुके हैं कि प्रतीक नाटकों की परम्परा में सर्वप्रथम अश्वघोषकृत नाटक की एक खण्डित प्रति ही प्राप्त हुई है और अश्वघोष का समय प्रथम शताब्दी ईसवी निश्चित है। इसके उपरान्त फिर कई शताब्दियों तक कोई प्रतीक नाटक उपलब्ध नहीं होता। आगे चलकर ग्यारहवीं शताब्दी के मध्य में श्रीकृष्ण मिश्र द्वारा लिखित प्रबोधचन्द्रोदय नामक प्रतीक नाटक प्राप्त होता है। अब समस्या यह है कि पहली शताब्दी और ग्यारहवीं शताब्दी के बीच एक सहस्र वर्ष तक कोई भी प्रतीक नाटक क्यों नहीं लिखा गया? कोई भी साहित्य-विधा एक बार जब जन्म ले लेती है तो फिर उसके सदृश उसी विधा में

---

१. इस नाटक के सम्बन्ध में पूरा विवरण इसी प्रबन्ध के द्वितीय अध्याय में दिया जा चुका है।

कई-कई रचनाएं लिखी जाने लगती हैं। तो फिर प्रश्न यह है कि एक बार अश्वघोष द्वारा प्रतीक नाटक का जन्म हो जाने के बाद उसके सदृश इतने दिनों तक अन्य कोई प्रतीक नाटक क्यों नहीं लिखा गया ?

इस प्रश्न के समुचित समाधान के लिए हमें तत्कालीन इतिहास की गहराई में उतरना पड़ेगा। पहली और ग्यारहवीं शताब्दी के बीच भारत में अनेक राजाओं ने राज्य किया। उनकी अपनी-अपनी राजनीतिक स्थिति थी, अपना-अपना धार्मिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक स्तर था। इस काल में भारतवर्ष में कला और संस्कृति के क्षेत्र अभूतपूर्व उन्नति हुई। प्रसिद्ध गुप्त साम्राज्य, राजा हर्ष और बिम्बसार आदि इसी कालखण्ड की उपज हैं।

गुप्त साम्राज्य उस समय कला और संस्कृति का मुख्य केन्द्र था। गुप्तकाल की मूर्तियां अपनी अभिव्यक्ति में अपना सानी नहीं रखतीं। राज-दरबारों में बड़े-बड़े कवि और साहित्यकार भी थे। विशाखदत्त, शूद्रक आदि की स्थिति इसी बात को प्रमाणित करती है। हर्ष के समय में बाणभट्ट आदि १ यशोवर्मा के समय में महाकवि भवभूति और माघ जैसे कवि इन्ही दशशताब्दियों के बीच हुए। प्रश्न यह है कि कवियों और नाटककारों के होते हुए भी और संस्कृत भाषा-साहित्य की महनीय श्रीवृद्धि होने पर भी प्रतीक नाटक इस बीच क्यों नहीं लिखे गए ?

वस्तुत: नाटकों में प्रतीकात्मकता का पूर्ण विनियोग एक बौद्ध विद्वान् के द्वारा किया गया था। कदाचित् वैदिक मतावलम्बी कवियों और लेखकों ने इसे बौद्ध प्रक्रिया समझ कर अपनी कलाकृतियों में अस्वीकृत किया हो।

(२) बाद में पुनरुज्जीवित हुई इस शैली के उपयोग से यह प्रकट है कि इस साहित्यिक विधा का विनियोग जटिल दार्शनिक तत्त्वों के सरलीकरण या प्रचार के लिए किया गया है। इन बीचकी दश शताब्दियों में कदाचित् कवियों और लेखकों का यह ध्येय ही न रहा हो कि दार्शनिक तत्त्वों का काव्य-माध्यम

से प्रकाशन किया जाए ।

(३) अधिक सम्भावना तो इस बात की हो सकती है कि यह रचना अश्वघोष के द्वारा लब्धजन्म हो करके भी अपनी गौण साहित्यिकता के कारण संस्कृत विद्वानों में प्रसिद्ध ही न हुई हो और एक प्रकार से उन्हें अज्ञात ही बनी रही हो । इसलिए इस शैली में अन्य रचनाएं न हुई हों ।

(४) या फिर यह ग्रन्थ अथवा यह शैली ज्ञात होने पर भी कवियों या लेखकों को रुचिहीन हो इसलिए इस शैली में कृष्ण मिश्र के पूर्वतक इस प्रकार की रचनाएं न हुई हों ।

(५) इस सम्पूर्ण कालखण्ड में रचे गए अनेक नाटक लुप्त हैं जब तक कि वे नाटक उपलब्ध नहीं होते , तब तक प्रतीक नाट्य परम्परा के सम्बन्ध में सुनिश्चित रूप से कुछ भी नहीं कहा जा सकता है ।

प्रबोधचन्द्रोदयनाटकम्— (११ वीं शताब्दी मध्य)

अश्वघोष से प्रारम्भ हुई इस शैली का पुनरुज्जीवन श्रीकृष्ण मिश्र ने ग्यारहवीं शताब्दी के मध्य प्रबोधचन्द्रोदय नामक नाटक लिख कर किया । प्रबोध-चन्द्रोदयनाटक के रचयिता कृष्णमिश्र हैं, यह निर्विवाद सिद्ध है । प्रस्तुत नाटक की प्रस्तावना में ही लेखक ने उस राजा का उल्लेख किया है जिसकी सभा में नाटक का अभिनय किया गया था । इसके आधार पर लेखक का समय सरलता से जाना जा सकता है । यह उल्लेख है — राजा कीर्तिवर्मा का, उसके सहायक गोपाल का तथा उसके शत्रु चेदिपति कर्ण का । पता चलता है कि कीर्तिवर्मा का राज्य राजा कर्ण के द्वारा छीन लिया गया था, उसे ही गोपाल ने अपने पराक्रम से जीता और कीर्ति-

वर्मा को पुन: राजा के पद पर अभिषिक्त किया । `येन भूयोऽभ्यषेचि`[१] के `भूय:` पद से कीर्तिवर्मा के पुन: अभिषिक्त होने की एवं `अभ्यषेचि` इस भूतकालीन क्रिया से नाटक निर्माण के पूर्व ही उसके अभिषेक का बोध होता है । ऐसा प्रतीत होता है कि कीर्तिवर्मा के नए राज्याभिषेक के उपलक्ष्य में ही गोपाल की आज्ञा से इस नाटक का प्रणयन और अभिनय हुआ होगा ।[२]

पता चलता है कि गोपाल ने १०४२ ई० में चेदिराजाकर्ण द्वारा पराजित कीर्तिवर्मा को उसका राज्य लौटा दिया था । इस प्रकार कीर्तिवर्मा के शत्रु कर्ण के राज्य का प्रारम्भ-काल १०४२ ई०, विजयकाल १०४२–५६ ई० और पराजयकाल १०६०–६४ ई० तथा राज्यवसान काल १०७२–७३ तक था । शत्रु कर्ण के राज्य के इस प्रमाणिक विवरण के आधार पर कीर्तिवर्मा के राज्यकाल का प्रारम्भ १०५० ई० माना जा सकता है । १०९० और १०९८ के उपलब्ध शिलालेखों[३] के द्वारा कीर्तिवर्मा के राज्यकाल की अन्तिम सीमा ११०० ई० सिद्ध होती है ।

---

१. प्रबोधचन्द्रोदय -- अङ्क १, पृ० ८

२. आदिष्टोऽस्मि सकलसामन्तचक्रचूणामणि -------------- श्रीमतागोपालेन ।

— प्रबोधचन्द्रोदय, अङ्क १, पृ० ५ ।

३. (अ) एनुअल रिपोर्ट आफ दी आर्केलाजिकल सर्वे आफ इण्डिया, पृ० ६३ कालिन्जर के नीलकण्ठ मन्दिर में उत्कीर्ण २० पंक्तियों का एक शिलालेख मिलता है जिसमें एक से सात पंक्तियों तक कीर्तिवर्मा का स्पष्ट उल्लेख मिलता है । यह शिलालेख १०९० ई० का है ।

(ब) कीर्तिवर्मा से सम्बन्धित एक दूसरा शिला-लेख देवगढ़ में मिला है जो कि १०९८ ई० का है । इसकी सूचना इण्डियन एन्टीक्वैरी वाल्यूम xviii पृ० २३८ से प्राप्त हुई ।

इस प्रकार कीर्तिवर्मा को अपने राज्य-काल (१०५०-११००ई०) में, १०६५ ई० में विजय-प्राप्ति हुई होगी और इसी उपलक्ष्य में प्रबोधचन्द्रोदय नाटक का अभिनय हुआ होगा।

प्रबोधचन्द्रोदय के इस अभिनय-काल से इसके रचयिता कृष्ण मिश्र का समय ११ वीं शताब्दी का मध्यकाल सिद्ध होता है।

प्रबोधचन्द्रोदय सर्वाधिक प्रसिद्ध प्रतीक नाटक है। इस नाटक में छः अङ्क हैं।

पात्र—तालिका

नायक के पक्ष में —

१. विवेक	—	कथानायक
२. मति	—	विवेक पत्नी
३. वस्तु विचार	—	विवेक भृत्य
४. संतोष	—	विवेक का साथी
५. पुरुष	—	उपनिषद् पति
६. प्रबोधोदय	—	उपनिषद् से उत्पन्न पुत्र
७. वैराग्य निदिध्यासन संकल्प	—	मन से उत्पन्न
८. श्रद्धा	—	शान्ति की माता
९. शान्ति	—	विवेक भगिनी
१०. करुणा	—	शान्ति की सखी
११. मैत्री	—	श्रद्धा की सखी
१२. उपनिषद्	—	वेदान्तविद्या

१३. क्षमा	—	विवेक दासी ।
१४. सरस्वती	—	विष्णुभक्ति की सखी ।

प्रतिनायक के पक्ष में —

१. महामोह	—	प्रतिनायक
२. मिथ्यादृष्टि	—	मोहपत्नी
३. चार्वाक	—	मोह का मित्र ।
४. काम, क्रोध, लोभ दम्भ, अहंकार	—	मोह के अमात्य
५. दिगम्बर भिक्षु कापालिक	—	बौद्ध, जैन आदि मत प्रवर्तक
६. विभ्रमावती	—	मिथ्या दृष्टि की सखी ।
७. रति	—	काम की पत्नी ।
८. हिंसा	—	क्रोध की पत्नी ।
९. तृष्णा	—	लोभ की पत्नी ।
१०.		

अन्य सामान्य पात्र—

१. सूत्रधार
२. नटी
३. पारिपार्श्विक
४. प्रतीहारी,
५. वटु
६. शिष्य
७. पुरुष
८. दौवारिक ।

कथावस्तु—

प्रथम अङ्क —मन की प्रवृत्ति और निवृत्ति नामक दो पत्नियों से उत्पन्न मोह और विवेक नामक दोनों पुत्रों में आपस में विरोध हो जाता है। मोह के पक्ष में काम, क्रोध, हिंसा आदि हैं तथा विवेक की ओर क्षमा, संतोष, शान्ति, श्रद्धा आदि हैं। काम और रति दोनों रङ्गमंच पर प्रवेश करते हैं और दोनों का परस्पर वार्तालाप होता है। काम से रति कहती है कि विवेक, जो उसका प्रतिपक्षी है उसके लिए समस्या बन गया है। काम रति से कहता है कि स्त्री होने के कारण तुम डर रही हो। मेरे सामने विवेक की क्या स्थिति है। काम को पूर्ण विश्वास है कि उसकी विजय निश्चित है परन्तु उसे खतरा उसी भविष्यवाणी से है जिसके द्वारा विवेक और उपनिषद् के सम्पर्क से विद्या की उत्पत्ति होगी। परन्तु काम, रति को आश्वासन देते हुए यह भी कहता है कि विद्या की उत्पत्ति नहीं हो सकती, क्योंकि उपनिषद् और विवेक एक दूसरे से वियुक्त हैं। फिर भी रति के यह पूछने पर कि विद्या उत्पन्न होने पर विवेक का भी संहार कर देगी ? काम का उत्तर नकारात्मक नहीं रहा। उधर विवेक अपनी पत्नी मति से कहता है कि ' प्रिये ! देखा तुमने ! यह काम अपने को पुण्यात्मा कहता है और हमलोगों को पापी कहता है जबकि नित्य शुद्ध-बुद्ध परमात्मा को बन्धन में रखने के कारण स्वयं पापी है। इस पर मति विवेक से पूछती है कि जो सच्चिदानन्द पुरुष है वह कैसे इन लोगों से आबद्ध हो जाता है ? विवेक ने उसे बताया कि चतुर व्यक्ति भी स्त्रियों के द्वारा ठग लिया जाता है। पुरुष भी माया के द्वारा बन्धन में डाला गया है। फिर विवेक से मति पूछती है कि आखिर पुरुष का उद्धार कैसे हो सकता है ? इसके उत्तर में विवेक कहता है कि उपनिषद् के साथ उसका सम्बन्ध होने पर प्रबोध की उत्पत्ति होगी। और उपनिषद्, शान्ति के मनाने और तुम्हारे द्वारा ईर्ष्या रहित होने पर ही मुझसे मिल सकती है।

दूसरा अङ्क— रङ्गमंच पर दम्भ का प्रवेश होता है, वह कहता है कि महाराज मोह ने आदेश दिया है कि तुम लोग ऐसा प्रयत्न करो जिससे

हमारा कुल नष्ट न हो । क्योंकि विवेक ने 'प्रबोधोदय' की प्रतिज्ञा कर रखी है और प्रबोध की उत्पत्ति होने पर हमारा नाश अवश्यम्भावी है । अत: मैं पृथ्वी के सबसे बड़े पवित्र स्थान पर अधिकार करता हूं । दम्भ का पिता अहङ्कार भी काशी पहुंचता है और वहां के सब लोगों को मूर्ख कहता है । अहङ्कार के सब सम्बन्धी यहां ही मिल जाते हैं । सम्बन्धियों से मिल कर वह प्रसन्न होता है । अहङ्कार ने कुशल समाचार पूछते हुए मोह के ऊपर विवेक के द्वारा उपस्थित भय के विषय में पूछा । दम्भ ने कहा कि महाराज मोह इन्द्रलोक से काशी को ही राजधानी बनाकर आ रहे हैं । अहंकार के पूछने पर कि काशी को ही महाराज ने राजधानी बनाना क्यों चाहा ? दम्भ ने बताया कि विवेक को रोकने के लिए ऐसा किया गया है । देहात्मवादी चार्वाक , महामोह की सहाय ता करता है । वह एक अशुभ समाचार लाता है कि धर्म ने विद्रोह का भण्डा खड़ा किया है । कलि के द्वारा प्रचार के रोक दिए जाने पर, ~~कोलो~~ विष्णुभक्ति नामक योगिनी का प्रभाव इतना बढ़ गया है कि उसकी ओर कोई देख भी नहीं सकता । इसी समय मद एवं मान का पत्र लेकर एक पुरुष आता है और समाचार देता है । समाचार यह है कि उपनिषद् विवेक से फिर मिल जाने को सोचती है और शान्ति अपनी माता श्रद्धा के साथ इन दोनों का मेल कराने का प्रयत्न कर रही है । महामोह , श्रद्धा को कारागार में डलवा देता है और मिथ्या दृष्टि को आज्ञा देता है कि श्रद्धा और उपनिषद् एक न होने पावें ।

तृतीय अङ्क — शान्तितथा उसकी सखी करुणा का प्रवेश होता है । शान्ति, अपनी मां श्रद्धा के वियोग में रोती है और शोकग्रस्त है । करुणा उसे सान्त्वना देती है कि सात्विकी श्रद्धा की दुर्गति कभी भी नहीं हो सकती । वह दिगम्बर जैन धर्म , बौद्ध धर्म-दर्शन, तथा सोम सिद्धान्त में श्रद्धा को खोजती है परन्तु वहां तामसी श्रद्धा के दर्शन होते हैं । वहां शान्ति उनके भयावने रूप में अपनी मां को नहीं देखती । भिक्षु (बौद्ध मत) , क्षपणक (जैन मत) आपस में झगड़ते हैं । सोम सिद्धान्त आता है । उसने नारी और मदिरा के प्रलोभन से इन दोनों को आकृष्ट किया । कापालिकी का भेष धारण करने

वाली श्रद्धा ने उन दोनों का आलिंगन करके उन्हें मदिरा पिलाई । नाम साम्य से शान्ति को यह सन्देह हुआ था कि यह हमारी माता ही तो नहीं है । किन्तु उसकी सखी करुणा ने यह बतलाया कि तुम्हारी माता श्रद्धा विष्णु-भक्ति के पास है, तब उसको सन्तोष हुआ । क्षपणक के यह कहने पर कि श्रद्धा, विष्णु भक्ति के पास महात्माओं के हृदय में है। तब कापालिकी ने धर्म और श्रद्धा को अपनी महा भैरवी विद्या से आकृष्ट करना चाहा ।

चतुर्थ अङ्क— मैत्री का प्रवेश होता है । मैत्री, श्रद्धा से कहती है कि मैंने मुदिता के द्वारा सुना है कि विष्णु भक्ति ने तुम्हें महाभैरवी के चङ्गुल से बचा रखा है । श्रद्धा भी महाभैरवी वाली सारी घटना कह सुनाती है । मैत्री ने भी कहा कि हम चारों बहनें विवेक की सफलता के लिए महात्माओं के हृदय में रहती हैं । मैत्री ने फिर श्रद्धा से कहा कि तुम जाओ , विवेक से कहो कि काम, क्रोध, मोह को जीतने का प्रयत्न करें । विवेक , वस्तुविचार , क्षमा, सन्तोष को बुला कर क्रमशः काम , क्रोध, लोभ पर विजय प्राप्त करने को कहता है । वे सब सहचर ऐसा करने को तैयार होते हैं ।

पंचम अङ्क— महामोह के कुल के नष्ट हो जाने के बाद श्रद्धा इस निष्कर्ष पर पहुंचती है कि आपस का बैर कुल को बर्बाद करने में कारण है । इस अङ्क में युद्ध की समाप्ति हो गयी है । मोह के सब सैनिक मर चुके हैं किन्तु मन अपने पुत्रों की वृत्ति से शोक-सन्तप्त है । मन को सान्त्वना और वैराग्य की उत्पत्ति हेतु विष्णुभक्ति ने वैय्यासिकी सरस्वती को भेजा है । सरस्वती संसार की अनित्यता दिखाकर मन में वैराग्य की उत्पत्ति कराती है । सच्चिदानन्द में तल्लीन होकर शान्त कराने का पाठ पढ़ाती है । मन भी निवृत्ति रूप अपनी दूसरी पत्नी के साथ वानप्रस्थाश्रम में शेष दिन व्यतीत करने का निश्चय करता है ।

छठां अङ्क— शान्ति ने श्रद्धा से राजकुल का समाचार पूछा ।

श्रद्धा ने बताया कि मन का माया से सम्बन्ध-विच्छेद हो चुका है। अब निवृत्ति-मात्र उसकी पत्नी, वैराग्य उसका वेटा, शम, दम आदि सहपाठी हैं। महामोह ने अब भी मन को आकृष्ट करने के लिए मधुमती को भेजा है। माया भी इस कार्य में सहायक है। परन्तु तर्क ने इस चंगुल से मन को बचाया है। अब पुरुष ने उपनिषद् से मिलना चाहा। परन्तु उपनिषद् मान कर बैठी है। ऐसी स्थिति में शान्ति उपनिषद् को पुरुष की विवशता समझाती है। तदनन्तर उपनिषद्ने अपने पूर्वानुभूत जीवन का सब वृत्तान्त शान्ति से कह सुनाया । इसी बीच निदिध्यासन प्रकट हुआ। उसने पुरुष से विद्या और प्रबोध की उत्पत्ति की बात कही। विवेक के साथ उपनिषद्, विष्णुभक्ति के पास चली गयी। प्रबोधोदय होने से सबका अज्ञानान्धकार दूर हो गया। पुरुष को मोक्ष की प्राप्ति हो गयी।

मोहराजपराजयम् —(१३ वीं शताब्दी) —

इस प्रतीक शैली का दूसरा उपलब्ध नाटक " मोहराजपराजयम् " है। इसकी रचना जैनकवि यशपाल ने की —यह पुष्ट प्रमाणों से सिद्ध है।[१] ये चक्रवर्ती अजयदेव अथवा अजयपाल की सेवा में रहे। अजयदेव ने कुमारपाल के बाद ११२९ से १२३२ ई० तक राज्य किया । सर्व प्रथम यह नाटक कुमारपाल के द्वारा थारापद्र में बनवाए गए महावीरविहार अथवा मन्दिर में प्रतिमा-समारोह के अवसर पर खेला गया।[२] ऐसा ज्ञात होता है कि लेखक थारापद्र का निवासी

---

१. सूत्रधार—अस्त्येव श्रीमोढवंशावतंसेन श्री अजयदेव चक्रवर्तिचरणराजीवराजहंसेन.... .... परमार्हतेन यशःपाल कविना विनिर्मितं मोहराजपराजयोनाम नाटकम् —
— मोहराजपराजयम् —प्रथम अङ्क, पृ० ३

२. सूत्रधार —.......... यदद्य मरुमण्डलकमलामुखमण्डनकर्पूरपत्राङ्कुरथारापद्र-पुरपरिष्कार श्रीकुमारविहार क्रोडालङ्कारश्री विरजिनेश्वरयात्रामहोत्सव-प्रसङ्गसङ्ग.............
— मोहराजपराजयम् —प्रथम अङ्क, पृ० २

अथवा राज्यपाल रहा होगा । इस प्रकार नाटक की रचना १३ वीं शताब्दी सिद्ध होती है ।

प्रस्तुत नाटक में पांच अङ्क हैं।—

<u>पात्र-तालिका</u>—

पुरुष पात्र		परिचय
१. सूत्रधार	—	नाटकप्रयोगप्रबन्धकर
२. राजा कुमारपाल	—	प्रधान नायक
३. पुण्यकेतु	—	कुमारपालका अमात्य
४. विदूषक	—	कुमारपाल-नर्म-सचिव
५. प्रतीहार	—	कर्मविवरनामक कुमारपालप्रतिहार
६. पुरुष	—	लोकाचारनामक कुमारपाल का सेवक
७. योगी	—	ज्ञानदर्पणनाम-कुमारपाल-प्रणिधि
८. ज्ञानदर्पण	—	कुमारपाल-प्रणिधि ।
९. वैतालिक	—	स्तुतिपाठक ।
१०. व्यवसायनगर	—	विवेक नृपति को लाने हेतु पुण्यकेतु के द्वारा भेजा गया कोई पुरुष ।
११. शुक	—	संवर नामक राजशुक ।
१२. वणिज १३. महत्तर वणिज १४. महाजन	—	नागरिक
१५. कुबेर	—	नगरश्रेष्ठी
१६. वामदेव	—	कुबेरश्रेष्ठिसखा
१७. पातालकेतु	—	विद्याधराधिराज
१८. दाण्डपाशिक	—	पुण्यकेतु मंत्रिद्वारा विपन्न पुरुष गवेषणार्थ नियुक्त धर्मकुंजर नामक राजपुरुष ।

पुरुष पात्र		परिचय
१९. पदाती	—	दो राजपुरुष ।
२०. पुरुष	—	संसारकनामक मोहराज-लेखाहारक
२१. द्यूतकुमार २२. जाड्०गलक २३. मद्यशेखर	—	व्यसन
२४. कापालिक, रह्माणा, घटचटक, नास्तिक	—	हिंसा;धर्म-प्रूप-सिद्धान्त मारि के सेवक
२५. विवेकचन्द्र	—	जनमनोवृत्ति का अधिपति
२६. मोहराज	—	जनमनोवृत्त्याक्रामक विवेकचन्द्र का शत्रु ।
२७. पापकेतु	—	राजा मोह का अमात्य
२८. कदागम	—	मोहराज प्रणिधि ।
२९. रागकेसरी, द्वेषगजेन्द्र	—	मोहराज के पुत्र
३०. मदनदेव	—	मोहराज सखा ।
३१. कलिकन्दक, पाखण्ड, मित्थ्यात्वराशि आदि ।	—	मोहराजकटकाधिपति ।

स्त्री पात्र-तालिका		परिचय
१. कृपासुन्दरी	—	विवेकचन्द्र की पुत्री तथा कुमारपाल की पत्नी ।
२. राज्यश्री	—	कुमारपाल प्रणयिनी ।
३. रौद्रता	—	राज्यश्री की प्रिय सखी ।
४. व्यवस्था	—	राज्यश्री लेखहारिका ।
५. सौमता	—	कृपासुन्दरी की प्रियसखी ।
६. गुणश्री	—	कुबेरश्रेष्ठि माता ।

स्त्री पात्र-तालिका		परिचय -
७. कमलश्री	-	कुबेर श्रेष्ठि-भार्या ।
८. पातालसुन्दरी	-	पातालकेतु-पत्नी ।
९. पातालचन्द्रिका	-	कुबेरश्रेष्ठि परिणीता विद्याधर की पुत्री ।
१०. देशश्री, नगश्री ११. नगश्री	-	दोनों बहनें
१२. वनिता १३. वनराजी	-	कृपासुन्दरी तथा नगरश्री की प्रिय सखियां ।
१४. असत्यकन्दली	-	द्यूतकुमार की भार्या ।
१५. प्रतिहारी	-	अविरतिकलानाम की मोहराज की प्रतिहारी ।

कथावस्तु-

प्रथम अङ्क- ऋषभ, पार्श्व और महावीर नामक तीन तीर्थङ्करों की प्रारम्भिक तीन पद्यों में स्तुति की गई है। तदनन्तर सूत्रधार और उसकी पत्नी नटी का प्रस्तुत नाटक एवं उसके लेखक के विषय में कथन है। इसके बाद विदूषक के साथ राजा कुमारपाल रङ्गमंच पर प्रवेश करते हैं। मोहराज का वृत्तान्त जानने के लिए प्रेषित चर, जिसका नाम ज्ञानदर्पण है, प्रवेश करता है। वह जनमनोवृत्ति नामक , विवेकचन्द्र की राजधानी पर महामोह के आक्रमण एवं उसकी सफलता की सूचना देता है। वह यह भी बताता है कि विवेकचन्द्र अपनी पत्नी शान्ति तथा पुत्री कृपासुन्दरी के साथ राजधानी छोड़कर भाग गया है। साथ ही वह यह भी समाचार देता है कि वह सच्चरित्र तथा नीतिदेवी की पुत्री कीर्तिमंजरी, जो कुमारपाल की पत्नी थी, से भी मिला। उसने चर से मोह

विवाह के विषय में प्रार्थना करने रानी राज्यश्री जाती है। विवेकचन्द्र भी देवी की प्रार्थना स्वीकार कर लेता है। परन्तु वह देवी के समक्ष दो शर्तों को प्रस्तुत करता है — प्रथम , सात व्यसन निर्वासित कर दिए जायं और द्वितीय, लावारिस मरने वालों की सम्पत्ति जब्त करने की प्रथा बन्द कर दी जाय। रानी इस शर्त को स्वीकार कर लेती है। राजा भी सहमत हो जाता है। अङ्०कान्त में वह मृत समझे जाने वाले कुबेर की सम्पत्ति छोड़ देता है ।

चतुर्थ अङ्०क— देशश्री का रंगमंच पर प्रवेश होता है । वह अपनी छोटी पुत्री वनराजी की सहायता से नगरश्री से मिलती है। नगरश्री और देशश्री के द्वारा जैनधर्म के सिद्धान्तों के विषय में कथनोपकथन कराया गया है। तदनन्तर कृपा सुन्दरी का प्रवेश होता है। वह आखेटकों तथा मछुओं से घबड़ायी हुई है। किन्तु पुण्यकेतु द्वारा नियुक्त किए गए दाण्डपाशिक (पुलिस आफिसर) से उसे आश्वासन मिलता है। इस अङ्०क में सात व्यसन द्यूत, मांस-भक्षण, मद्यपान, मारि (हत्या) , चौर्य, पारदारिकत्व वेश्या गमन के निर्वासिन रूप वचन का पूर्ण पालन किया गया है।

पंचम अङ्०क— विवेकचन्द्र का रङ्०गमंच पर प्रवेश होता है। उसकी पुत्री कृपा सुन्दरी का विवाह होता है, वह इस आनन्द का वर्णन करता है। हेमचन्द्र के लोकशास्त्र (जो उसका कवच) और विंशतिवीतराग-स्तुति (जो उसको छिपाए रखती है) से सुसज्जित होकर राजा, मोहराज के निवास-स्थान के समीप आता है। अन्त में कुमारपाल और मोहराज में खुलकर संघर्ष होता है। कुमारपाल विजयी होता है। मोहराज , पापकेतु, राग, द्वेष, अनङ्०ग, कलिकन्दकादि अपने सहयोगियों के साथ मारा जाता है। विवेकचन्द्र का अपहृत राज्य `जनमनोवृत्ति` वापस मिल जाता है। भरत-वाक्य से अङ्०क की समाप्ति होती है।

संकल्पसूर्योदयम् — (१४ वीं शताब्दी)

इस प्रतीक शैली में लिखा गया तीसरा नाटक `संकल्पसूर्योदय' है। संकल्पसूर्योदय नाटक की रचना महाकवि वेंकटनाथ ने की। ऐसा प्रतीत होता है कि कवि अपने जीवन के उत्तरार्द्ध में प्रस्तुत नाटक की रचना की होगी, क्योंकि इस नाटक में जिस प्रकार की परिमार्जित शैली, प्रौढ़ भाषा और विचार गाम्भीर्य पाया जाता है, वैसी शैली की परिपक्वता, भाषा की प्रौढ़ता एवं विचारों का गाम्भीर्य जीवन के प्रारम्भिक काल में उतना सम्भव नहीं है। साथ ही कवि का `कवितार्किकसिंह' `वेदान्ताचार्य' इत्यादि उपाधियों को प्राप्त करने का उल्लेख तथा छात्रजीवन द्वारा चतुर्दिक् में अपनी यश: पताका के फहराये जाने की चर्चा करना भी, इसी तथ्य को सिद्ध करता है कि कवि की यह कृति उसके जीवन के उत्तरार्द्ध की ही देन है।[१] अत: `संकल्पसूर्योदय' को १४ वीं शताब्दी की रचना मानना पूर्ण रूपेण सत्य है। महाकवि वेंकटनाथ का समय १२६६ से १३७६ ई० तक का है।[२]

पात्र-तालिका

सामान्य पात्र—

१. सूत्रधार	–	नाटक प्रबंध का प्रयोगकर्त्ता ।
२. नटी	–	सूत्रधार की स्त्री

---

१. "श्रीरङ्गराजदिव्याज्ञालब्धवेदान्ताचार्यपद: कवितार्किकसिंह इति प्रख्यातगुणसमाख्य: छात्रजननिबद्धजैत्रध्वजप्रसाधितदशदिशासौध: सर्वतंत्रसंकटप्रशमनविकङ्कटमति: श्रीमद्वेंकटनाथो नाम कवि: ।

— संकल्पसूर्योदयम्, प्रस्तावना, पृ० ३८

२. भारतीय दर्शन — बलदेव उपाध्याय, पृ० ४६१

सामान्य पात्र-

३. चेटि
४. दौवारिक

सत् पक्ष के पात्र-

१. विवेक	-	कथानायक
२. सुमति	-	कथानायिका
३. व्यवसाय	-	सेनापति
४. तर्क	-	सारथि
५. संस्कार	-	शिल्पी
६. दृष्टप्रत्यय	-	दूत
७. संकल्प	-	भगवद्दास
८. पुरुष	-	निःश्रेयसाधिकारी
९. बुद्धि	-	पुरुष पत्नी
१०. विष्णु भक्ति	-	भगवद्दासी
११. श्रद्धा, १२. विचारणा	-	सुमति की सखियाँ
१३. गुरु (रामानुजाचार्य)	-	सिद्धान्त
१४. शिष्य (वेदान्तदेशिक)	-	वाद
१५. नारद, १६. तुम्बरू	-	देवर्षि
१७. मैत्री, १८. करुणा, १९. मुदिता		सुमति की सखियाँ
२० उपेक्षा		

सत् पक्ष के पात्र—

२१. जुगुप्सा २२. विरक्ति २३. तितिक्षा २४. शान्ति	—	सुमति-परिजन
२५. शम २६. दम २७. स्वाध्याय २८. तोष	—	मन्त्रीगण
२९. श्री पांचरात्र	—	वादविषय
३०. दिव्य वैतालिक	—	वन्दना करने वाले
३१. अनुभव	—	संस्कार का पिता
३२. सद्दृष्टि ३३. सदृशदृष्टि	-	संस्कार के दास
३४. तार्क्ष्य	--	संकल्प प्रापक
३५. अर्चिरादि	--	आतिवाहिका
३६. श्वेतदीप	—	राजधानी

असत् पक्ष के पात्र—

१. महामोह	—	प्रतिनायक
२. दुर्मति	--	प्रतिनायिका
३. काम ४. क्रोध	—	सैनापति
५. रति	—	काम की पत्नी
६. वसन्त	—	कामसखा

असत् पक्ष के पात्र—

७. राग ८. द्वेष ९. लोभ	—	मंत्री-गण
१०. तृष्णा	—	लोभ पत्नी ।
११. दम्भ १२. दर्प	—	मोह परिजन ।
१३. कुहना	—	दम्भ पत्नी ।
१४. असूया	—	दर्प पत्नी ।
१५. स्तम्भ	—	कंचुकी ।
१६. संवृतिसत्य	—	दूत ।
१७. अभिनिवेश	—	कोशाधिकारी ।
१८. दुर्वासना	—	तत्पत्नी ।
१९. सांख्य २० योगादि	—	मोह-पक्षी ।
२१. विघ्न	—	चारण ।
२२. कलि	—	योध ।
२३. ऋतुस्नातनादि	—	कामपरिवार ।
२४. शृंगार	—	काम योध ।
२५. मान २६. मत्सर	—	मोह के मंत्री गण ।
२७. भ्रम	—	सखा
२८. माया	—	राजधानी

कथावस्तु—

प्रथम अङ्क— आत्मा को वैषयिक सुख से कितना भटकना पड़ता है, इसका प्रतिपादन किया गया है। विष्कम्भक के प्रारम्भ में महामोह के अनुयायी काम, रति तथा वसन्त का वार्तालाप होता है। शरीरज राग, द्वेष आदि, महामोहोपकारी तथा विवेक के अपकारी के रूप में चित्रित किए गए हैं। नित्यनिर्मलानन्दस्वरूपपुरुष अविद्या के सम्पर्क से संसार बन्धन में पड़ गया है। उसको इस बंधन से मुक्त विवेक ही कर सकता है, यह दिखाया गया है।

द्वितीय अङ्क— इसमें सुमति की सखी श्रद्धा और विचारणा द्वारा पुरुष को ठगने के लिए महामोह के द्वारा किए गए प्रयत्नों का वर्णन किया गया है। गुरु (रामनुज) और शिष्य(वेदान्त देशिक) के वाद-विवाद द्वारा अर्हत्, बौद्ध, सांख्य, अक्षपाद, सौत्रान्तिक, योगाचार, वैभाषिक, माध्यमिक आदि के मतों का प्रयोग किया गया है।

तृतीय अङ्क— विवेक के द्वारा मुक्ति के उपाय का निरूपण करने के लिए पहले राग, द्वेष का प्रवेश कराया गया है। राग, द्वेष परस्पर पुरुष को बन्धन में डालने का उपाय सोचते हैं। राग कहता है कि मैं राम को मारीच की तरह पुरुष को वैराग्य से दूर कर दूंगा और तुम (द्वेष) रावण जैसे सीता को चुरा ले गया था उस तरह विष्णु- भक्ति को पुरुष से दूर कर दो ।

चतुर्थ अङ्क— समाधि आरम्भ करने वाले पुरुष का चित्त पूर्वानुभूत विषय-वासनाओं से कलुषित रहता है और समाधि में स्थिरता नहीं

प्राप्त करता । वैषयिक सुख और वैराग्य दोनों के बीच में वह दोलायमान होता है और नितान्त दयनीय दशा को प्राप्त होता है । इस प्रकार वह अन्य जनों के द्वारा अपमानित होता है और उन्हें मारने की इच्छा करता है । इस, क्रोधदोष की सम्भावना पाकर मात्सर्य इत्यादि सहित राग और क्रोध व्यूह बना कर पुरुष को नष्ट कर देना चाहते हैं । उसमें तितिक्षा, मुदिता इत्यादि कवच की सहायता से विवेक के बल से कामादिव्यूह का भेदन करके फिर से वह समाधि में स्थिरता लेने की चेष्टा करता है ।

पंचम अङ्क— इसका नाम 'दम्भादि उपालम्भ' है । इस अङ्क में पुरुष अपनी समाधिनिष्ठता की प्रसिद्धि करना चाहता है और प्रकार दम्भ का आश्रय ग्रहण करता है । दर्प भी दम्भ की सहायता लेता है । इसकी सिद्धियों से अन्य लोग ठगे जाते हैं । वह भांति-भांति से अपने त्याग और तपस्या की विकत्थना करता है और लोगों से धन प्राप्त करता है । ऐसे समय में वह असूया युक्त हो जाता है । रामादि अवतारों की निन्दा करता है । अपने को सकल शास्त्र-वेत्ता और निर्दोष बताता हुआ अन्य सभी सिद्धान्तों को सदोष बताता है ।

षष्ठम अङ्क —इस अङ्क का नाम 'स्थान-विशेष-संग्रह' है । विष्कम्भक में ही सभी पुण्यतीर्थों के कलिकाल से प्रदोषित होने के कारण हेयत्व बताकर हृदयगुहा ही योग का समीचीन स्थान है, यह निर्णय दिया जाता है । आगे एक एक करके पुण्यक्षेत्र तीर्थों की सदोषता का वर्णन किया जाता है । जैसे—गन्धमादन, वन इत्यादि संगीत ध्वनि से युक्त होने के कारण चित्त-क्षोभक हैं । वाराणसी म्लेच्छप्राय होने के कारण सदाचार रहित है । श्रीरङ्ग क्षेत्रादि भी योगविघ्नों से भरे हैं । इसलिए कहीं किसी

एकान्तप्रदेश में बैठकर हृदयगुहा में निवास करने वाले लक्ष्मीपति का ध्यान करना चाहिए, यह बताया गया है।

सप्तम अङ्क— इस अङ्क का नाम `शुभाश्रयनिर्धारण` है। इसमें हृदयकमलरूपयोगासन पर भगवान के ध्यान के प्रकार का वर्णन किया गया है। उसके बाद विवेक, सुमति और व्यवसाय के द्वारा होने वाले दर्शन के बहाने, होने वाले भगवत्-अवतारों का वर्णन है। बाद में निदिध्यासन की मोक्ष प्रदता का प्रतिपादन है। फिर विष्णु के दशों अवतारों की महिमा का कथन है।

अष्टम अङ्क— इसका नाम` मोहादिपराजय` है। व्यूहभेद से पराजित कामादि , दुर्वासना और अभिनिवेश से उत्तेजित होकर स्थिर समाधि वाले पुरुष के चित्त को फिर विषयाभिमुख करने की तैयारी करते हैं। इस स्थिति को अनुकूल समझ कर महामोह अपने सैनिकों सहित राजा विवेक पर आक्रमण करता है। किन्तु सुवासना, समाध्याभिनिवेश से उपष्टब्ध` विवेक को समाप्त कर देने का उद्योग करता है। तदनन्तर नारद-तुम्बरू-संवाद के द्वारा विवेक और महामोह का युद्ध, मोह विनाश तथा समाधि-सम्पादन का सरस वर्णन किया गया है।

नवम अङ्क—इस अङ्क का नाम `समाधिसम्भव ` है। अब पुरुष की भक्तिप्रवणता और अधिक बढ़ती है। किन्तु कर्मनाम्नी अविद्या विनष्ट कामादिक को फिर कुछ कुछ उठाती है। समाधिसिद्धि के लिए भगवान को ~~फिर~~ शरण में जाकर सतर्कता से रहना चाहिए तब जाकर निर्विघ्न समाधि साधित होती है। अब कुछ करणीय अवशिष्ट नहीं रहता। शरीरपात की प्रतीक्षा रहती है।

दशमअङ्क- इस अङ्क का नाम `नि:श्रेयसलाभना` है । इस अङ्क में समाधिसिद्ध पुरुष से उपासना के कारण भगवान प्रसन्न होते हैं । अर्चिरादि मार्ग से योगी को परमपद की प्राप्ति होती है । वहां पर ब्रह्मसायुज्य नामक मुक्ति को प्राप्त करने वाले पुरुष को निरतिशय ब्रह्मानन्द का अनुभव होता है । अन्त में कवि इस नाटक का समर्पण वासुदेव के सम्मुख करता है ।

यतिराजविजयनाटकम् (१४ वीं शताब्दी)

यह १४ वीं शताब्दी में प्रतीक शैली में लिखा गया नाटक है । इसके रचयिता श्री वरदाचार्य हैं । इस नाटक के प्रणेता ने अपना परिचय स्वयं प्रस्तावना में दिया है । भगवान् रामानुज मुनि के पूर्वाश्रम भागिनेय श्रीमद्सुदर्शनाचार्य `नडादूर अम्माल्` नाम से प्रसिद्ध हैं । इन्होंने श्रीभाष्य का प्रवचन किया । उनके पौत्र वरदाचार्य से पांचवें थे । उन्हीं वरदाचार्य के नाम-साम्य के कारण हमारे इस नाटककार को भी `अम्माल` नाम प्राप्त हुआ - ऐसा प्रतीत होता है । इस नाटककार के पिता का नाम `घटिकाशतसुदर्शनाचार्य` है और निवास नगरी कांची है । `यतिविजयनाटकम्` के सम्पादक श्री ति०कु०-वे०न० सुदर्शनाचार्य के अनुसार नाटककार वरदाचार्य परमहंस परिव्राजकाचार्य आदि वणशठगोपयति - जिन्होंने `अहोबिल` मठ की स्थापना की थी, के आचार्य थे । अत: इनका समय १४ वीं शताब्दी माना जाना चाहिए ।[1]

---

१. यतिराजविजयनाटकम्— भूमिका, पृ० ३३-३४

यद्यपि एस०एन० दास गुप्त और एस० के० डे की " ए हिस्ट्री आफ संस्कृत लिटरेचर (A History Of Sanskrit Literature) में इनका समय सत्रहवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध और अठारहवीं शताब्दी का आरम्भ माना है।[१] किन्तु ई० वी० वीरराघवाचार्य ने अपने निबन्ध में इनका समय १४ वीं शताब्दी ही स्वीकार किया है।[२] जब तक वरदाचार्य के सत्रहवीं शताब्दी के स्थिति के पोषक एवं चौदहवीं शताब्दी के स्थिति के बाधक कोई प्रबल प्रमाण उपस्थित न हों तब तक उपर्युक्त साक्ष्य के आधार पर चौदहवीं शताब्दी इसका रचना-काल मानना ही समीचीन प्रतीत होता है ।

पात्र-तालिका

पुरुष पात्र		परिचय
१. वेदमौलि	-	राजा (नायक)
२. यतिराज	-	मूल मंत्री
३. धर्म	-	राजा का अनुचर
४. यामनमुनि	-	राजाका आप्त मित्र
५. पराङ्कुश	-	श्रीशठ परमपूज्यकोपदिव्य-सूरि ।
६. सुदर्शन	-	यतिराज का अन्तरङ्ग शिष्य
७. रङ्गप्रिय	-	वैतालिक
८. प्रियरङ्ग	-	

---

१. ए हिस्ट्री आफ संस्कृत लिटरेचर-एस०के० डे, पृ० ४८७

२. जनरल आफ वेन्कटेश्वर ओरियण्टल इन्स्टीट्यूट, भाग २, पार्ट १, १९४१ ।

६. मायावाद	–	प्रधान महामंत्री प्रतिपक्षी
१०. शङ्कर	–	मायावाद का सहायक
११. भास्कर १२. यादव	–	मन्त्री
१३. चार्वाक १४. सौगत	–	मन्त्री के सहायक
१५. वेदविचार	–	राजा वेदान्त का भाई
१६. इतिहास १७. पुराण	–	वेदान्त के सहायक
१८. सद्गुरु (तन्त्रपाल)	–	सेनापति
१६. सुतर्क	–	योद्धा
२०. शब्द	–	अनुचर
२१. प्रत्यक्षादिप्रमाण	–	सेवकगण
२२. जनक	–	–
१३. कंचुकी	–	–
२४. सन्यासी	–	विवरणकार
२५. शुक्लपट	–	वाचस्पति
२६. वादसिंह	–	यादवशिष्य
२७. भास्करशिष्य	–	
२८. दिव्यपुरुष	–	–
२६. नारद	–	–
३०. भरत	–	–

अन्य साधारण पात्र—

१. सूत्रधार	—	प्रस्तावना प्रवर्तक पात्र
२. प्रतीहारी		
३. पारिपार्श्विक		

स्त्री पात्र- तालिका —

१. सुमति	—	पट्टमहिषी
२. सुनीति	—	पटरानी की चेटी
३. मिथ्या दृष्टि	—	मोहजननी (वेश्या)
४. गीता	—	सुमति की सखी
५. सद्विद्या	—	चामरग्राहिणी

कथावस्तु—

यह 'यतिराजविजयम्' नाटक 'वैदान्तविलास' नाम से भी प्रसिद्ध है। यह नाटक प्रबोधचन्द्रोदय की भाँति छ: अंकों में विभाजित है। इसमें नायक वेदमौलि (वेदान्त) और नायिका सुमति (भगवत्भक्ति) है।

प्रथम अङ्क—प्रथम अङ्क में नान्दीपाठ होता है। कृष्ण और विष्णु की स्तुति की गयी है। नान्दी के अंक में सूत्रधार ग्रन्थकार का परिचय देता है और नायक वेदमौलि की विजय की प्रस्तावना होती है।[१] नारद और भरत एक विष्कम्भक करते हैं। उसके बाद इस अंक में राजा वेदमौलि का प्रवेश होता

---

१. 'सर्वैर्विलुप्तविषय: ---------------- ।'

— यतिराजविजयम्--श्लोक २२

है। वह अपने प्रधानमन्त्री मायावाद के सम्बन्ध में अपना मत व्यक्त करता हुआ खिन्न होता है और कहता है कि मानार्थ तत्त्वहीन , मायाजीवी , अत्यन्त मृषावादी , सुमति और सुनीति का द्वेषी यह महामन्त्री मुझको भी वैसा ही किए डाल रहा है। किन्तु अन्य किसी नीतिशाली मन्त्री के अभाव में इसी मन्त्री की मन्त्रणा पर चलने का वह निश्चय करता है । प्रतीहारी आता है और भास्कर तथा यादव के साथ प्रतीक्षा करते हुए महामात्य की सूचना देता है। प्रतीहारी ने निवेदित किया कि मन्त्रशाला में भास्कर और यादव आपकी प्रतीक्षा में बैठे हुए हैं। राजा चल देता है। रामानुज और धर्म परस्पर वार्ता करते हैं। धर्म बताता है कि राजा वेदमौलि , मायावाद के चक्कर में फंसा हुआ है। रामानुज, धर्म को आश्वासन देते हैं और सूर्य में साक्षात् विष्णु की दृष्टि करते हैं। उसी समय अभिजित नाम का मुहूर्त्त लगा हुआ है और ये लोग वेदविचार की दुर्दशा का वर्णन करते हैं ।

द्वितीय अङ्क---इसमें चार्वाक और सौगत का प्रवेश होता है। सौगत बताता है कि मायावाद मेरा स्वरूप ही है। दोनों वेदमौलि के विरोध के लिए दृढ़व्रत हैं। मायावाद नाम के मन्त्री और राजा का संलाप होता है। मायावाद सभी भेद-वाद के विरुद्ध उत्तेयार करके निर्विशेष ज्ञान के अतिरिक्त सब कुछ अच्छा है - ऐसा कह करके सारे संसार को मायाविलासिनी का विलास समझने के लिए तत्पर कर देता है। इसके बाद उस मंत्री की पुत्री मित्थ्यादृष्टि आती है और राजा को विविध उपायों से लुभाकर अपने वश में कर लेती है। कुछ देर में दोनों आनन्दित होकर क्रीड़ारत रहते हैं। उसी बीच में गलती से वह प्राकृत श्लोक गाती है। फलस्वरूप उसे महाराज को छोड़ना पड़ता है। वह रोती हुई चली जाती है। इतने में इतिहास इस सूचना को मन्त्री तक पहुंचाता है। तब तक यतिराज और सुनीति का प्रवेश होता है । दोनों विविध प्रकार से मिथ्यादृष्टि के शोक में विह्वल राजा को समझाते हैं किन्तु राजा को शान्ति नहीं मिलती ।

तृतीय अङ्क— हाथ में चामर लिए हुए सद्विद्या और गीता का प्रवेश होता है। गीता ने उससे राजकुल का समाचार प्राप्त किया कि रामानुज राजकुल से क्रुद्ध होकर कांचीपुरी चले गए हैं, और सेनापति सद्गुह (अन्दाजा) लापता है। गीता बताती है कि देवी सुमति भी राजा के वेश्या-स्नेह के कारण दुःखी होकर सुनीति सहित नारायण की आराधना कर रही है। इस प्रवेशक के बाद दोनों निकल जाती हैं। रङ्गमंच पर यामुनाचार्य के हाथ को पकड़े हुए यादव और भास्कर के द्वारा अनुगम्यमान तथा मायावाद के द्वारा मार्ग दिखाए जाते हुए वेदमौलि का प्रवेश होता है। यद्यपि यादव और भास्कर, मायावाद और वेदमौलि को अपने-अपने अनुकूल समझते हैं तथापि वेदमौलि यामुनाचार्य के कथन को ही सत्य मानता है। उसके बाद इन सबके सैद्धान्तिक मत-भेदों का सुन्दर निरूपण कराया गया है। वेदमौलि यामुनाचार्य के प्रति अधिक आकृष्ट होते प्रतीत होते हैं। रङ्गप्रिय और प्रियरङ्ग नाम के दो वैतालिक राजा की सेवा में उपस्थित होते हैं और मायावाद का पर्दाफाश करते हैं। मायावाद चतुराई के साथ वैतालिकों को बालक कह कर अपनी पराजय को छिपा लेता है और कहता है कि मैं तुम्हारे गुरू रामानन्द से निपट लूंगा। इसके बाद राजा यामुनाचार्य के प्रति बहुत अधिक विस्मृत होता है। धीरे-धीरे सब लोग चले जाते हैं।

चतुर्थ अङ्क— इस अङ्क में विशिष्टाद्वैतमतानुप्राणित जनक का प्रवेश होता है। उनका गीता के साथ वार्तालाप होता है। जीव एवं परमात्मा का मुक्तिकाल स्वरूपैक्य न होकर स्वाभावैक्य होता है इस बात को जनक गीता से बताते हैं। वे स्वयं गीता का सहकारी बनने का आश्वासन देते हैं। इस विष्कम्भक के बाद रामानुज, यामुन और राजावेदमौलि का प्रवेश होता है। सुनीति भी आ जाती है। एकान्त में राजा सुमति विषयक अपने परम प्रेम को सुनीति से प्रकट करता है। वह सुमति को गीता के साथ लिवा लाती है। यामुनादि पहले ही चले जाते हैं। सुमति भी अपने शृंगारिक भावों को सखियों से प्रकट

करती है। मूर्च्छित राजा को सुमति होश में लाती है। दोनों सखियाँ भी चली जाती हैं। इसके बाद दोनों का सानंद मिलन होता है। सम्भोग शृंगार का पूर्ण समारम्भ समुपस्थित होता है। प्रातःकाल होता है । दोनों चले जाते हैं। अङ्क समाप्त होता है।

पंचम अङ्क— सुदर्शन विष्कम्भक उपस्थित करता है । तब परस्पर विवदमान सन्यासी (विवरण प्रस्थान) और शुक्लपट (वाचस्पति) मिश्र — भामती प्रस्थान) अपने-अपने मतवैशिष्ट्यों सहित उपस्थित होते हैं। राजा और देवी का प्रवेश होता है। नेपथ्य में रामानुज को ललकारते हुए शङ्कराचार्य का प्रवेश सूचित किया जाता है। शंकर और सद्गुरु का वाक्कलह होता है। माया वाद भी शङ्कर के साथ है। योगाचार्य और शून्यवाद भी शंकर की सहायता में उपस्थित होते हैं। सद्गुरु के पक्ष में पराङ्कुश आता है। शंकर का पराभव दिखाया जाता है। वह विष्णुभक्ति को स्वीकार कर लेते हैं। मायावाद छिन्न—भिन्न होता है। यादव और भास्कर आदि भी बिना लड़े हुए रामानुज-मत के सामने पराजय स्वीकार कर लेते हैं। इस प्रकार रामानुज एक-मात्र मुख्यामात्य पदारूढ़ हो जाते हैं। अङ्क समाप्त होता है।

षष्ठ अङ्क— शाङ्कर और रामानुज का प्रेम-भाव से मिलिन प्रदर्शित किया जाता है हैं। शङ्कर पर्यङ्क विद्या की उपासना करने के लिए अनन्तपुर चले जाते हैं। यतिराज, रामानुज, माधवोत्सव की तैयारी का आदेश देते हैं। वेदविचार एवं इतिहास , पुराण सभी राजा का दर्शन करते हैं। स्फोटरहित शब्द भी राजा को प्रणाम करता है। सब लोग आनन्द मनाते हैं। अन्त में दिव्य पुरुष उपस्थित होकर राजा को सूचित करता है कि भगवान् वासुदेव इस पर प्रसन्न हैं । इसके बाद भरतमुनि द्वारा उक्त भरतवाक्य से नाटक की परिसमाप्ति होती है।

चैतन्यचन्द्रोदयनाटकम्--(१५७६ ई०) ——

१६ वीं शताब्दी में `चैतन्यचन्द्रोदय`[१] नामक नाटक `परमानन्ददाससेन` द्वारा की गई। किंवदन्ती यह है कि स्वयं श्रीचैतन्यमहाप्रभु ने इन्हें `कर्णपूर` उपाधि से विभूषित किया था। इस नाटक में भी दस अङ्क हैं। इस नाटक की पृष्ठभूमि चैतन्य महाप्रभु की दार्शनिक विचारधारा है। इसके सभी पात्र प्रतीकात्मक नहीं हैं। इस प्रकार यह एक मिश्रित प्रतीक नाटक है।

पात्र-तालिका

सामान्य पात्र—

१. सूत्रधार
२. वैतालिक
३. पारिपार्श्विक
४. कंचुकी
५. दौवारिक
६. विदूषक

अमूर्त पात्र—

१. कलि
२. अधर्म
३. अद्वैत
४. विराग
५. भक्तिदेवी
६. मैत्री
७. प्रेमभक्ति

मूर्त पात्र--

१. भगवान
२. श्रीवास
३. नारद
४. श्रीकृष्ण
५. गोविन्द
६. ब्रह्मानन्द
७. गन्धर्व
८. सुबल
९. राधा
१०. पुरुष
११. जरती
१२. शती
१३. गङ्गादास
१४. गदाधर
१५. मुरारि
१६. हरिदास
१७. मुकुन्द
१८. जगदानन्द
१९. नित्यानन्द
२०. गोपीनाथाचार्य
२१. सार्वभौमभट्टाचार्य
२२. चन्दनेश्वर
२३. दामोदर
२४. रामानन्द
२५. श्रीकृष्णचैतन्य

२६. रत्नाकर
२७. विश्वम्भर
२८. वक्रेश्वर
२६. गन्धर्वनामा
३०. गङ्गा
३१. ललिता
३२. कुसुमासव ।
३३. मल्लभट्ट ।

'स्वानन्दावेशो' नाम प्रथम अङ्क की प्रस्तावना में सूत्रधार श्रीचैतन्य-महाप्रभु के जन्म का प्रयोजन बताता है। उसके बाद कलियुग, अधर्म से चैतन्य महाप्रभु की उत्पत्ति के सम्बन्ध में अपना दोभ प्रकट करता है और श्रीवास, हरिदास इत्यादि का परिचय उनके पार्षद के रूप में देता है। दोनों श्रीवास के घर में लगे हुए सब व्यक्तियों को अपनी और आते हुए देखकर अधर्म को कलियुग छिप जाने का आश्रय बताता है। इस प्रकार विष्कम्भक समाप्त होता है।

तदनन्तर रङ्गमंच पर विश्वम्भर और अद्वैत आदि अवतीर्ण होते हैं। श्रीवास मृत्यु से पूर्व की अपनी कथा बताता है। फिर भगवान मुरारि की भक्तिहीनता और मुकुन्द की चतुर्भुज परायणता का निरूपण करते हैं। भगवान् विश्वम्भर जगन्नाथ की पत्नी शची से उसके पुत्र के रूप में अपने अवतार की बात प्रकट करते हैं। इसके बाद सब भगवान श्रीकृष्ण का कीर्तन करने लगते हैं।

द्वितीय अङ्क—इसका नाम 'सर्वावतारदर्शन' है। इस अङ्क में पहले विराग संसार की वर्तमान दशा पर दोभ प्रकट करता है। फिर भक्तिदेवी

का प्रवेश होता है। दोनों के बीच में श्री चैतन्य की ईश्वररूपता के सम्बन्ध में वार्तालाप होता है। इसी सन्दर्भ में भक्तिदेवी चैतन्य की बुद्ध, वराह, नरसिंह इत्यादि मुख्यावतारों के क्रम से चैतन्य के षड्भुज रूप का प्रदर्शन भक्तिदेवी बताती है। दोनों निकल जाते हैं। फिर भगवान् विश्वम्भर, अद्वैताचार्य के बीच में वार्ता होती है। अद्वैताचार्य को भगवान अपनी प्रतिज्ञानुसार अपने महामोहक श्रीकृष्णास्वरूप का दर्शन कराते हैं। वह आनन्द निमग्न होता है। वे फिर सबलोग चैतन्य की माता शची देवी की रसोई में भोजन करने के लिए प्रस्तुत होते हैं।

तृतीय अङ्क— इसका नाम 'दानविनोद' है। मैत्री और प्रेमभक्ति का प्रारम्भ में अलाप होता है जिसमें प्रेमभक्ति, विवेक, मैत्री इत्यादि की प्रतीकात्मक वंशावली का निरूपण किया जाता है। चैतन्य की कृष्णालीला इत्यादि का रहस्य स्फुट किया जाता है। इसी अंक में श्रीकृष्ण की रासलीला सम्बन्धी एक नाटक भी खेला जाता है जिसमें श्रीकृष्ण का राधा से दान मांगने का अलौकिक चित्रण किया गया है। इसका पर्यवसनान आनन्द की पराकाष्ठा में होता है और नित्यानन्द स्वरूपत: नृत्य करता है।

चतुर्थ अङ्क-- 'संन्यासपरिग्रह' नामक चौथे अंक में आचार्य रत्न की पत्नी एवं शची तथा भगवान विश्म्भर की वार्ता होती है। उसके बाद श्रीवास के गृह में सबका कीर्तन होता है। वही रात को कीर्तन समाप्त होने के पश्चात् विश्वम्भरदेव संन्यास ग्रहण करने के लिए चुपचाप आचार्यरत्न और नित्यानन्द को लेकर चल पड़ते हैं। शेष लोग जागने पर भांति-भांति से विलाप करते हैं। कुछ समय बाद आचार्यरत्न वापस आकर सबको सूचना देते है कि केशवभारती से भगवान विश्वम्भर ने सन्यास की दीक्षा ले ली है। और उनका सन्यासाश्रम का नाम कृष्णचैतन्य हो गया है। मुझे सब लोगों को

सूचना देने के निमित्त वापस भेज दिया गया है। इसके बाद अद्वैत, प्रभृति, उनकी माता भगवती शची को आश्वस्त करने के लिए जाने की योजना करते हैं ।

पंचम अङ्क— 'अद्वैतपुरविलासो' नाम पांचवें अङ्क में चैतन्यदेव संन्यासाश्रम से सिद्ध परा आत्मनिष्ठा को प्राप्त करके इतस्त: परमहंस रूप में घूमते हैं। कुछ बालकों के हरि हरि कहने से वे कृष्णप्रेम में विह्वल होते हैं और वृन्दावन पहुंचने के लिए चल पड़ते हैं। नित्यानन्द जो उनके पीछे लगा है, उनको धोखा देकर गङ्गा को ही जमुना बताता है और दोनों उसी में स्नान करते हैं। नित्यानन्द सूचना भेज देता है अद्वैतादि को। अद्वैत आता है। सप्रेम मिलन के पश्चात् भगवान् चैतन्य उसके साथ उसके घर जाते हैं । नवद्वीप में उसके घर सूचना भेज दी जाती है। शची और श्रीवास के साथ असंख्य जनसमुदाय भगवान के दर्शनार्थ उमड़ पड़ता है । अद्वैत के घर में भगवान ने सन्यासाश्रम की प्रथम दीक्षा ग्रहण की और यहीं पर शची इत्यादि सबसे यथायोग्य सस्नेह , सानन्द मिलन होता है।

षष्ठ अङ्क— 'सार्वभौमानुग्रह' नामक छठें अङ्क के प्रवेशक में समुद्र और गङ्गा का संवाद है जिसमें सूचना मिलती है कि नित्यानन्द , जगदानन्द और मुकुन्द के साथ श्रीकृष्णचैतन्य वृन्दावन के लिए चल पड़ते हैं। वे बीच में कटक नामधारी राजधानी में भी रुके। दूसरे दिन पुण्डरीक-नयन (जगन्नाथ) का दर्शन करना चाहा। वहां पर गोपीनाथाचार्य से सार्वभौम-भट्टाचार्य के शिष्यों से उनकी ईश्वरता के सम्बन्ध में शास्त्रार्थ होता है । श्रीजगन्नाथ स्वामी का दर्शन होता है। श्रीचैतन्यदेव, सार्वभौमभट्टाचार्य को अपना ऐश्वर्य प्रदर्शित करते हैं। चमत्कृत भट्टाचार्य के द्वारा शास्त्रों की, विशेषकर शाङ्कर-मतवाद की तर्कसंगत खिल्ली उड़ाई जाती है। अन्तत: सिद्ध किया जाता है कि मूर्त आनन्द ही कृष्ण है। श्रीकृष्णचैतन्य की वन्दना वह

भगवान के रूप में करता है ।

सप्तम अङ्क— 'तीर्थाटन' नाम के सातवें अङ्क में राजा गजपति और भट्टाचार्य का श्रीचैतन्यदेव प्रशंसापरक संलाप होता है । श्रीचैतन्यदेव को गोदावरी तट तक भेजने के लिए गए हुए विप्रों का आगमन होता है । वे बताते हैं कि कूर्मक्षेत्र में कूर्मनाम के द्विज से वासुदेव नाम के कुष्ठ रोगी से भगवान मिले । फिर नृसिंह क्षेत्र में जाकर भगवान नृसिंह का दर्शन किया । फिर गोदावरी तीर पर वैष्णवभक्त रामानन्दराय से भगवान चैतन्यदेव का मिलन हुआ । इसके बाद भक्तिविषयक प्रश्नोत्तर जो कि रामानन्द और भगवान के बीच में हुआ था, उन विप्रों के द्वारा निवेदित किया गया । विप्रों को पारितोषिक देकर राजाने विदा किया । तब तक में दौवारिक ने सूचना दी कि कर्णाटक देश के राजा का उपहार लेकर उनके अमात्य मल्लभट्ट आए हुए हैं । मल्लभट्ट ने भी श्रीकृष्णचैतन्यदेव के गौरवशाली चरित्रों की चर्चा इस दरबार में की । तब तक में अनेक तीर्थों का भ्रमण करके भगवान् श्रीकृष्ण चैतन्य कटक पधारे ।

अठवां अङ्क— 'प्रतापरुद्रानुग्रह' नामक आठवें अङ्क में श्रीकृष्ण-चैतन्य, काशीमिश्र के घर में ठहर कर श्रीजगन्नाथ स्वामी का दर्शनकरके आनन्दित होते हैं । यहीं पर दामोदरस्वरूप , गोविन्द , ब्रह्मानन्दभारती आदि श्रीकृष्णचैतन्य का दर्शन करते हैं । समय पाकर सार्वभौम राजा गजपति की चैतन्यदर्शनोत्कण्ठा का निवेदन करते हैं । श्रीचैतन्य इस पर अनिच्छा प्रकट करते हैं । सार्वभौम राजा को एक युक्ति बताते हैं । इसी बीच में नवद्वीप के लोग भी श्रीकृष्णचैतन्य का दर्शन करने के लिए आ पहुंचते हैं । तपस्वी भेष धारण करके राजा किसी प्रकार भगवान का दर्शन करता है । फिर भगवान सब जान जाते हैं और उसको प्रेम से समालिङ्गित करते हैं ।

'मथुरागमन' नामक नवम अङ्क में एक किन्नर युगल के द्वारा भक्तजनों की प्रीति का चित्रण किराया जाता है। इसके बाद चैतन्यदेव का मथुरागमन होता है। मार्ग में पड़ने वाले क्रूरकर्मा, दुष्टजन उनके वंशवद होकर उनकी शरण आते हैं। मार्ग में कुछ दिन वे नवद्वीप में फिर रहते हैं। कुछ दिन वृन्दावन में रह करके फिर वापस होते हैं। वाराणसी में ठहरते हैं और फिर जगन्नाथ धाम वापस आ जाते हैं।

'महामहोत्सव' नामक दशम अङ्क में भी सिवाय भक्तजन के समागम के कोई नई बात नहीं है। शिवानन्द नामक उनके पार्षद के द्वारा की गई स्तुति और सेवा का चमत्कारिक वर्णन है। सब भक्तजन इकट्ठे होते हैं। कीर्तन होता है और चैतन्यदेव की प्रतिष्ठा महाप्रभु के रूप में पूर्णरूपेण जम जाती है। श्री जगन्नाथ के रथयात्रा की तैयारी धूम-धाम से होती है। राजा गजपति की देवियाँ भी दर्शन करती हैं। रथयात्रा होती है और उसी प्रसङ्ग में गोपियों के कृष्ण-प्रेम का सरस चित्रण भी तुलनात्मक दृष्टि से अनेक पात्रों के द्वारा किया जाता है। अन्त में अद्वैत के मुख से भरतवाक्य कहलाय जाता है और नाटक समाप्त होता है।

अमृतोदयम् (१६ वीं शताब्दी) —

यह नाटक भी प्रतीकात्मक शैली में लिखा गया है। इसके लेखक गोकुलनाथ हैं जो मैथिल हैं।[१] सोलहवीं शताब्दी में इसकी रचना हुई। इस नाटक की आधारभूमि न्यायदर्शन है। इस नाटक में शास्त्रीय पदार्थ और शास्त्रकार लोग पात्र बनाये गए हैं। इस नाटक में पांच अङ्क हैं।

---

१. श्रीमद्गोकुलनाथोपाध्यायकृतमअमृतोदयम्, काव्यमाला - ५६

म० म० गोकुलनाथोपाध्याय का समय १६५० ई० के बाद ही ठहरता है।[1]

पात्र-तालिका

सामान्य पात्र—

१. सूत्रधार	—	राग नामक नट
२. नट	—	राग को सारी स्थिति का बोध कराने वाला
३. कंचुकी	—	प्रतिबन्ध नामक न्याय राजा के दरबार का
४. विदूषक	—	—
५. चेटी	—	साधनसिद्धि
६		

पुरुष पात्र—

१. अपवर्ग	—	श्रुति द्वारा राज्याभिषिक्त पात्र
२. परामर्श	—	न्याय का पुत्र

---

१. श्री गोकुलनाथोपाध्याय ने एक पुस्तक `मास-मीमांसा` लिखी है जिसकी पुष्पिका में — `इति महामहोपाध्याय—श्रीगोकुलनाथशर्मप्रणीत- मासमीमांसा-परिपूर्णा। शाके १६८० ।भाद्रकृष्णा दशमी चन्द्रेऽखिलदिदं रजनीनाथ :` `मासमीमांसा` उनके प्रौढ़ावस्था की रचना होगी। अत: उनकी स्थिति १६५०ई० के बाद मानने में कुछ आपत्ति नहीं होनी चाहिए।

पुरुष पात्र—

३. निर्वेद	—	संसार की असारता से जन्य भाव
४. पतंजलि	—	योग दर्शन के प्रवर्तक ।
५. जाबालि	—	पतंजलि-शिष्य
६. महाव्रत कापालिक	-	भैरवभक्त कापालिक
७. निर्जर	—	जैन दर्शन में कहा गया नियम
८. पुरुष	—	जीव मुमुक्षु
९. पुरुषोत्तम	—	ईश्वरजगत्कारण
१०. बुद्ध-मार्ग	—	बुद्ध द्वारा उपदिष्ट मुक्ति मार्ग
११. अर्हत्सिद्धान्त	—	जैन मत
१२. पाशुपतसिद्धान्त	--	शैवदर्शनोक्त नियम
१३. वैष्णवसिद्धान्त	—	श्रीकृष्ण भक्तिशाखा के दर्शन मत
१४. कर्मकाण्ड	--	यज्ञादि से मोक्ष-परक सिद्धान्त
१५. सांख्ययोग	--	सांख्य, योग दर्शन मत ।

स्त्री-पात्र-तालिका—

१. श्रुति	—	अपवर्ग को राज्याभिषिक्त करने वाली स्त्री
२. आन्वीक्षिकी	—	श्रुति की सहायता करने वाली प्रधान रूपेण
३. कथा	—	विप्रतिपत्ति द्वारा पक्षता को प्रेरित करने वाली ।
४. पक्षता	—	संशय तथा अनुमितीच्छा की औरस-निजा कन्या ।

स्त्री-पात्र-

५. श्रद्धा	-	पुरुष को ज्ञान की ओर ले जाने वाली
६. विविदिषा	-	ज्ञान से पूर्व होने वाली जिज्ञासा
७. प्रथम-सैश्वरमीमांसा-		रामानुजमत
८. द्वितीया-सैश्वरमीमांसा-		शांकरमत
९. ब्रह्मविद्या	-	उपनिषद्
१०. मीमांसा	अदृष्टवादी	जैमिनी मत ।
११. सरस्वती	-	विद्या अधिष्ठात्री

'श्रवणासम्पत्ति' नामक पहले अङ्क के प्रवेशक में शरीरस्थ सकल प्रवृत्ति का मूल राग संसारनाटक का सूत्रधार है। प्रस्तावना में आकाशवाणी द्वारा राग के आक्रामक विराग की भी बात कही गयी है। राग इस बात से डरकर मोक्षाभिमुख होता है। इसी समय बौद्धसेना श्रुति की प्रमिति नामक कन्या को अपहरण करने के लिए आक्रमण करती है। आन्वीक्षिकी परविद्याओं के साथ बौद्धों के हाथ में पड़ी हुई प्रमिति को छुड़ाने के लिए तत्पर होती है।

इसके बाद आन्वीक्षिकी बौद्धों से अपहृत प्रमिति को छुड़ा लाती है और इसके छुड़ाने में किये गये प्रयत्नों का वर्णन वह श्रुति से करती है। इसी सन्दर्भ में वह बताती है कि राक्षसी सम्भावना आकर प्रमिति को निगल जाना चाही पर वह मीमांसा द्वारा मार भगायी गयी। दोनों ओर की सेना तैयार थी। इसी बीच कणाद ने आकर उसको बौद्धों से झगड़ने से विरत करना चाहा परन्तु आन्वीक्षिकी उनकी बात नहीं मानी। कापिली भी आन्वीक्षिकी की बात से सहमत होकर प्रमिति के उद्धार के लिए अग्रसर हुई, परन्तु वह शत्रुओं द्वारा घेर ली गयी। दोनों सेनाओं में घमासान युद्ध हुआ। गौतम, वात्स्यायन, उद्योतकर तथा वाचस्पति आन्वीक्षिकी के प्रधान योद्धा रहे।

प्रमितिकेसुरक्षित रूप में छुड़ा लिए जाने पर वह पुरुष को अर्पित कर दी जाती है परन्तु पुरुष उस पर विश्वास नहीं करता है। तदनन्तर न्याय पुत्र परामर्श के साथ पक्षता के संयोग कराने की आज्ञा कथा को श्रुति के द्वारा दे दी गयी।

द्वितीय अङ्क— इसका नाम `मननसिद्धि` है। इसमें चेटी और कंचुकी के कथनोपकथन में पक्षता के प्रति परामर्श की अनुरक्तता की बात कही गयी है। उसे तृतीय भूमिका पर पक्षता का दर्शन होता है। इसी बीच चार्वाक का उदयन के साथ युद्ध दिखाया गया है। कुमारिल और प्रभाकर आकर उदयन से युद्ध से विरत होने को कहते हैं। उदयन के न मानने से कुमारिल और प्रभाकर ने पक्षता तथा परामर्श को सन्तति के पैदा होते ही समाप्त हो जाने काशाप दे देते हैं। उदयन की युद्ध में विजय हुई। चार्वाक के मित्र सोम-सिद्धान्त, कापालिक आदि भी परास्त हुए और भाग गए।

तृतीय अङ्क— इस अङ्क का नाम `निदिध्यासनसिद्धि` है इस अङ्क में श्रद्धा ने निर्वेद से पूछा कि श्रुति काम, लोभ को कुछ जीतने का उपाय कर रही है या नहीं? निर्वेद ने स्वीकृत सूचक उत्तर दिया। फिर पुरुष, अनुमिति और प्रमिति से युक्त हुआ। संयम की दुहिता सिद्धि को भी नियमों ने पुरुष से मिला दिया। सिद्धि से पुरुष के मिल जाने से महामोह और उसके परिजन भी भाग गए। श्रुति के महामोह के प्रति शत्रुता करने के विषय में जाबालि (पतंजलि शिष्य) ने जिज्ञासा प्रकट की। पतंजलि ने अपवर्ग को राज्याभिषिक्त करने का ही कारण बताया।

चतुर्थ अङ्क — इसका नाम `आत्मदर्शन` है। पुरुष की समाधिसिद्धि होती है वह पुरुषोत्तम के साक्षात्कार से जगत् के तत्त्व को पहचान जाता है। पुरुष, सृष्टि, स्थिति, संहार का वास्तविक परिचय प्राप्त कर मुक्ति के द्वार पर स्थित हो जाता है।

पंचम अङ्क— इसका नाम `अपवर्गप्रतिष्ठा` है । पुरुष मोक्ष प्राप्त करता है । श्रवणादि क्रिया-कलाप द्वारा प्राप्त अपवर्ग के स्वरूप में विवाद होता है । बुद्धमार्ग , जैनमार्ग , पाशुपतमार्ग , वैष्णावमत , मीमांसामत , रामानुजमत, सांकरमत, सांख्ययोगमत, आदि अपने-अपने सिद्धान्त के अनुसार स्वीकृत मोक्ष को श्रुति के समक्ष रखते हैं । वह सबका खण्डन करती है । श्रुति निर्वाण नामक (आन्वीक्षिकी समर्थित) मोक्ष को अपवर्ग पद पर प्रतिष्ठित करती है । अपवर्ग प्रतिष्ठा को प्रबन्ध रूप में रखने को गोकुल-नाथ नियुक्त किए जाते हैं। न्याय मत समर्थित अपवर्ग की प्रतिष्ठा कराने के कारण इसे `अपवर्ग प्रतिष्ठा` नाम दिया गया ।

धर्मविजयनाटकम् (१६ वीं शताब्दी) —

इस प्रतीक नाटक की रचना सोलहवीं शताब्दी में भूदेव शुक्ल ने की ।[१] प्रस्तुत नाटक की आधारभूमि तत्कालीन धार्मिक परिस्थितियों का

---

१. (अ) श्रीमद्भूदेवशुक्ल विरचितंधर्मविजयनाटकम् ।

— सरस्वती भवन लाइब्रेरी,बनारस ,१६३० ई०

(ब) सूत्रधार — .... भूदेवशुक्लग्रथितेन नवेन धर्मविजयनाम्ना नाटकेन सम्भावनीयेयं स्मार्तसभेति............ ...।

— धर्मविजयनाटकम्, प्रस्तावना

(स) ...... भूदेवेनाऽपि वैक्रमीयषोडशशतके भाव्यमिति वैक्रमीयं षोडशं शतकमेतत्समयो भवितुमर्हति ।

—धर्मविजयनाटकम् , उपोद्घात, पृ० ६

चित्रण और शिवभक्ति का प्रतिपादन करना है। इस नाटक में पांच अङ्क है।

पात्र-तालिका

सामान्य पात्र—

१. सूत्रधार
२. नटी

पुरुष पात्र—

१. धर्म (राजा) -
२. अधर्म (प्रतिनायक)
३. वर्णशङ्कर
४. व्यभिचार
५. अनाचार
६. पौराणिक
७. वैद्य
८. गणक
९. स्मार्त
१०. प्राडविवाक
११. व्यवहार
१२. सत्य, अहिंसा आदि
१३. प्रायश्चित
१४. कोष्ठपाल।

स्त्री पात्र-

१. ऊर्ध्वगति
२. नीच संगति
३. परस्पर प्रीति
४. पण्डित संगति
५. परीक्षा
६. दया
७. शान्ति
८. कविता
९. प्राकृत
१०. विद्या
११. विधवा

<u>कथावस्तु</u>—

प्रथमअङ्क — इसमें प्रस्तावना के पश्चात् वर्णशंकर और उसकी पत्नी नीचसंगति का वार्तालाप होता है जिसमें वर्णशंकर समझाता है कि धर्म विरोधिनी कृपणता , मलिनता, नृशंसता और दुर्दान्तता के प्रति अपना विश्वास प्रकट करता है। और अनुक्रम से कलयुग की वर्णाश्रम व्यवस्था की चर्चा करता है। फिर रंगमंच पर राजाधर्म और उसकी पत्नी ऊर्ध्वगति का प्रवेश होता है। वह कुलांगनाओं के पवित्र चरित्र का और वर्णाश्रम व्यवस्था का सुन्दर वर्णन करता है। और वर्तमानकालिक दु:ख को प्रकट करता है तथा पुराण-श्रवण इत्यादि को अधर्म नामक रिपु को जीतने के लिए तीर्थाटन इत्यादि के लिए चला जाता है।

द्वितीय अङ्क— दूसरे अङ्क में अधर्म का चर व्यभिचार, परस्परप्रीति नामक दृष्टिराग की कन्या के साथ काशी में गृहस्थ जीवन बिताने के लिए आता है और काशी-वासियों पर पड़े हुए अपने प्रभाव का प्रदर्शन करता है। काशीवासियों की व्यभिचारपरायणता का वर्णन किया गया है। सिन्धु, काश्मीर, कुरुक्षेत्र इत्यादि पश्चिमी प्रदेशों से आए हुए अनाचार के द्वारा उन सभी प्रदेशों में प्रचलित धर्महीनता और दाम्भिकता का वर्णन किया गया है। व्यभिचार और परस्पर-प्रीति, अनाचार के साथ भावी विलास व्यवस्था को मनमैमन ते कर लेती है। राजा अधर्म परमप्रिया भैरवी, यातना का उपभोग करने के लिए पधारते हैं। कूट पौराणिक और बाल-विधवा मिलते हैं।पौराणिक और अधर्म भांति भांति की अभिसन्धि करते हैं।

तृतीय अङ्क— इस अङ्क में वृक्ष की शाखा से लटकती हुई रस्सी के फन्दे से आत्महत्या की चेष्टा करती हुई पण्डितसंगति का प्रवेश होता है। परीक्षा उसे बन्धन से छुड़ाती है। उसके बाद धूर्त्त, वैद्य, ज्योतिषी, कर्मकाण्डी की अज्ञता का भण्डाफोर परीक्षा के द्वारा किया जाता है।

चतुर्थ अङ्क— इस अङ्क में प्राडविवाक का प्रवेश होता है। उसके बाद व्यवहार और दण्ड, अनृत को दण्ड देने के लिए सत्यको नियुक्त करते हैं। हिंसा इत्यादि के उन्मूलन के लिए अहिंसा इत्यादि को भेजते हैं। व्यवहार सबको सूचित करता है कि काशी प्रथित अधर्म प्रयाग में अपना खेमा डाल कर धर्म से युद्ध करना चाहता है। व्यवहार पांचों महापापों को मृत्यु दण्ड देता है। कोष्ठपाल उनका वध करने के लिए ले जाता है।

पंचम अङ्क— इस अङ्क में प्रायश्चित और गङ्गास्नान का प्रवेश होता है। दोनों के वार्तालाप में धर्म और अधर्म के सैनिकों के युद्ध का विवरण दिया जाता है। राजा धर्म की विजय होती है। उनकी प्रशंसा

करती हुई कविता प्रविष्ट होती है। सभी विद्याओं और प्राकृत का भी प्रवेश होता है। नेपथ्य से उपासना सब को उपदेश देती है कि सब शास्त्रों को नमस्कार करके भगवान शंकर का ध्यान करना चाहिए। विद्यायें भी इस बात का अनुमोदन करती हैं। भरत वाक्य के साथ नाटक की समाप्ति होती है।

जीवानन्दनम्—

'जीवानन्दनम्' नाटक एक आयुर्वेद प्रधान प्रतीक शैली में लिखा गया नाटक है। इसके भी लेखक आनन्दराय मखी हैं [१]। सत्रह सौ पच्चीस (१७२५ ई०) ईसवी में अपने युद्धकौशल से इन्होंने मधुरा और पुदुकोटा राज्य की संयुक्त सैन्य को परास्त किया था। परन्तु विद्वानों का ऐसा अनुमान है कि इन्होंने 'जीवानन्दनम्' की रचना अपने आश्रयदाता 'सहाजिराज' जिनका राजत्वकाल

---

१. आनन्दराय-मखिना प्रणीतम् — जीवानन्दनम्।

१६८४ ई० से १७१० ई० तक माना जाता है — के समय में ही की था अर्थात् १७१० ई० के पूर्व ही की थी ।[१]

पात्र तालिका

नायक के पक्ष में:-

१. जीवराजा	—	मुख्यनायक
२. बुद्धि	—	जीवराजा की पत्नी
३. विज्ञानशर्मा	—	त्रैवर्गिक मन्त्री
४. ज्ञान शर्मा	—	अपवर्ग मन्त्री
५. धारणा	—	बुद्धि-सखी
६. गार्गी	—	धारणा-नामान्तर
७. प्राण	—	प्रतीहारी
८. विचार	—	नागरिक
९. किंकर	—	विचार-साथी
१०. वैतालिक	—	वंदना करने वाले
११. विदूषक	—	राजा का नर्म सचिव
१२. शिवभक्ति	—	
१३. स्मृति, १४. श्रद्धा, १५. परमेश्वरी	—	जीव के पक्ष के
१६. राजमृगाङ्क आदि अनेक औषधियां	—	जीव के सहायकगण

---

१. जीवानन्दनम् —भूमिका, स०मै० दुरैस्वामी अय्यंगार, पृ० ११-१२

प्रतिनायक के पक्ष में —

१.	राजयक्ष्मा	–	प्रतिनायक
२.	विषूची	–	तत्पत्नी
३.	पाण्डु	–	यक्ष्मा का मन्त्री
४.	सन्निपात्र	–	सेनापति
५.	श्वास	–	किंकर
६.	कास		
७.	छर्दि	–	कास पत्नी
८.	कण्ठकण्डूति	–	छर्दिसपत्नी
९.	गलगण्डक		
१०.	कुष्ट		
११.	उन्माद		
१२.	प्रमेह	–	यक्ष्मा के सह्योगीगण
१३.	अर्श		
१४.	अश्मरी		
१५.	कर्णमूल		
१६.	कामला		
१७.	शूल		
१८.	गद (हृद्रोग)	–	चर (यक्ष्मा का)
१९.	अपथ्यता		
२०.	अतिबुभुक्षा, वात, पित्त कफ आदि दोष		,,
२१.	व्याघोष	–	पाण्डु का सेवक ,गुप्तचर
२२.	मत्सर	–	
२३.	काम	—	
२४.	क्रोध तथा अनेक अन्य रोग		यक्ष्मा के सहायक
२५.	वल्लभपाल	–	यक्ष्मा का सेवक

कथावस्तु—

प्रथम अङ्क— इसमें विज्ञान शर्मा नामक (जीवराजा का मन्त्री) धारणा नाम की स्त्री को अपने प्रतिद्वन्द्वी राजयक्ष्मा के विषय में जानने के लिए गुप्तचर बनाकर राजा की आज्ञा से भेजता है और वह भी तापसी भेष में शत्रु वृत्तान्त को जानकर मन्त्री विज्ञानशर्मा को उससे अवगत कराती है । मन्त्री के द्वारा राजयक्ष्मा के देह नामक पुर पर आक्रमण करके प्रतिकूलता की बात भी जीवराजा को बताती जाती है । साथही प्रतिपक्षियों के पराजय का उपाय भी इसके द्वारा बताया जाता है । जीवराजा तद्हेतु पुण्डरीक पुर में शिव और उमा की उपासनाहेतु प्रविष्ट होता है ।

द्वितीय अङ्क—इस अङ्क में राजयक्ष्मा अपने भृत्य , कास को जीवराजा के विषय में जानने के लिए भेजता है । मार्ग में कास की भेंट उसकी पत्नी छर्दि से हो जाता है और दोनों में कुछ नर्म संलाप होता है । इसके बाद पाण्डु को जब यह बात ज्ञात होती है कि जीवराजा के द्वारा संकट उपस्थित हो रहा है, तब वह अपने सैनिक सन्निपातकुष्ठ आदि के साथ उसको पराजित करने का उपाय सोचता है । कर्णमूल नामक गुप्तचर से भी जीवराजा की बात पाण्डु को ज्ञात होती है । पाण्डु जीवराजा के पुर को घेर कर उसको जीतने के लिए अपने रोग सैनिकों को भेजता है ।

तृतीय अङ्क—इसमें यक्ष्मा का हृद्रोग नामक गुप्तचर जीवराजा के पुर में प्रवेश करता है । वहां रात को भ्रमण करता हुआ यह उसके विचार नामक नगराध्यक्ष और किंकर से पकड़ लिया जाता है । पाण्डु से प्रेषित अनेक रोगरूप सैनिक जीवपुर पर आक्रमण करना चाहते हैं । इसके बाद जीवराजा का प्रवेश होता है और वह शिवोपासना का वर्णन करता है । परमेश्वर की आज्ञा से औषधियों का मालिक चन्द्रमा दिव्य औषधियों को देता है ।

चतुर्थ अङ्क—इसमें यक्ष्मा के पक्ष वाले जीवराजा के ऊपर कूट रचना का प्रयोग किया है, इस वृत्तान्त को विज्ञानशर्मा मंत्री विदूषक के मुख से सुना है। फिर विदूषक के भोजन-प्रियता का वर्णन किया गया है। फिर जीवराजा की शिवभक्ति का स्मरण, श्रद्धा आदि का राजा से वार्तालाप, राज्ञी बुद्धि के साथ उद्यान-गमन, राजा का देवी के साथ झूला झूलना, सायंकालआदि का वर्णन किया गया है।

पंचम अङ्क—इसमें शिव के ध्यान में जीवराजा संलग्न होते हैं। पाण्डु, कामादि को विघ्न करने को भेजता है। मत्सर नामका यक्ष्मा का गुप्तचर जीवराजा के सेवकों से पकड़ लिया जाता है और छोड़ भी दिया जाता है। मत्सर अत्यन्त खिन्नावस्था में अन्य कुष्ट आदि यक्ष्मा के नौकरों को मार्ग में देखता है। उनमें बातचीत हास्यास्पद तरीके से करायी गयी है। मत्सर अपने वृत्तान्त को सुनाता है। फिर अपथ्यता को जीवराजा को मार्ग से विचलित करने के लिए भेजता है। मत्सर के द्वारा जीवराजा के उपायों को सुन कर यक्ष्मा भी क्रोध से उद्दीप्त होकर उसपर आक्रमण करने के लिए तैयारी करता है।

षष्ठ अङ्क—इसमें पाण्डुके द्वारा नियुक्त रोग समूह जीवराजा के पुर पर आक्रमण करते हैं रोगसमूह और औषधिसमूह के तुमुल युद्ध का कर्म और काल पात्र के द्वारा वर्णन कराया गया है। इसी समय ज्ञानशर्मा नामक मन्त्री राजाजीव को मोक्ष की ओर प्रेरित करता है। विज्ञानशर्मा मन्त्री राजा की विजय के प्रति आश्वासन देता है। इसीबीच पाण्डुप्रेषित भस्मक रोग से जीवराजा पीड़ित होता है। बसन्तकुसुमाकर इत्यादि औषधियों के रूप में बलवान सैनिक सब मारे जाते हैं। दु:खी हृदयवाला यक्ष्मा उसके बाद मत्सर की सलाह लेता है और कूट-युद्ध करने का निश्चय करके विषूची और मत्सर के साथ बाहर जाता है।

सप्तम अङ्क — इस अङ्क में शिव की कृपा से कुछ अवशिष्ट प्रतिपक्षी सैनिकों को जीवराजा नष्ट कर देता है। तदनन्तर प्रथमगणों से घिरे हुए उमा सहित शिव, जीवराजा के पास स्वयं आते हैं और योग शक्ति का उपदेश करते हैं। जीवराजा मुक्त हो जाता है। इस प्रकार पूर्णत: रोग-रूप अनिष्टों को नष्ट करके, जीव में एकान्तिक शंकर-भक्ति को उत्पन्न करते हैं। इस प्रकार भरत वाक्य से अङ्क समाप्त होता है ।

विद्यापरिणयननाटकम् – (१८ वीं शताब्दी)

विद्यापरिणयनम् नामक प्रतीक नाटक की रचना १८ वीं शताब्दी में आनन्दराय मखी[1] ने की। इस नाटक की रचना में कुल सात अङ्क हैं। अद्वैतदर्शन प्रधान ग्रन्थ है। प्रस्तुत नाटक पर प्रबोधचन्द्रोदय संकल्पसूर्योदय इत्यादि का पूर्णत: प्रभाव पड़ा है।[2]

---

१. (अ) आनन्दरायमखीविरचित विद्यापरिणयनम्, काव्यमाला ३९

(ब) संस्कृत साहित्य का इतिहास —पृष्ठ ६१९
बलदेव उपाध्याय ने भी अठारहवीं शताब्दी पूर्वार्द्ध ही इनका समय स्वीकार किया है ।

२. कृष्णमिश्रप्रभृतिरत्र 'प्रबोधचन्द्रोदय' इति 'संकल्पसूर्योदय' इति च न्यवन्धि नाम बहुधाप्राचीनै: ....

— विद्यापरिणयनम्, अंक १, पृ० ३

कथावस्तु—

प्रथम अङ्क—इस अङ्क में प्रस्तावना के बाद शिवभक्ति और निवृत्ति का प्रवेश होता है। शिवभक्ति के माध्यम से निवृत्ति, जीवराज से विद्या को मिलाना चाहती है। बीच में अविद्या, विषय-वासना, प्रवृत्ति इत्यादि विघ्न उपस्थित करते हैं।

द्वितीय अङ्क—इसमें असूया और प्रवृत्ति के संलाप से सूचित किया जाता है कि जीवराजा को भक्ति, विरक्ति, निवृत्ति इत्यादि से बचाने के लिए अविद्या के द्वारा असूया भेजी गयी है। विषयवासना भी अविद्या की सहायता करती है। उसको भय है कि कहीं जीवराज शमदमादि के सम्बन्ध से विद्या से सम्पर्क न प्राप्त कर ले। प्रवृत्ति इत्यादि जीवराजा के नर्मसखा चित्त-शर्मा को वशीभूत करने की चेष्टा करती है।

तृतीय अङ्क—इस अङ्क में विरक्ति और निवृत्ति चित्रपट में आलिखित विद्या का चित्र जीवराजा को दिखाने ले जाती हैं। चित्तशर्मा एक लम्बे सम्भाषण में विद्या की प्रशस्ति राजा जीव के सामने करता है। राजा विद्या के चित्र को देखकर चकित हो जाता है। इसी बीच में प्रवृत्ति और विषय-वासना के साथ आई हुई अविद्या रानी विटपान्तरित होकर चित्तशर्मा और राजा इत्यादि के विद्या सम्बन्धी सस्पृह उद्गारों को सुनती है। अविद्या सामने उपस्थित होकर राजा की भर्त्सना करती है। राजा उसे इन्द्रजाल सिद्ध करता है। प्रसङ्ग शान्त हो जाता है।

चतुर्थ अङ्क— इस अंक में सत्सङ्ग और चित्तशर्मा (नर्मसचिव जीव का) का परस्पर कथोपकथन चलता है। सत्संङ्ग विद्या के वियोग की बात कहता है और जीवदेव से मिलने का संकेत भी बताता है। चित्तशर्मा

अन्योन्यानुराग से कार्य की सफलता की बात कहता है । फिर यथानिर्दिष्ट स्थान पर राजा के पास चित्तशर्मा पहुंचता है और सब वृतान्त राजा से कहता है । संकल्प पात्र जीवराजा को वेदारण्यमार्ग (संकेत स्थान) को बताता है । इसी चित्तशर्मा के द्वारा यह बताया जाता है कि मोह (प्रतिपक्षी) की ओर से हमलोगों को प्रलोभन में डालने के लिए लोकायत आदि पाषण्ड-सिद्धान्त भेजे गए हैं । चित्तशर्मा यह भी बताता है कि उसे यह बात वस्तुविचार से ज्ञात हुई । फिर वस्तुविचार रंगमंच पर प्रवेश करता है और जीवदेव के सहायार्थ शिवभक्ति द्वारा अपने को भेजे जाने की बात कहता है । फिर वस्तुविचार पात्र द्वारा ही बौद्ध, चार्वाक, जैन आदि का खण्डन कराया गया है । साथ ही अद्वैत की स्थापना करायी गयी है । फिर कलि, सोम-सिद्धान्त,तन्त्र , कापालिक और माध्वसिद्धान्तआदि का सम्भाषण हुआ है । कलि में श्रद्धा दास बनी है, इस बात की भी चर्चा की गयी है ।

पंचम अङ्क—इस अङ्क में विषय-वासना और अविद्या अपने परिवार काम, क्रोध, लोभ, हर्ष, मद, दम्भ, आदि को शम, दम आदि (जीव के सहयोगियों) को नष्ट करने की आज्ञा देती है । ये सब आज्ञा शिरोधार्य करते हैं । मोह उसमें सहकारी बनता है । पंचम अङ्क में ही उसके बाद चित्तशर्मा के साथ जीवराज का प्रवेश होता है । उस वेदारण्य में दोनों पक्षों के घात-प्रतिघात होते हैं । राजा,मोह से आक्रान्त होता है और फिर जग उठता है । अन्त में अविद्या परास्त होकर सपरिवार निकल जाती है । राजा विद्याप्राप्ति के लिए दृढ़ निश्चय होता है ।

षष्ठ अङ्क— इस अङ्क में राजा, विद्या के वियोग में दुखी हो रहा है । यदि दोनों में अनुराग है तो विलम्ब नहीं करना चाहिए, ऐसा चित्तशर्मा कहता है । फिर निवृत्ति और योग के आने पर अविद्या घबड़ाती है

और विषयवासना उसे धैर्य देती है। फिर चित्तशर्मा द्वारा अष्टांगयोग का वर्णन कराया गया है। योग भी शिवभक्ति द्वारा ही प्राप्त होता है — इस बात को योगपात्र द्वारा ही बतलाया गया है। और योग के कहने पर ही जीवराज सब अपने साथियों के साथ शिवभक्ति की ओर चल देते हैं। फिर अविद्या भयभीत होती है। तदनन्तर शिवभक्ति से विवेकादि तथा कामादि में युद्ध की बात निवृत्ति कहने जाती है।

सप्तम अङ्क — इसमें विविदिषा तथा निवृत्ति के कथनोपकथन के द्वारा कामादि की पराजय दिखाई गयी है और विविदिषा द्वारा शिव-भक्ति से मिलने की बात कही गयी है। फिर शिवभक्ति को चित्तशर्मा सहित राजा साष्टाङ्ग प्रणाम करते हैं। फिर शिवभक्ति, विरक्ति से उपनिषद के पास जाकर विद्या को पुण्डरीक भवन में लाकर शीघ्र ही विवाह की तैयारी करने को कहती है। भारत वाक्य के साथ नाटक समाप्त होता है।

जीवन्मुक्ति कल्याणम् — (१८ वीं शताब्दी)

'जीवन्मुक्तिकल्याण' नामक प्रतीक नाटक के लेखक श्री नल्लाध्वरी हैं इनके पिता का नाम बालचन्द्र दीक्षित है।[१] यह नाटक अद्वैतदर्शन प्रधान है। इसमें कुल पांच अङ्क हैं। सुभद्रापरिणय, शृंगारसर्वस्व, चित्तवृत्तिकल्याण [२]

---

१. 'जीवन्मुक्तिकल्याणनाम नाटकम्, यस्य कवि : ------------------' श्रीबालचन्द्रमखीन्द्रनन्दनो नल्लाध्वरी।' —प्रस्तावना से।

२. चित्तवृत्तिकल्याण नाटक प्रयास के उपरान्त भी मुझे समुपलब्ध न हो सका। इस नाटक के विषय में आचार्य बलदेव उपाध्याय ने अपने ग्रन्थ संस्कृत साहित्य के इतिहास(सप्तम संस्करण), पृ० ६२० पर उल्लेख किया है। वहां पर नल्लाध्वरी कृत 'जीवन्मुक्तिकल्याण' और 'चित्तवृत्तिकल्याण' इन दोनों नाटकों को प्रतीक नाटक स्वीकार किया गया है। संक्षिप्त में विषयवस्तु, पात्र आदि भी दिए गए हैं।

अद्वैतरसमंजरी आदि इनके ग्रन्थ हैं। श्री शाहा जी महाराज तन्जौर के आश्रित कवि नल्लाध्वरी भी थे। अत: आनन्दराय मखी के समकालीन ही प्रतीत होते हैं।[1]

पात्र-तालिका

सामान्य पात्र—

१. नटी
२. सूत्रधार

पुरुष पात्र—

१. जीवराजा (कथानायक)
२. रमणीयचरण (अमात्य)
३. असूयार्य
४. आपातबोध
५. मोह
६. काम
७. क्रोध
८. मद
९. मत्सर
१०. लोभ
११. आत्मगुण

---

१. जीवन्मुक्तिकल्याणम् — भूमिका पृष्ठ, १

पुरुष पात्र-

१२. शिवप्रसाद
१३. अनुग्रह
१४. श्रवणशर्मा

स्त्री-पात्र-

१. बुद्धि (नायिका)
२. सत्त्वशुद्धि
३. भवितव्यता
४. साधनसम्पत्ति
५. जिज्ञासा
६. जीवन्मुक्ति

कथावस्तु-

प्रथम अङ्क -प्रस्तावना के बाद जीवात्मरमणीयचरण का प्रवेश होता है। वह सत्त्वशुद्धि नाम की कन्या से जीव की सहायता करने को कहता है क्योंकि राजा जीव का पुन: पाणिग्रहण हो रहा है। अपनी प्रथम पत्नी बुद्धि को वे छोड़ना चाहते हैं। इसके बाद रंगमंच पर रथारूढ़ जीव और बुद्धि का प्रवेश होता है। बेचैन जीव रमणीयचरण का स्मरण करता है और निर्दिष्ट सत्त्वशुद्धि बुद्धि की गोद में बैठती है। रथवेग शान्त हो जाता है। विषमजागरिक नामक बनप्रान्त पीछे छूट जाता है। भव्य स्वप्न बन सामने उपस्थित होता है। राजा अतिभुक्त आत्ममण्डप में प्रवेश करते हैं और वहां पर एक परमसुन्दरी का दर्शन करते हैं। उसकी प्राप्ति के लिए इच्छुक हो जाते हैं।

द्वितीय अङ्क में असूया और आपातबोध रङ्गमंच पर आते हैं। असूया को ही आपातबोध साधनसम्पत्ति समझता है। रमणीयचरण और जीवका वार्तालाप हो रहा है। जीव रमणीयचरण को अतिमुक्तात्ममण्डप में देखी गई सुन्दरी का अनिर्वचनीय अनुभव रूप दर्शन बताता है और उसकी प्राप्ति का उपाय जानना चाहता है। आपातबोध पहुंचकर उस सुन्दरी का चित्र जीव को देता है। अज्ञातकुलशील होने के कारण वह नित्य सिद्ध है, ऐसा जीवने निर्णय किया। इसके बाद असूया से ज्ञातखिल विषय बुद्धि का बेचैनी के साथ प्रवेश होता है। राजा और बुद्धि का सोपालम्भ कथनोपकथन होता है। बुद्धिउस चित्रफलक को देख लेती है और क्रुद्ध होकर चली जाती है।

तृतीय अङ्क में भवितव्यता जो कि सत्वबुद्धि की बड़ी बहन अर्थात् रमणीयचरण की बड़ी पुत्री है वह साधनसम्पत्ति का अन्वय करने के लिए रमणीय चरण गए हैं। ऐसा सूचित करती है और बताती है कि राजा जीव अब द्वितीय आश्रम में पहुंच चुके हैं। उनका नि:श्रेयस मार्ग से भ्रष्ट करने के लिए अज्ञानवर्मा ने कामआदि शत्रुओं को भेदा है। इसके लिए वह आत्मा के आठों गुणों को जीव के पास भेजती है और स्वयं कुपित देवी बुद्धि को प्रसन्न करने की चेष्टा करती है। आपातबोध और जीव गृहस्थाश्रम की उपयोगिता पर विचार करते हैं। तब तक काम, क्रोध, मद, मत्सर इत्यादि जीव के पास आते हैं। काम के गज पर आपातबोध सहित जीव आरूढ़ हो जाता है और उस प्रकार की भावनाओं से युक्त होने की स्थिति में आता है, तब तक में आठों गुण उपस्थित होते हैं और वह काम आदि के चंगुल से बच जाता है।

चतुर्थ अङ्क— इसमें साधनसम्पत्ति और सत्त्वशुद्धि का प्रवेश होता है। साधनसम्पत्ति सूचित करती है कि मैं ब्रह्म जिज्ञासा के पास गयी हुई थी। रमणीयचरण, शिव के प्रसाद को भुलाने गये हैं। जीव के पास आपातबोध हैं बुद्धि के पास सत्त्वशुद्धि है। संन्यासाश्रम-स्थित देव को मैं ब्रह्मजिज्ञासा को आगे करके मना लूंगी। चित्रफलकगत सुन्दरी को देख कर भवितव्यता रोमांचित हो उठती है और बताती है कि यह मेरी सखी जीवनमुक्ति है। बुद्धि भी उसको

अपनी सखी मान लेती है। इसके बाद साधन-सम्पत्ति और ब्रह्मजिज्ञासा आती है और सबसे मिलती है। दोनों देवियां बुद्धि को ही जीवन्मुक्ति और राजा जीव को मिलाने के लिए प्रेरित करती हैं और बुद्धि तैयार भी हो जाती है।

पांचवें अङ्क में शिवप्रसाद का प्रवेश होता है। और अनुग्रह के साथ वार्तालाप होता है। बिना किसी बाधा के अनुग्रह की कृपा से जीव को ब्रह्मसाक्षात्कार हो जाता है। जीव अपने को धन्य मानता है। जीव और जीवन्मुक्ति का मिलन होता है। आकाश से फूल बरसते हैं। भरत वाक्य के साथ नाटक समाप्त होता है।

'पुरंजनचरितम्' (१८ वीं शताब्दी)

'पुरंजनचरितम्' एक १८ वीं शताब्दी में लिखा गया प्रतीक नाटक है। इसके लेखक श्रीकृष्णदत्त मैथिल हैं।[१] यह पांच अङ्कों का है। इसमें विष्णु भक्ति का महत्व प्रतिपादित किया गया है। भागवतपुराण के चतुर्थ-स्कन्ध से कथावस्तु सम्बन्धित है।

पात्र-तालिका

पुरुष पात्र-

१. पुरंजन (कथानायक)

२. सचिव

---

१. सूत्रधार— यत् किल मैथिलकृष्णदत्तकविना पुरंजनचरितं नाम नाटकं निर्माय... ...संभविष्यति। — पुरंजनचरितम्, प्रथम अङ्क पृ० २

पुरुष पात्र—

३. प्रजागर
४. रसज्ञ
५. द्युतिमान
६. अवधूत
७. चर
८. सितपक्ष
९. अविज्ञातलक्षण
१०. विलक्षण
११. गन्धर्वराजचण्डवेग

स्त्री पात्र—

१. पुरंजनी (कथा नायिका)
२. वृत्तिमक्षिका (उसकी सखी)
३. नवलक्षणा
४. वैदर्भी
५. अमितलक्षणा
६. कालकन्यका (जराराक्षसी)

साधारण पात्र—

१. सूत्रधार
२. नटी

कथावस्तु—

नान्दी से नाटक प्रारम्भ होता है। सूत्रधार और नटी में आमुख तक कवि, नाटक के विषय में वार्तालाप होता है। फिर आमुख के बाद राजा पुरंजन का सचिव के साथ प्रवेश होता है। राजा और सचिव का वार्तालाप चलता है जिसका विषय राजा के योग्य एक पुर का अनुसंधान करना है। प्रजागर इत्यादि पुरंजनी को राजा पुरंजन के लिए समर्पित करते हैं। इसी अङ्क में पुरंजन और पुरंजनी का साक्षात्कार हो जाता है। दोनों का गान्धर्व विवाह भी हो जाता है। पुरंजनी अपना राज्य, धन और भृत्यवर्ग सबका समर्पण पुरंजन को कर देती है। उसके अभिषेकवेदिका की ओर सबका प्रवेश होता है। इस अङ्क का नाम 'पुरंजनप्रसंजन' रखा गया है।

द्वितीय अङ्क— 'पुरंजनरंजन' नामक दूसरे अंक में मृगयाविनोदी राजा के आने पर रानी पुरंजनी को अस्वस्थ शरीर पाता है। बाद में दोनों सदोदन देश में प्रवेश करते हैं। उसके विभ्राजितदेश और सुवासितदेश का निरीक्षण करते हैं। उसके बाद दक्षिण ~~पांचाल~~ पांचालदेश और उत्तरपांचालदेश की प्रशंसा की जाती है।

तृतीय अङ्क— 'पुरंजनगंजन' नामक तृतीय अङ्क में सितपक्ष और चर का वार्तालाप होता है। चर उसे कुछ सूचना देता है। सितपक्ष राजा पुरंजन की स्त्री-परवशता का संकेत करता है। उसके बाद राजा, देवी और सेनापति का वार्तालाप होता है। देवी एक राक्षसी के विषय में अपनी शंका प्रकट करती है और राजा को छोड़ कर चल देती है। राजा इसपर क्षुब्ध होता है। नैपथ्य में प्रज्वार एवं कालकन्यका के भाई यवनेश की उपस्थिति सूचित की जाती है। राजा अपने पद प्राप्त करने के लिए अन्य पुर की तलाश करता है।

चतुर्थ अङ्क— `पुरंजनसमंजन` नामक चतुर्थ अङ्क में अविज्ञातलक्षण और बिलक्षण नामक पात्रों का कथोपकथन शुरू में, राजा को पुन: साम्राज्य दिलाने के विषय में हुआ है। फिर नवलक्षणा और अविज्ञात में भक्तिपूर्ण वार्तालाप होता है। इसके बाद वैदर्भी-रूप में पुरंजन, अमितलक्षणा के साथ रङ्गमंच पर आता है। वैदर्भी लुप्तप्राय पति के लिए चिता बनाकर जलना चाहती है। तब नवलक्षणा प्रविष्ठ होकर बताती है कि मेरी पूछ पकड़कर तरंगिणी के पार जाओ, वहीं तेरे प्रिय हैं।

पंचम अङ्क—इसका नाम `पुरंजनदुर्भंजन` है। वैदर्भी, नवलक्षणा इत्यादि का वार्तालाप होता है। वैदर्भी भगवान कृष्ण की स्तुति करती है। अविज्ञातलक्षण और सुरोचन इत्यादि पुरंजन का प्रवेश कराते हैं। इस प्रकार नवधा-भक्ति के द्वारा पुरंजन का परम कल्याण होता है। भरत वाक्य से नाटक का अवसान होता है।

जीवसंजीविनी नाटकम् — (२० वीं शताब्दी) —

`जीवसंजीविनी नाटक` २० वीं शताब्दी में लिखा गया है। इसके लेखक श्री वैंकटरमणाचार्य[१] हैं। नाटक में पांच अंक हैं। प्रत्येक अङ्क कई दृश्यों

---

१. सूत्रधार — तस्मात् श्री वैंकटरमणाचार्येण नूतनतया विरचितम् आयुर्वेद-वस्तु विराजितं `जीवसंजीविनी` नाम नाटकम् अभिनीय सामाजिकानां मनोरंजनमंजसा सम्पादयाव: ।

— पु० अ०, प्रस्तावना, पृ० १२

में विभाजित है। प्रथम अङ्क में छः दृश्य हैं। द्वितीय अङ्क में पांच दृश्य हैं। इसी तरह तृतीय अङ्क में पांच दृश्य, चतुर्थ अङ्क में तीन दृश्य तथा पंचम में भी तीन-तीन हैं।

पात्र-तालिका

सामान्य पात्र—

१. सूत्रधार
२. नटी
३. सुमंगला
४. चेटी

पुरुष पात्र—

१. जीवदेव	–	कथानायक
२. परेश	–	वृद्धब्राह्मण
३. सत्यप्रिय	–	परेश-सखा
४. प्रद्योत	–	जीवदेव का पिता
५. विभावसु	–	प्रद्योत का मंत्री
६. प्रियदेव	–	जीवदेव का सखा
७. सर्वज्ञगुरु	–	नायक के विद्या गुरु
८. तच्छिष्या	–	सहाध्यायी
९. ब्रह्मा	–	सत्यलोकाधिपति
१०. कलानिधि	–	नायक-श्वसुर

पुरुष-पात्र-

११. कुमुदबन्धु	–	कलानिधिमंत्री
१२. राजहंस	–	ब्रह्मा की सवारी
१३. दक्ष	–	ब्रह्मा की पुत्र
१४. दस्त्रौ	–	अश्विनीकुमार
१५. इन्द्र	–	अमराधिपति
१६. भैरव	–	ईश्वररूप
१७. स्वयंभू	–	ब्रह्मरूप
१८. पूषा	–	सूर्यरूप
१९. भग	–	रुद्ररूप
२०. चन्द्र	–	सोमरूप
२१. कश्यपभरद्वाजात्रेया	–	ऋषि (आयुर्वेद-संहिता करत
२२. विश्वामित्र	–	महर्षि
२३. चरकसुश्रुतौ	–	वैद्यशास्त्रकर्ता
२४. दैवयाजी	–	ब्राह्मण
२५. ज्ञानसूर्य	–	जीवदेवपुत्र
२६. सुधांशु	–	कलानिधि-पुत्र
२७. शीघ्रगामी	–	दूत
२८. अन्यपुरोहितपौर	–	सामाजिक सेवक इत्यादि

अन

स्त्री-पात्र-

१. महामाया	–	परेश-भार्या
२. प्रभावती	–	प्रद्योत-भार्या
३. वाणी	–	ब्रह्मा-भार्या
४. चन्द्रिका	–	कलानिधि - पत्नी

स्त्री पात्र—

५. कुमुदवती	—	मंत्री कुमुदचन्द्र की पत्नी
६. प्रियदेवी	—	मंत्री कुमुदबन्धु की पत्नी
७. संजीविनी	—	राजा जीवदेव की पत्नी
८. सख्य	—	संजीविनी की सहेलियां
६. सुप्रभा	—	शान्तिप्रभा की माता
१०. लीलावती	—	संजीविनी की प्रिय सखी
११. शान्तिप्रभा	—	ज्ञानसूर्य की पत्नी
१२.		

कथावस्तु—

प्रथम अङ्क— नाटक का प्रारम्भ नान्दी से होता है । प्रस्तावना में नटी और सूत्रधार द्वारा हैमन्तऋतु का वर्णन किया गया है । प्रथा अङ्क के द्वितीय दृश्य में परेश, महामाया, सत्यप्रिय का सम्भाषण ब्रह्मलोक (परेशप्रसाद) में होता है । भू-लोक में तेजोवती-नगरी के मार्तण्ड-देश में सूर्यवंश में प्रभावती और प्रद्योत से उत्पन्न पुत्र जीवदेव (कथानायक) का वृतान्त है । तृतीय दृश्य में सर्वज्ञगुरु के आश्रम में महामाया और परेश , स्त्री और पुरुष के रूप में जीवदेव के विद्या की प्रवीणता को देखने जाते हैं । जीवदेव के द्वारा अपने अभ्यास की गयी विद्या का विवरण दिया गया है । महामाया और परेश दोनों जीवदेव को मुक्ति का आशीर्वाद देकर अन्तरधान हो जाते हैं । जीवदेव उनके स्वरूप का वर्णन करता है । चतुर्थ दृश्य में सत्यलोक में ब्रह्मसभा होती है । वहां वाणी और ब्रह्मा का सरस संलाप होता है । भूलोक में ज्योत्स्ना नगर के कुमुददेश में चन्द्रवंश में उत्पन्न कलानिधि और चन्द्रिका से उत्पन्न संजीविनी नामक कन्या (कथानायिका) का वर्णन है । इसी स्थल पर संजीविनी औषधिविशेष को ही नायिका रूप में जीवदेव को स्पर्श मात्र से ही

सारे रोगों के मुक्ति की बात कही गयी है। पंचमदृश्य में संजीविनी भी अपने अभ्यस्त विद्या का वर्णन करती है। षष्ठ दृश्य में वाणी और ब्रह्मा की आज्ञा से अश्विनीकुमार को आयुर्वेद के रहस्य का उपदेश दक्ष के द्वारा दिया जाता है।

द्वितीय अङ्क— इस अङ्क में इन्द्र के द्वारा अश्विनीकुमार का अभिनन्दन किया जाता है। फिर शची के प्रार्थना-पत्र पर अश्विनीकुमारों का स्त्रियों के प्रसवरोग की चिकित्सा के प्रति ध्यान आकर्षित कराया गया है। द्वितीय अङ्क के द्वितीय दृश्य में चन्द्र की राजयक्ष्मा, भग के नष्ट हो जाने पर उसकी चिकित्सा के प्रति ध्यान आकृष्ट कराया गया है। स्वयंभू के कटे सिर को भी संजीविनी औषधि से अच्छा कराया गया है। तृतीय दृश्य में कश्यप, भरद्वाज, आत्रेय आदि महर्षियों का सम्भाषण, आत्रेय और भरद्वाज और द्वारा आयुर्वेद संहिता के बनाने की वार्ता, विश्वामित्र से चरकआदि आयुर्वेदशास्त्र के निर्माण की चर्चा की गयी है। चतुर्थ दृश्य में उद्यान वन में जीवदेव और प्रियदेव के सम्भाषण के अवसर पर शुद्ध वायु के प्रयोजन पर विचार किया गया है। स्नातक को कन्यावरण करने के पूर्ण अधिकार का वर्णन किया गया है। पंचम दृश्य में भुवनेश्वरी मन्दिर में संजीविनी और प्रियदेवी को देवी का आशीर्वाद प्राप्त होता है।

तृतीय अङ्क— इसके प्रथम दृश्य में संजीविनी विवाह योग्य हो गयी है और जीवदेव उसके अनुरूप पति हैं — इसकी सूचना संजीविनी के माता पिता को मिलती है। संजीविनी का चित्र प्रद्योत राजा के निकट भेजा जाता है। द्वितीय दृश्य में प्रद्योत दम्पति चित्र पसन्द करते हैं और जीवदेव को चित्र दिखाया जाता है। वह संजीविनी को देखना चाहता है। ज्योत्स्नानगरप्रान्तोद्यान मिलने का स्थान निर्धारित किया जाता है और यह सब वृत्तान्त प्रद्योत के यहाँ से कलानिधि के पास भेज दिया जाता है। तृतीय दृश्य में जीवदेव,

प्रियदेव के साथ उसी उपवन में जाता है। दोनों का अपनी भावी पत्नियों से मिलन होता है। परस्पर पुष्पमाला के द्वारा गान्धर्व-विवाह सम्पन्न हो जाता है। जीवदेव और प्रियदेव परस्पर मिलन के बाद अपने नगर की ओर लौट जाते हैं। संजीविनी , प्रियदेवी भी ज्योत्स्ना नगर में प्रवेश करती हैं। चतुर्थ दृश्य में दोनों ओर के राजा , मन्त्रियों को विवाह की तैयारी की आज्ञा देते हैं। पंचम दृश्य में शास्त्रविधि से दोनों में विवाह सम्पन्न होता है ।

चतुर्थ अड्०क– चौथे अड्०क के प्रथम दृश्य में संजीविनी को पुत्र-लाभ होता है और उसका नामकरण संस्कार किया जाता है। पुत्र का नाम `ज्ञानसूर्य ` रखा जाता है। द्वितीय दृश्य में जीवदेव रोग से ग्रस्त होता है और ज्योतिषी लोग तीव्र ग्रह की दशा बताते हैं। उसका परिहार संजीविनी द्वारा होता है। तृतीय दृश्य में अर्श, पाण्डु, राजयक्ष्मा, कर्णशूल, नेत्ररोग-इत्यादि रोगों का शमन संजीविनी द्वारा कराया जाता है।

पंचम अड्०क – इस अड्०क के प्रथम दृश्य में संजीविनी अपने पुत्र ज्ञानसूर्य से अपनी अनुपस्थिती का कारण उसके पिता जीवदेव की बीमारी को बताती है । फिर ज्ञानसूर्य को देखने के लिए चन्द्रिका और कलानिधि तेजोवती नगरी में जामाता के घर जाते हैं । उसी समय प्रद्योत वानप्रस्थाश्रम में प्रविष्ट होने की बात सोचते हैं। इसमें कलानिधि ने भी अपनी सम्मति दे दी। इधर शान्तिप्रभा और ज्ञानसूर्य के पाणिग्रहण की बात सोची जाती है। द्वितीय दृश्य में कुछ समय तक राज्य करके जीवदेव ने भी ज्ञानसूर्य का राज्याभिषेक कर देता है। ज्ञानसूर्य और शान्ति का शृंगारपूर्ण परस्पर बातचीत होती है। तृतीय दृश्य में संजीविनी ने राज्यभार ज्ञानसूर्य को देकर वनवास करने का उपदेश जीवदेव को देती है। वनवास ही जीवनमुक्ति का परम साधन है संजीविनी ने ऐसा कहा , गृहवास ही श्रेयस्कर है , ऐसा जीवदेव

ने निवेदन किया । इस प्रकार दोनों का संलाप चलता रहता है । जीव ने अन्तत: संजीविनी की बात स्वीकार कर ली । इसके बाद ज्ञानसूर्य का अभिषेक करके पुरोहितों के आशीर्वाद को प्राप्त किया । भरतवाक्य से नाटक समाप्त होता है ।

चतुर्थ अध्याय

प्रतीक नाटकों का समीक्षात्मक अध्ययन

चतुर्थ अध्याय

प्रबोधचन्द्रोदय का समीक्षात्मक अध्ययन—

प्रबोधचन्द्रोदय में प्रतीक नाटक की टूटी हुई परम्परा का पुनरुज्जीवन हुआ है। जैसा कि विगत अध्याय में कहा जा चुका है। तथापि यह स्वीकार करना पड़ेगा कि प्रबोधचन्द्रोदय एक विशिष्ट पूर्णतः समुपलब्ध प्रथम प्रतीक नाटक है। यह नाटक नाट्यशास्त्रीय परिभाषा के अनुकूल है। इसकी कथावस्तु का क्षेत्र आध्यात्मिक है। प्रतीक नाटक की कथावस्तु एवं पात्रों आदि का परिचय तृतीय अध्याय में ही दिया जा चुका है। अतएव प्रस्तुत अध्याय का प्रतिपाद्य विषय इन नाटकों के कथावस्तु, पात्र, रस एवं भाषा-शैली आदि की दृष्टि से समीक्षात्मक अध्ययन करना है। सर्वप्रथम सर्वप्रमुख विकसित पूर्णतः समुपलब्ध प्रतीक नाटक प्रबोधचन्द्रोदय का अध्ययन करेंगे।

प्रबोधचन्द्रोदय की कथावस्तु का वैशिष्ट्य—

प्रबोधचन्द्रोदय नाटक की कथावस्तु की विशिष्ट विशेषताएं नाटक के अध्ययनोपरान्त दृष्टिगोचर होती हैं। इस नाटक की सर्वप्रमुख विशेषता इसकी कथावस्तु के प्रतिपाद्य विषय का मानसिक एवं आध्यात्मिक होना है। मानसिक अन्तर्द्वन्द्वों को आध्यात्मिकता के प्रकाश में चित्रण करना प्रस्तुत नाटक के कथावस्तु की मुख्य विशेषता है। प्रस्तुत नाटक की कथावस्तु किसी पौराणिक या मानव-

विशेष के सुख-दु:ख की लौकिक कथा का चित्रणमात्र नहीं है, प्रत्युत सम्पूर्ण मानवमात्र के मन में चलने वाले अन्तर्द्वन्द्व का प्रतीक पात्रों के माध्यम से स्पष्ट एवं भव्य चित्र प्रस्तुत करना है। यद्यपि नाटककार का ध्येय धर्म, दर्शन एवं आत्मा के मोक्ष इत्यादि तात्त्विक पदार्थों का चित्र प्रस्तुत करना एवं उसका उचित समाधान करना ही दृष्टिगोचर होता है। तथापि दार्शनिक शुष्कता इसमें नहीं आने पाई है। इसमें भी सामान्य लौकिक कथा की तरह सहृदय अपने को आनन्द लेता हुआ देखता है, यह इसकी अपनी निजन्धरी विशेषता है। भावनाओं का परस्पर पारिवारिक सम्बन्ध स्थापित करना और सौतेला भाई इत्यादि का सम्बन्ध दिखा कर परस्पर वाद-विवाद एवं कलह पैदा करना यह कृष्ण मिश्र की अपनी मौलिकता ही है। परस्पर पारिवारिक सम्बन्ध इस नाटक के आधार पर इस प्रकार दिखाया जा सकता है — पुरुष की पत्नी माया के संयोग से मन नाम के पुत्र की उत्पत्ति होती है। मन की दो पत्नियां हैं — प्रवृत्ति और निवृत्ति । मनको प्रवृत्ति से महामोह तथा निवृत्ति से विवेक के नाम के दो पुत्रों की प्राप्ति होती है। महामोह विवेक का सौतेला भाई है। फिर विवेक की पत्नी मति को कोई पुत्र नहीं उत्पन्न होता। परन्तु द्वितीय पत्नी उपनिषद् से प्रबोध एवं विद्या नाम के एक पुत्र और पुत्री का जन्म होता है। महामोह की पत्नी का नाम मिथ्यादृष्टि है। इस प्रकार परस्पर पिता-पुत्र आदि सम्बन्धों की स्थापना करके अमूर्त भावनाओं का मूर्तरूप में रोचक चित्र प्रस्तुत किया गया है। विवेक और महामोह सदृश विरोधी अमूर्त भावों परस्पर घोर संघर्ष दिखाना पूर्ण मनोवैज्ञानिक चित्र प्रस्तुत करता है। साधारण रूप से जगत में देखा जाता है कि 'सत्' भावना की विजय 'असत्' भावना की पराजय होती है। इसी तथ्य को प्रस्तुत नाटक में अमूर्त भावनाओं को मूर्त रूप देकर सरल, सरस ढंग से सहृदय सामाजिक के समक्ष प्रतिस्थापित किया गया है। इस संघर्ष का अन्त आनन्दमय मोक्ष में होता है।

प्रस्तुत में अप्रस्तुत की झलक इस नाटक की अन्य विशेषता है। नाटक के प्रारम्भ में प्रस्तावना में नाटककार के आश्रयदाता(जिसके आश्रय में नाटक का अभिनय हुआ), उसके संघर्ष और विजयप्राप्त करने के प्रसंग का अप्रस्तुत वर्णन किया गया है।[१] सम्पूर्ण नाटक के अध्ययन से ऐसा अनुमान होता है कि शायद प्रस्तुत पुरुष ही अप्रस्तुत कीर्तिवर्मा को तथा प्रस्तुत विवेक के चरित्र का आरोप अप्रस्तुत मंत्री गोपाल में किया गया हो एवं प्रस्तुत महामोह के चरित्र का आरोप शत्रु कर्ण में आरोपिता किया गया हो। ऐसा प्रतीत होता है कि गोपालमन्त्री के द्वारा कर्ण को पराजित कर कीर्तिवर्मा को राज्य सिंहासन पर बैठाया गया, इस अप्रस्तुत वर्णन का आरोप विवेक के द्वारा महामोहादि को पराजित कर पुरुष (जीवात्मा) का राज्य (प्रबोधरूपब्रह्माकारवृत्ति) को प्राप्त कराने में है। इस प्रकार कथावस्तु की आध्यात्मिकता, अमूर्तभावों का मूर्तीकरण तथा प्रस्तुत में अप्रस्तुत की झलक इत्यादि मुख्य प्रबोधचन्द्रोदय नाटक की विशेषताएं हैं।

कथावस्तु के मुख्य रूप से दो प्रकार होते हैं[२] —

१. आधिकारिक (मुख्य वस्तु)
२. प्रासंगिक (गौण कथावस्तु)

फिर प्रासंगिक कथा के दो भेद—[३]

१. पताका और
२. प्रकरी

---

१. प्रबोधचन्द्रोदय , अङ्क १, प्रस्तावना , श्लोक ४ और ६।

२. (अ) इतिवृत्तं द्विधाचैव.............. ।

— नाट्यशास्त्र, अध्याय १६, श्लोक २

(ब) वस्तु च द्विधा........ ।

— दशरूपक , प्रथमप्रकाश,कारिका ११

३. दशरूपक , प्रथम प्रकाश, कारिका ११

प्रस्तुत नाटक में राजा विवेक की कथा आधिकारिक या मुख्य कथा है क्योंकि इसमें विवेक ही नायक है। विवेक से ही महामोह का संघर्ष होता है। अन्त में विजयी तथा फलाधिकारी भी वही होता है। प्रस्तुत नाटक की कथावस्तु में विष्णुभक्ति की कथा 'पताका' है क्योंकि विष्णुभक्ति विवेक के सैनिकों को विपक्षी महामोह के सहायकों से बचाकर विवेक की रक्षा हेतु अनेक प्रयत्न करती है। इस प्रकार नाटक में बराबर यह कथा चलती रहती है। प्रासंगिक कथा का दूसरा भेद 'प्रकरी' नाम से अभिहीत किया गया है। जो वस्तु, कथा, काव्य या नाटक में कुछ काल तक चल कर रुक जाती है, उसे 'प्रकरी' कहते हैं। इस नाटक में सरस्वती की कथा प्रकारी है। कारण स्पष्ट है — सरस्वती का पांचवें अंक में प्रवेशांक के बाद रंगमंच पर मन को शांत करने हेतु प्रवेश होता है और उसी अंक के अन्त में मन को 'प्रबोधोदय' की ओर अग्रसर करके, अन्त में प्रस्थान कर जाती है।

ऊपर निर्दिष्ट विशिष्ट विशेषताओं के अतिरिक्त नाट्यशास्त्रानुसार प्रबोधचन्द्रोदय नाटक में अवस्थाओं, अर्थप्रकृतियों, एवं सन्धियों का समुचित प्रयोग किया गया है।

अवस्था— इसमें आरम्भ, यत्न, प्राप्त्याशा, नियताप्ति और फलागम इन पांच अवस्थाओं का विन्यास सुन्दर ढंग से किया गया है। किसी भी फल प्राप्ति के लिए उत्सुकतामात्र 'आरम्भ' नामक अवस्था कही जाती है।[१] इस

---

१. (अ) औत्सुक्यमात्रमारम्भः फललाभाय भूयसे

— दशरूपक, प्रथम प्रकाश, कारिका २०।

(ब) भवेदारम्भ औत्सुक्यं यन्मुख्यफलसिद्धये

— साहित्यदर्पण, षष्ठ परिच्छेद, कारिका ७१।

नाटक में यह आरम्भ नामक अवस्था प्रथम अङ्क के ` एवं दीर्घतर निद्रा-विद्रावित प्रबोधपरमेश्वरो कथं प्रबोधोत्पत्तिर्भविष्यति` इस वाक्य में है। क्योंकि नायिका मति की ` प्रबोधोदय` रूप फल के प्रति उत्सुकता मात्र अभिव्यक्त होता है। इसके बाद `प्रयत्न` नाट्यशास्त्रीय परिभाषा में — फल की प्राप्ति न होने पर उसके लिए किए गए अत्यन्त त्वरायुक्त व्यापार को यत्न कहते हैं।[१] यह अवस्था नाटक के तीसरे अङ्क में शान्ति के माध्यम से श्रद्धा की खोज में है। क्योंकि नायक विवेक के पक्ष से शत्रु मोहराज को पराजित करके `प्रबोध` रूप फल की प्राप्ति के लिए इस व्यापार को त्वरा के साथ सम्पन्न किया गया है। तीसरी अवस्था ` प्राप्त्याशा` है। जहां पर प्राप्ति की आशा उपाय तथा विघ्न की आशंकाओं से घिरी हो, परन्तु प्राप्ति की सम्भावना हो उसे प्राप्त्याशा नामक अवस्था कहते हैं।[२] यथा इस नाटक में कापालिक के द्वारा विष्णुभक्ति को फल का साधन बतलाना, विष्णुभक्ति के द्वारा श्रद्धा की रक्षा करना, तथा उसकी आज्ञा से विवेक के सुसज्जित अपने सहयोगियों के

---

१. (अ) प्रयत्नस्तु तदप्राप्तौ व्यापारोऽतित्वरान्वितः :

— दशरूपक, प्रथम प्रकाश, कारिका २०

(ब) प्रयत्नस्तु तदप्राप्तौ व्यापारो तित्वरान्वितः:

— साहित्यदर्पण, षष्ठ परिच्छेद, कारिका ७२

२. (अ) उपायापायशंकाभ्यां प्राप्त्याशाप्राप्तिसम्भवः:

— साहित्य दर्पण, षष्ठ परिच्छेद, कारिका ७२

(ब) उपायापायशंकाभ्यां प्राप्त्याशाप्राप्तिसम्भवः:

— दशरूपक, प्रथम प्रकाश, कारिका २१

(स) ईषत् प्राप्तिर्यदा काचित् फलस्य परिकल्प्यते
भावमात्रेण तं प्राहुर्विधिज्ञा : प्राप्तिसम्भवः:

— नाट्यशास्त्र, अध्याय १६, श्लोक ७४

साथ काशी में पहुंच जाने के बाद , विवेक के विषय में उसी के द्वारा अनिष्ट और पराजय इत्यादि की आशंका होना `प्राप्त्याशा` नामक अवस्था है। चौथी अवस्था `नियताप्ति` है। जब विघ्न के अभाव में प्राप्ति निश्चित हो जाती है तो उसे `नियताप्ति` कहते हैं।[१] प्रस्तुत नाटक में विवेक के विजयोपरान्त सरस्वती का मन को उपदेश देना और मन का वैरागी होना आदि `नियताप्ति` है। क्योंकि इससे `प्रबोधोदय` रूपफल की प्राप्ति निश्चित हो जाती है। पांचवीं अवस्था `फलागम` नाम की है। जहां सम्पूर्ण फल की प्राप्ति हो जाय , उस अवस्था को `फलागम` अथवा `फलयोग` कहते हैं।[२] इस नाटक में मन के निर्विषय हो जाने पर पुरुष को ब्रह्मस्वरूप का ज्ञान (प्रबोधोदय) होना ही `फलागम` है।

अर्थप्रकृति—

पांच अर्थ प्रकृतियां भी हैं। बीज, बिन्दु, पताका, प्रकरी और

---

१. अपायाभावत: प्राप्तिर्नियताप्ति : सुनिश्चिता:

— दशरूपक , प्रथम प्रकाश, कारिका २१

(ब) अपायाभावत: प्राप्तिर्नियताप्तिस्तु निश्चिता

— साहित्यदर्पण, षष्ठ परिच्छेद, कारिका ७३

२ (अ) समग्र फल सम्पत्ति: फलयोगो यथोदित:

— दशरूपक, प्रथम प्रकाश, पृ० १६, कारिका

(ब) सावस्था फलयोग: स्याद्य: समग्रफलोदय:

— साहित्यदर्पण, षष्ठ परिच्छेद, कारिका ७३

(स) अभिप्रेतं समग्रं च प्रतिरूपं क्रियाफलम् ।
इतिवृत्ते भवेद्यस्मिन् फलयोग: प्रकीर्तित: ।

— नाट्यशास्त्र, अध्याय १६, श्लोक १३

कार्य ।[१] प्रस्तुत नाटक में इनका भी पूर्ण रूप से विन्यास पाया जाता है।

बीज उस हेतु को कहते हैं जिसका पहले अत्यल्प कथन हो परन्तु उसका विस्तार अनेक रूप से हो[२]। प्रस्तुत नाटक में काम के द्वारा अपनी पत्नी रति से, विवेक और उपनिषददेवी के संयोग से 'प्रबोधोदय' एवं विद्या के जन्म की चर्चा करने से प्रथम अङ्क में ही इस 'बीज' की उद्भावना हो जाती है। वस्तुत: विद्या की उत्पत्ति का कथन इस कथा का बीजतत्व है हैं। इस तत्व से ही समस्थ कथानक विकसित होता है। विवेक, प्रबोध और विद्या के उदय के लिए प्रयत्नशील है। उससे और मोह से संघर्ष होता है। इस प्रकार कथानक पूर्णरूप से इसी से विस्तार पाता है।

---

१. (अ) बीजबिन्दुपताकाख्यप्रकरीकार्यलक्षणा: ।
अर्थप्रकृतय: पंच ता एता: परिकीर्तिता: ।।

— दशरूपक , प्रथम प्रकाश, कारिका, १८

(ब) बीजं बिन्दु: पताका च प्रकरी कार्यमेव च ।
अर्थप्रकृतय: पंच ज्ञात्वा योज्या यथाविधि: ।।

— साहित्य दर्पण, षष्ठ परिच्छेद, कारिका६४

२. (अ) स्वल्पमात्रं समुत्सृष्टं बहुधा यद्विसर्पति ।
फलावसानं यच्चैव बीजं तत्परिकीर्तितम् ।।

— नाट्यशास्त्र, अध्याय १६, श्लोक २२ ।

(ब) अल्पमात्रं समुदिष्टं बहुधा यद्विसर्पति ।
फलस्य प्रथमो हेतुर्बीजं तदभिधीयते

— सा०द०, षष्ठ परिच्छेद, का० ६५

(स) स्वल्पोद्दिष्टस्तु तद्धेतुर्बीजं विस्तार्यनेकधा ।

— दशरूपक, प्रथम प्रकाश, कारिका १७

किसी दूसरी कथा के विच्छिन्न होने पर भी प्रधान कथा के अविच्छेद का जो निमित्त है उसे विन्दु[१] कहते हैं। प्रस्तुत नाटक के दूसरे अङ्क में दम्भ और अहंकार के द्वारा महामोह के प्रबल प्रभाव की चर्चा करने से कथा के बीज का विच्छेद हो जाता है। परन्तु जिस समय भयभीत अहंकार के द्वारा दम्भ से यह कहा जाता है कि मेरे राजा महामोह को महाभय उपस्थित हो गया है - यह बीज का अविच्छेदक कारण 'विन्दु' नामक अर्थप्रकृति है क्योंकि इससे मुख्य कार्य की पुष्टि होती है।

'पताका' और 'प्रकरी' का वर्णन 'कथावस्तु' के प्रभेद में ही हो चुका है।

पाँचवीं अर्थप्रकृति 'कार्य' नाम की है। जो प्रधान साध्य हो, जिसके लिए सारी सामग्री एकत्रित की गई हो उसे 'कार्य' कहते हैं।[२]

---

१. (अ) अवान्तरार्थविच्छेदे बिन्दुरच्छेदकारणम्

— द०रूपक, षष्ठ परिच्छेद, कारिका ६५

(ब) अवान्तरार्थविच्छेदे विन्दुरच्छेदकारणम्

— ~~दशरूपक, प०प्र०, कारिका~~ सा०द०, षष्ठ परिच्छेद कारिका, ६६

(स) प्रयोजनानांविच्छेदे यदविच्छेदकारणम्।
यावत्समाप्तिर्बन्धस्य स: विन्दु: परिकीर्तित:

— नाट्यशास्त्र, अध्याय १६, श्लोक २३

२. (अ) यदाधिकारिकं वस्तु सम्यक प्राज्ञै प्रयुज्यते।
तदर्थो य: समारम्भस्तत्कार्यं परिकीर्तितम्

— नाट्यशास्त्र, अध्याय १६, श्लोक २६

(ब) अपेक्षितं तु यत्साध्यमारम्भो यन्निबन्धन:
समापनं तु यत्सिद्धयै तत्कार्यमिति संमतम्

— साहित्यदर्पण कारिका, ६६-७०, षष्ठपरि०

प्रस्तुत नाटक के छठें अंक में पुरुष को 'प्रबोधोदय' की सिद्धि होती है । उसी के लिए सारी सामग्री इकट्ठी की गयी है। अतएव यहाँ 'कार्य' नामक अर्थप्रकृति है ।

सन्धियाँ-

पंच अवस्था, पंच अर्थप्रकृति के मेल से पंच सन्धि का निर्माण होता है । पंच सन्धियाँ क्रमशः मुख, प्रतिमुख, गर्भ, विमर्श और निर्वहण हैं[1]। इन सबका रुचिर सन्निवेश प्रस्तुत नाटक में हुआ है ।

'आरम्भ' नामक अवस्था से युक्त नाना प्रकार के अर्थों और रसों को उत्पन्न करने वाली बीज की समुत्पत्ति को 'मुख' सन्धि कहते हैं ।[2] इस नाटक के प्रथम अङ्क में मति कहती है - 'प्रबोधोत्पत्तिर्भविष्यति'-इस

१(अ)मुखं प्रतिमुखं गर्भो विमर्श उपसंहृतिः

— साहित्यदर्पण , षष्ठ परिच्छेद, कारिका ७५

(ब) मुखप्रतिमुखं गर्भः सावमर्शोपसंहृति

— दशरूपक, प्र० प्रकाश, कारिका २३

२. (अ) मुखं बीज समुत्पत्तिर्नानार्थरसम्भवा

— दशरूपक,प्रथम प्रकाश,कारिका २४

(ब) यत्र बीजसमुत्पत्तिर्नानार्थरससम्भवा
प्रारम्भेण समायुक्ता तन्मुखंपरिकीर्तितम्

— साहित्यदर्पण, षष्ठ परिच्छेद, कारिका ७६

(स) यत्र बीज समुत्पत्तिर्नानार्थ रससम्भवा
काव्यं शरीरानुगता तन्मुखं परिकीर्तितम् ।

— नाट्यशास्त्र, अध्याय १६, श्लोक १६

वाक्य से सूचित `आरम्भ` अवस्था तथा इसी अंक में रति के `अस्माकं कुले कालरात्रिकल्पा विद्यानाम राक्षसी समुत्पत्स्यते` रति के इस वाक्य में `बीज` के संयोग से मुख सन्धि का निर्माण हुआ है।

उपरोक्त `बीज` का किंचित दिखाई देना और कुछ कुछ दिखाई न देना — इस लक्ष्यालक्ष्य के रूप में बीज का उद्भिन्न होना `प्रतिमुख` सन्धि है।[१] `बिन्दु` और `यत्न` के संयोग से इसका निर्माण होता है। प्रस्तुत नाटक के द्वितीय और तृतीय अंक में मोह, क्रोध, अहंकार आदि विरोधियों के प्रबल प्रभाव का वर्णन है, तो कहीं कहीं नायक विवेक के प्रबल प्रयत्नों का चित्रण है। इस प्रकार `प्रबोधोदय` रूप फल कहीं अलक्ष्य और कहीं लक्ष्य होने से यहां `प्रतिमुख` सन्धि है।

`बीज` के दृष्ट होने के बाद पुन: नष्ट हो जाने पर बार-बार उसका अन्वेषण किया जाना `गर्भ` सन्धि है।[२] फल को भीतर रखने की

---

१. (अ) लक्ष्यालक्ष्यतयोद्भेदस्तस्य प्रतिमुखं भवेत

— दशरूपक, प्रथम प्रकाश, कारिका ३०

(ब) फलप्रधानोपायस्य मुखसन्धिनिवेशिन:
लक्ष्यालक्ष्य इवोद्भेदो यत्र प्रतिमुखं च तत् ।

— साहित्यदर्पण, षष्ठ परिच्छेद, कारिका ७७

(स) बीजस्योद्घाटनं यत्र दृष्ट नष्टमिव क्वचित्
मुखन्यस्तस्य सर्वत्र तद्वै प्रतिमुखं स्मृतम्

— नाट्यशास्त्र, अध्याय १६, श्लोक ४०

२. (अ) गर्भस्तु दृष्टनष्टस्य बीजस्यान्वेषणं मुहु:

— दशरूपक, ~~का~~ प्रथम प्रकाश, कारिका ३६

(ब) फलप्रधानोपायस्य प्रागुद्भिन्नस्य किंचन
गर्भो यत्र समुद्भेदो ह्रासान्वेषणान्मुहु:

— साहित्यदर्पण, षष्ठ परिच्छेद, कारिका ७८

(स) उद्भेदस्तस्य बीजस्य प्राप्तिरप्राप्तिरेव वा
पुनश्चान्वेषणं यत्र स गर्भ इति स्मृत:

— नाट्यशास्त्र, अध्याय १६, श्लोक ४१

वजह से इसे `गर्भ` सन्धि कहते हैं। यह `पताका` नामक अर्थप्रकृति तथा प्राप्त्याशा नामक अवस्था के योग से बनती है। प्रस्तुत नाटक में `गर्भ` सन्धि का निर्माण तृतीय अङ्क से पांचवें अङ्क के प्रारम्भ तक है। तीसरे अङ्क में विष्णु भक्ति का `पताका` रूप वृत्तान्त के प्रारम्भ होने पर ही इस सन्धि का आरम्भ हो जाता है। चौथे अङ्क में विवेक अपनी विजय के लिए प्रयास करता है। इस प्रकार `प्राप्त्याशा` की स्थिति पांचवें अङ्क के प्रारम्भ तक है।

क्रोध, व्यसन या लोभ से जहां फल की प्राप्ति के विषय में विचार किया जाय तथा जिसके `बीज` को `गर्भ` सन्धि के द्वारा प्रकट किया गया हो उसे `विमर्श` सन्धि कहते हैं।[१] यह `प्रकरी` अर्थप्रकृति और `नियताप्ति` अवस्था के योग से बनती है। इस नाटक में विष्णुभक्ति के द्वारा प्रेषित सरस्वती के द्वारा उपदिष्ट मन का प्रवृत्ति से निवृत्ति की ओर उन्मुख, होना, फल की उपलब्धि के नियत हो जाने से `नियताप्ति` अवस्था है। सरस्वती के उपदेश से मन के अनिर्वचनीय आनन्द का अनुभव करना,

---

१. (अ) क्रोधेनावमृशेद्यत्र व्यसनाद्वा विलोभनात्
गर्भनिर्भिन्नबीजार्थः सो वमर्शः इतिस्मृतः

— दशरूपक, प्रथम प्रकाश, कारिका ४३

१ (ब) यत्र मुख्यफलोपाय उद्भिन्नो गर्भतोऽधिकः
शापाद्यैः सान्तरायश्च स विमर्श इति स्मृतः।

— साहित्यदर्पण, षष्ठ परिच्छेद, कारिका७

(स) गर्भनिर्भिन्न बीजार्थो विलोभन कृतोऽथवा
क्रोध व्यसनयो वापि स विमर्श इति स्मृतः

--नाट्यशास्त्र, अध्याय १६, श्लोक ४२

गर्भ सन्धि के द्वारा बीज का प्रकट होना है। सरस्वती का प्रसंग भी `प्रकरी` रूप में तो है ही । अत: यहां विमर्श सन्धि है। ~~पर~~

पांचवीं सन्धि `निर्वहण` है। जहां बिखरे हुए बीज के सहित मुखादि अर्थ, एक अर्थ में एकत्रित कर दिये जाते हैं उसे निर्वहण सन्धि कहते हैं।[1] यह `फलागम `अवस्था और `कार्य` नामक अर्थप्रकृति के समन्वय से बनती है। षष्ठ अंक में विवेक की विजय से लेकर `प्रबोधेदय` रूप कार्य की सिद्धि पर्यन्त `निर्वहण `सन्धि है।

इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि श्रीकृष्ण मिश्र ने नाट्यशास्त्रानुसार अवस्था, अर्थप्रकृति और संधियों का निर्वाह पूर्णरूपेण किया है ।

---

१. (अ) बीजवन्तो मुखाद्यार्था विप्रकीर्णा यथायथम्
एकार्थ्यमुपनीयन्ते यत्र निर्वहणं हि तत्

— दशरूपक, प्रथम प्रकाश, कारिका ४८

(ब) बीजवन्तो मुखाद्यार्था विप्रकीर्णा यथायथम्
एकार्थ्यमुपनीयन्ते यत्र निर्वहणं हि तत्

— साहित्यदर्पण, षष्ठपरि०,कारिक

(स) समानयनमर्थानां मुखाधानां सबीजिनाम् ।
नानाभावन्तराणां यद्भवेन्निर्वहणं हि तत् ।।

— नाट्यशास्त्र,अध्याय १६,श्लोक ४३

पात्रों की दृष्टि से वैशिष्ट्य: —

पात्रों का वर्गीकरण तीन प्रकार की कोटियों में रखकर किया जा सकता है। अमूर्तपात्र, प्ररूपपात्र और साधारणपात्र। अमूर्त पात्रों से तात्पर्य केवल इतना है कि जिन पात्रों में अमूर्त भावनाओं, शास्त्रों, औषधियों एवं रोगों की मूर्त कल्पना आरोपित की गई है। प्ररूप पात्रों में वे रखे गए हैं जो किसी वर्गविशेष के नाम से वर्गविशेषों को प्ररूप (type) के रूप में अपना कार्य करते हैं। कुछ पात्र ऐसे हैं जिनका कथा के साथ कोई विशेष सम्बन्ध तो नहीं है, परन्तु नाटकीय इतिवृत्त को आगे बढ़ाने , कथा-प्रवाह को गति देने और कथासूत्र को संयोजित करने में उनका महत्वपूर्ण हाथ है —ऐसे पात्रों को साधारण पात्र की कोटि में रखा गया है।

अमूर्तपात्र —

विवेक, वस्तुविचार, श्रद्धा, शान्ति, क्षमा, करुणा, मति, मैत्री, महामोह, क्रोध, काम, लोभ, हिंसा, तृष्णा, दम्भ, अहंकार, रति, मिथ्यादृष्टि, बिभ्रमावती, मन, प्रवृत्ति, निवृत्ति, विष्णुभक्ति, सरस्वती, उपनिषद्, संकल्प, वैराग्य, निदिध्यासन, प्रबोधादि हैं।

प्ररूपपात्र —

चार्वाक, भिक्षु, क्षपणक, कापालिक आदि।

साधारणपात्र — सूत्रधार, पारिपार्श्वक, सारथि, प्रतिहारी, दौवारिक, वटु शिष्य आदि।

पात्रों का चरित्र-चित्रण पूर्ण मनोवैज्ञानिक ढंग से किया गया है। यहां विवेक ही नायक है और उसके अन्य परिवार के सदस्यगण मति, उपनिषद् आदि हैं। पात्रों में वैशिष्ट्य अमूर्त का मूर्तिकरण ही प्रमुख है। अमूर्त भावनाओं को रंगमंच पर मनुष्य की तरह लाना और उनमें पारस्परिक संलाप कराना तथा उन्हीं के माध्यम से आध्यात्मिकता का प्रतिपादन कराना ही प्रतीक नाटकों की मुख्य विशेषता है।

भाषा-शैली की दृष्टि से वैशिष्ट्य:—

प्रबोधचन्द्रोदय नाटक की भाषा सरल, सरस, भावगम्य एवं चित्ताकर्षक है। भाषा वही भाषा है जो हमारे मन की बात को दूसरे तक पहुंचाए और उसको अपने में आत्मसात करने की शक्ति रखे। प्रस्तुत नाटक की भाषा ऐसी ही है। श्रीकृष्ण मिश्र को भाषा पर पूर्ण अधिकार था। यही कारण है कि वे आध्यात्मिक तत्त्व का प्रतिपादन सरस, सरल, प्रभावपूर्ण और गतिशीलभाषा के माध्यम से कर सकने में समर्थ हुए हैं। भाषा प्रसाद गुण से सम्पन्न है। प्रसाद गुण के साथ ही माधुर्य भी है। और ओज[1] का भी पुट भाषा की गौरववृद्धि के रूप में हुआ है। वैदर्भी रीति का विशेष प्रयोग है।[2]

---

१. अद्याप्युन्मदयातुधानतरुणीचंचत्करास्फालन-
व्यावलान्नृकपालतालरणितैर्नृत्यत्पिशाङ्गना: ।
उद्गायन्ति यशांसि यस्य विततैर्नादै: प्रचण्डानिल-
प्रक्षुभ्यत्करिकुम्भकूटकुहरव्यक्तै रणक्षोणय: ।

— प्र०च०, १-५

२. द्रष्टव्य — प्र०च०, अङ्क ३, श्लोक ११, पृ० ११० ।

कहीं कहीं गौणी रीति का भी प्रयोग हुआ है। सरल, सरस भाषा में धर्म-दर्शन का प्रतिपादन किया गया है। कहीं भी जटिलता, अस्पष्टता, नीरसता नहीं आने पाई है। भाषा की समास-शैली भी अधिक जटिल नहीं है। जिससे अर्थ समझने में कहीं कहीं कोई कठिनाई हो। जहां जैसा प्रसंग है वहां उस तरह की भाषा का प्रयोग किया गया है। अगर गोपाल के पराक्रम का वर्णन करते समय नाटककार गौणी रीति और समास-बहुल शैली का सहारा न लेता तो पराक्रम के सम्बन्ध में इतनी सुन्दर अभिव्यंजना न होती।

प्रसंगानुसार प्राकृत भाषा का भी खूब प्रयोग हुआ है। गद्यऔर पद्य दोनों में प्राकृत का प्रयोग हुआ है। साधारण पात्रों से प्राकृत में तथा उच्च पात्रों से संस्कृत में बात कराई गयी है।

इस प्रकार सरलतम ढङ्ग से गम्भीरतम भावों को सर्वग्राही बनाना भाषा के ही माध्यम से सम्भव है और ~~भाषा पर~~ यह तभी सम्भव है जब भाषा पर लेखक का अधिकार हो। कृष्णामिश्र इसमें खरे उतरते हैं।

शैली की दृष्टि से भी अनेक विशेषताएं प्रस्तुत नाटक में दृष्टि-गोचर होती हैं। प्रबोधचन्द्रोदय नाटक में अलंकारों का प्रयोग विधिवत हुआ है। रूपक, उपमा, अपह्नुति ~~का प्रयोग~~ दृष्टान्त, अर्थान्तरन्यास, विशेषोक्ति, समासोक्ति और दीपकालंकार आदि का प्रयोग अच्छी प्रकार से किया गया है। दीपकालंकार का प्रयोग प्रथम अङ्क के सत्ताइसवें श्लोक में देखने योग्य है।[१]

---

१. सम्मोहयन्ति मदयन्ति विडम्बयन्ति
निर्भर्त्सयन्ति रमयन्ति विषादयन्ति।
एता: प्रविश्य सदयं हृदयं नराणाम्
किं नाम वामनयना न समाचरन्ति ।।
—प्रबोधचन्द्रोदय, अंक १, श्लोक २७

कहीं-कहीं अन्त:कथाओं का रुचिर सन्निवेश हो जाने से शैली में चार चांद लग गया है। प्रथम अङ्क में परशुराम की प्रशंसात्मक उक्ति सूत्रधार के द्वारा कही गयी है। सूक्ष्म भाव से युक्त सूक्तियों का प्रयोग भी कहीं-कहीं द्रष्टव्य है। परस्पर वैर से कुलों का नाश आसानी से हो जाता है जैसे-वृक्ष की दो शाखाओं के घर्षण से अग्नि द्वारा सम्पूर्ण वन भस्मसात हो जाता है [१]। सूक्ष्म गम्भीर भावों को अनेक सूक्तियों ने व्यक्त करके नाटककार ने पाठक के हृदय को बरबस मुग्ध कर लिया है। इससे उसका भाषा-शैली पर पूर्ण - अधिकार प्रदर्शित होता है। विशिष्ट छन्दों के प्रयोग से भी शैली चमत्कृत हो गयी है। ।शार्दूलविक्रीडित छन्द का प्रयोग नाटक में प्रचुर रूप से हुआ है। [२] इसके अतिरिक्त मंदाक्रान्ता, वसन्ततिलका, शिखरिणी, मालिनी , इन्द्रवज्रा, आदि का सुरुचिपूर्ण विधान हुआ है। इसप्रकार भाषा-शैली के माध्यम से ही धर्मऔर दर्शन जैसे सूक्ष्म-नीरस विषय को सरस, सरल, रोचक और हृदयंगम रूप से अभिव्यक्त करना सम्भव हो सकता है। अत: प्रबोधचन्द्रोदय नाटक भाषा शैली की दृष्टि से भी एक उत्कृष्ट एवं सफल रचना है ।

रस की दृष्टि से प्रबोधचन्द्रोदय नाटक का वैशिष्ट्य——

नाटक में प्राचीन नाट्यशास्त्रानुसार श्रृंगार अथवा वीररस ही मुख्य होना चाहिए। परन्तु शान्त रस प्रधान इस नाटक की रचना कर कृष्ण मिश्र ने मौलिकता का प्रदर्शन किया है। चूंकि प्रस्तुत नाटक का विषय भी आध्यात्मिक है और धर्म एवं दर्शन से सम्बन्धित है। अत: आध्यात्मिक विषयानुसार

---

१. निर्दहति कुलविशेषं ज्ञातीनां वैरसंभव: क्रोध: ।
वनमिव घनपवनाहततरुवरसंघट्टसंभवोदहन : ।।
— प्रबोधचन्द्रोदय, अंक ५, श्लोक १

२. द्रष्टव्य —प्रबोधचन्द्रोदय, अंक १, श्लोक प्रथम ।

शान्त रस का प्राधान्य प्रस्तुत नाटक में अपेक्षित ही है। यही कारण है कि दर्शन की पृष्ठभूमि पर आधृत होने के कारण लगभग सभी प्रतीक नाटक शान्तरस प्रधान ही है।

शान्त रस ही इस नाटक में आदि से अन्त तक अपने उत्कर्ष पर है। यद्यपि अन्य आठों रस भी स्थल-स्थल पर प्रयुक्त हैं परन्तु अन्य रस अंग रूप में ही सुप्रयुक्त हैं, अङ्गी रस तो शान्त रस ही है। नाट्यशास्त्रीय दृष्टि से शान्तरस का स्थायी भाव `शम` माना गया है।[१] संसार की असारता का ज्ञान तथा परमात्मा के स्वरूप का परिज्ञान ही इसका आलम्बन विभाव है। तीर्थ, आश्रम, एकान्तवास, सत्संग आदि इसके उद्दीपन भाव कहे जा सकते हैं तथा हर्ष, स्मरण, दया, शरीर का पुलकित होना आदि संचारी भाव के अन्तर्गत आते हैं।

इस नाटक में शान्त रस के स्थायीभाव `शम` की सूचना नान्दी पाठ से ही मिलती है। आगे प्रस्तावना में नट के ये वाक्य- `तदयं शान्तरस-प्रयोगाभिनयेतात्मानंविनोदयितुमिच्छाम:` से स्पष्ट प्रतिभास हो जाता है कि यह नाटक शान्तरस ही प्रधान है। यथार्थत: धर्म और दर्शन, आत्मिक

---

१. शान्त: शमस्थायिभाव उत्तमप्रकृतिर्मत: ।

— साहित्यदर्पण, षष्ठ परिच्छेद, पृ० २४

मम्मटाचार्य ने अपने काव्यप्रकाश (पृ० ११६) तथा पण्डितराज जगन्नाथ ने अपने ग्रन्थ `रस गंगाधर` में (पृष्ठ ३२) शान्तरस का स्थायी भाव `निर्वेद` को स्वीकार किया है

२. जिन लोगों ने `निर्वेद` को शान्त रस का स्थायी भाव स्वीकार किया है उनके अनुसार इसका आलम्बन विभाव `संसार` होगा।

विकास, ब्रह्मानन्द की प्राप्ति आदि प्रतिपाद्य विषय होने के कारण शान्त रस के प्रधानत्व की सिद्धि निर्विवाद रूप से हो जाती है।

प्रस्तुत नाटक के शान्तरस का आलम्बन विभाव `प्रबोधोदय` है। इसमें अमूर्त पात्रों के द्वारा मन के अज्ञान (मोह) और विवेक (ज्ञान) का परस्पर संघर्ष दिखाकर ज्ञान को विजयी दिखाया गया है। ज्ञानी मन के वैरागी एवं शान्त हो जाने पर प्रबोध की उत्पत्ति होती है। द्वितीय और तृतीय अङ्क में काशी के आश्रमों और ब्राह्मणों का वर्णन , प्ररूपपात्रों चार्वाक, जैन, बौद्ध इत्यादि के सिद्धान्त की आलोचनात्मक विवेचना, कुरुक्षेत्र, मन्दारपर्वत , संसार की असारता दिखाना और षष्ठ अंक की दार्शनिक चर्चा इत्यादि उद्दीपन विभाव हैं। स्थायी 'शम' में क्षण, प्रतिक्षण उन्मग्न और निमग्न, हर्ष, दया आदि संचारी भाव हैं। पुरुष (ब्रह्म का अंशभूत) `आत्मा इसका आश्रय है। प्रबोधोदय के उपरान्त ब्रह्मानन्द का आस्वाद रूप आनन्द को यही प्राप्त करता है। इस प्रकार इन अनुभाव, विभाव और संचारी भावों के द्वारा पुष्ट होकर स्थायी भाव `शम` नाटकान्त में शान्त रस का रूप धारण करता है ।

प्रबोधचन्द्रोदय में गौण रस —

शृंगार, वीर, करुण, रौद्र, बीभत्स, अद्भुत, हास्य इत्यादि रसों का भी इस नाटक में अङ्ग रूप में प्रयोग हुआ है। शृंगार रस का सन्निवेश इन सबमें अपेक्षाकृत अधिक है।

प्रथम अङ्क[१] में काम और रति नामक पात्रों के विलास पूर्ण कथन से स्पष्ट शृंगार का आभास मिलता है। काम और रति को परस्पर बात-

---

१. प्रबोधचन्द्रोदय, प्रथम अङ्क, श्लोक १०, पृ० १३

चीत करना , जो शृंगार स्वरूप ही है, प्रत्यक्ष शृंगार की उद्भावना करता है। अपनी मदमत आँखों से संसार को मतवाला बनाता हुआ, रति के स्थूल और ऊँचे कुचद्वय को पीड़ित करते हुए, उसके रोमांचित भुजाओं से आलिंगित होता हुआ कामदेव आ रहा है। यह वर्णन पूर्णशृंगारिक है। इसमें काम स्वयं आश्रय है और रति ही आलम्बन विभाव है। रति के उच्च स्तन को पीड़ित करना, रोमांचित भुजाओं का आलिंगन उद्दीपन विभाव है। उसके नेत्रों की चंचलता, मादकता इत्यादि अनुभाव हैं। हर्ष, प्रसन्नता आदि संचारी भाव हैं। इस प्रकार विभाव, अनुभाव, संचारीभाव के द्वारा पुष्ट हुआ रति नामक स्थायीभाव शृंगार रस का रूप ग्रहण करता है।

वीर रस का प्रयोग प्रस्तुत नाटक में अनेकश: किया गया है। चौथे अङ्क में जब राजा विवेक अपने सब सहयोगियों को बुलाता है और महामोह से युद्ध छिड़ जाने की बात कहता है -उनमें से वस्तुविचार का वचन वीर रस से एकदम पूर्ण है। वह कहता है कि पंचशर और पुष्पचाप वाले काम को जीतने के लिए शस्त्र की क्या जरूरत है। आगे फिर वह कहता है कि शरतुल्य चतुर्दिक विस्तृत विचारों से शत्रुसैन्य का मन्थन कर काम को उसी तरह मार सकता हूं जिस प्रकार कौरवसेना को मथकर अर्जुन ने जयद्रथ को मारा था।[१] इस उक्ति में वीर रस की पूर्णउद्भावना हुई है। वस्तुविचार में निवास करने कर वाला 'उत्साह' ही इसका स्थायी भाव है। वस्तुविचार आश्रय, काम आलम्बन , काम की मादकता आदि उद्दीपन, काम को मारने का संकल्प, उत्साहपूर्ण वचनों का कहना आदि अनुभाव तथा धैर्य, मति, गर्भ और तर्क आदि संचारीभाव हैं। इन्हीं से परिपुष्ट स्थायी भाव 'उत्साह' रस चर्वणा में सहायक है ।

रौद्ररस का स्थायी भाव क्रोध है। इसका स्पष्टीकरण द्वितीय अंक में क्रोध के ही कथन से होता है। जब क्रोध अपने महाराज मोह से यह कहता

---

१. प्रबोधचन्द्रोदय, चतुर्थ अङ्क, श्लोक १४, पृ० १४८

है कि —

अन्धीकरोमि भुवनं बधिरीकरोमि
धीरं सचेतनमचेतनतां नयामि ।
कृत्यं न पश्यति न येन हितं शृणोति
धीमानधीतमपि न प्रतिसंदधाति ।।[१]

`मैं संसार को अंधा कर सकता हूं और बहिरा कर सकता हूं । धीर को अधीर तथा मूर्ख कर सकता हूं जिससे उसे कर्तव्य का ज्ञान न होगा , उसे अपने हित की बात भी सुनाई नहीं पड़ेगी और बुद्धिमान होकर भी वह भी सभी बातें भूल जायगा । ` इत्यादि कथन से सचमुच क्रोध अभिव्यक्त हो जाता है । यहीं रौद्र का स्थायी भाव है । इसके शत्रु विवेक के दल वाले श्रद्धा आदि आलम्बन उनका विरुद्ध आचरण उद्दीपन, क्रोध ही आश्रय, उसकी गर्वोक्ति ही अनुभाव तथा चिन्ता, आवेग इत्यादि संचारी भाव । इन्हीं से पुष्ट हुआ `क्रोध` नामक स्थायी भाव रौद्रस के रूप में अभिव्यक्त होता है ।

बीभत्स रस का स्पष्ट वर्णन वहां मिलता है जहां विष्णु भक्ति से श्रद्धा युद्ध का समाचार बता रही है —

`बहुलरुधिरस्तोयास्तत्र सस्रुः स्रवन्त्यो`[२]

अर्थात् मांसरूपी कीचड़ से युक्त, कंकरूपी दीन प्राणियों से भरा हुआ , रक्त - रूपी जल से भरी हुई नदियां बहने लगीं । बाणों से टूटे हुए सिर वाले हाथी रूप पर्वत से वेग के साथ गिरने वाले छत्र उस नदी के हंस सदृश लगते थे । इस वर्णन में सहृदय पाठकों की `जुगुप्सा` ही इसका स्थायी भाव है । मांस, रक्त कंकाल आदि आलम्बन , पाठक या दर्शक आश्रय थूकना इत्यादि अनुभाव, आवेग

---

१. प्रबोधचन्द्रोदय, अङ्क २, श्लोक २६, पृ० ७६

२. प्रबोधचन्द्रोदय, ~~प्रथम~~ अङ्क पांच, श्लोक १०, पृ० १७६

इस प्रकार अंगी और अंगरस को एक दूसरे के पूरक रूप में दिखाने का ध्येय नाटककार का सफल रहा । लौकिक व्यक्ति विशेषत: शृंगार की ओर ही प्रवृत्त होता है । अत: शृंगारादि रसों के द्वारा ब्रह्मानन्द जैसे शान्त से पूर्ण आनन्द को शान्तरस में परिणित कर देने में कवि की प्रतिभा ही प्रशंसनीय है । प्रबोधचन्द्रोदय में मुख्य शान्तरस की सरस प्रभावशाली योजना गौणरसों को आधार बनाकर किया गया है । इसके अभाव में शान्त रस की योजना में मनोवैज्ञानिक प्रभाव का भी अभाव हो जाता है । अत: गौण रसों ने जहां शान्त रस की निरसता , शुष्कता को दूर किया , वहीं शान्तरस के आनन्द को स्थायित्व भी प्रदान किया है । अत: रस योजना की दृष्टि से प्रबोधचन्द्रोदय एक सरस एवं सफल प्रतीक नाटक है ।

प्रबोधचन्द्रोदय का संस्कृत साहित्य में एक महत्त्वपूर्ण स्थान :—

संस्कृत साहित्य में प्रबोधचन्द्रोदय की कोटि का पूर्णत: प्रतीक नाटक इसके पूर्व समुपलब्ध नहीं होता है । इसके पूर्व भास के `बालचरित` नाटक में शाप और राज्यश्री मात्र अमूर्त पात्रों का थोड़ा-सा कथोपकथन चला है । तदनन्तर अश्वघोषकृत एक खण्डित प्रति में कीर्ति, बुद्धि, धृति का संलाप हुआ है । इसको देखने से इतना तो सत्य ही है कि प्रतीक नाटक का सूत्रपात और प्रारम्भ वहां से ही है । कृष्ण मिश्र ने इस विच्छिन्न परम्परा का पुनरुज्जीवन ग्यारहवीं शताब्दी के मध्य में इस नाटक को लिख कर किया । दसवीं शताब्दी में ` उपमितिभवप्रपंच कथा ` नामक अमूर्त शैली का ग्रन्थ लिखा गया । डाक्टर जयदेव ने प्रबोधचन्द्रोदय को केवल इसका अनुकरण माना है । परन्तु ऐसा मानना इस मौलिक नाटक के प्रति अन्याय करना है । यह बात अवश्य हो सकती है कि श्रीकृष्ण मिश्र उससे प्रभावित हुए हों फिर भी इस प्रकार अमूर्त पात्रों के द्वारा पूर्ण दार्शनिकता से समन्वित विषय को नाटकीयता का रूप देना, उसमें छन्द योजना, सरसता , रोचकता इत्यादि का प्रतिपादन करना नाटककार की पूर्णत: मौलिक प्रतिभा की देन है क्योंकि इसके पूर्व इस

शैली का कोई भी प्रतीक नाटक पूर्णतः समुपलब्ध तो होता नहीं है।

प्रबोधचन्द्रोदय के अध्ययन से यह ज्ञात होता है कि कृष्णमिश्र भले ही पूर्व परम्परा का अनुकरण किए हों, परन्तु वेद, उपनिषद्, षड्-दर्शन इत्यादि के प्रकाण्ड पण्डित अवश्य थे और इसी विद्वता के कारण ही कीर्तिवर्मा के राज्यसभा में गुरू पद से आदृत थे। उन्होंने अपने अध्ययन के बल पर एवं चिंतन के सामर्थ्य से पूर्ववर्ती साहित्य को आत्मसात कर लिया था। और आत्मसात किए हुए अपने इस ज्ञान को युगपरिस्थिति के कल्याणार्थ प्रस्तुत कर ही दिया होगा - क्योंकि मौलिक प्रतिभा उनमें थी ही। इस नाटक का अनेक भाषाओं में अनुवाद होना भी इसके प्रबलतम वैशिष्ट्य के समर्थन में सहायक है।

'मोहराजपराजयम्' नाटक का समीक्षात्मक अध्ययन—

प्रबोधचन्द्रोदय के बाद दूसरा प्रतीक नाटक तेरहवीं शताब्दी में मोहराजपराजय नाम का नाटक उपलब्ध होता है। प्रस्तुत नाटक की कथावस्तु पूर्ण मनोवैज्ञानिक है। इसमें दो पक्ष हैं —एक ओर कुमारपाल और उनके सहयोगी और दूसरी ओर महामोह और उसके सैनिकगण इन दोनों दलों में परस्पर युद्ध दिखाना और असत् भावनाओं की पराजय दिखाना पूर्ण मनोवैज्ञानिक है। साधारणतया असत् भावना की पराजय होती हुई देखी गयी है।

प्रस्तुत नाटक में यह वर्णन किया गया है कि जैन गुरु हेमचन्द्र द्वारा राजा कुमारपाल ने जैन धर्म का पालन किस प्रकार किया और हिंसा, जुवा, मारि आदि दुर्व्यसनों को हटाते हुए मोहराज पर किस प्रकार विजय प्राप्त की। इसइतिवृत्त का वर्णन प्रतीक शैली में अमूर्त पात्रों के माध्यम से नाटककार ने किया है। यद्यपि नाटककार का मुख्य ध्येय जैन धर्म का पालन तथा असत् भावनाओं का सत् भावनाओं के द्वारा पराजित होने का वर्णन करना ही

है। फिर भी दार्शनिकता के कारण कथानक में शुष्कता नहीं आने पाई। सामान्य नाटक की तरह ही पाठक रसानुभूति इस नाटक के पढ़ने से भी करता है। अन्तर केवल इतना ही है कि इसमें अमूर्त पात्रों के माध्यम से नाटककार अपने लक्ष्य को पूरा किया है। प्रबोधचन्द्रोदय नाटक से कई स्थलों पर प्रस्तुत नाटक का सादृश्य दिखाया जा सकता है।[१]

पात्रों की दृष्टि से प्रस्तुत नाटक के कथावस्तु की सर्वप्रमुख विशेषता अमूर्त और मूर्त पात्रों में परस्पर बातचीत कराना है। इस नाटक में मिश्र शैली का प्रयोग है। इसके पूर्व के नाटक में अमूर्त पात्रों का ही आपस में कथनोपकथन मिलता है। परन्तु इसमें नायक कुमारपाल मूर्त पात्र है और अन्य उसके सहयोगी – यहां तक कि उसकी धर्मपत्नी तथा द्वितीय पत्नी दोनों (राज्यश्री, कृपासुन्दरी) भी अमूर्त हैं। प्रबोधचन्द्रोदय नाटक में नायक विवेक अमूर्त पात्र है और उसके अन्य सभी सहयोगी भी अमूर्त ही हैं। प्रस्तुत नाटक का नायक कुमारपाल ही है क्योंकि फलाधिकारी वही है और संघर्ष के बाद विजय भी उसी को प्राप्त होती है।

---

१. भाव-साम्य –

मदनदेव –

किंचित्कुन्दप्रसवधवलं किंचिदुन्मेषधीरं
किंचिल्लोलभ्रमरमधुरं किंचिदाकुंचिताग्रम्।
किंचिद्भावालसमसरलं प्रेरितं कामिनीनां
शस्त्रं दृष्ट्वा मम रणमुखे वैरिणो विद्रवन्ति ।।

— मोहराज पराजय, अंक, ५, श्लोक ६०,पृ०१३

काम –

रम्यं हर्म्यतलं नवाः सुनयना गुंजद्द्विरेफा लता

< < <

— प्रबोधचन्द्रोदय, अङ्क, १,श्लोक१२,पृ०१५

प्रस्तुत नाटक के पात्रों को चार श्रेणियों में रखा जा सकता है ।
मूर्त, अमूर्त, प्ररूप और साधारण ।

मूर्त— नायक कुमारपाल

अमूर्त— राज्यश्री, कृपासुन्दरी, रौद्रता, पातालसुन्दरी, सौमता, नगरश्री, देशश्री, वनिता, वनराजी, पापकेतु, पुण्यकेतु, मदनदेव, विवेकचन्द्र, ज्ञानदर्पण, कदागम आदि ।

प्ररूप पात्र—कौल, कापालिक, रह्माण, घटचटक, नास्तिक आदि

साधारण पात्र— सूत्रधार, नटी, विदूषक, प्रतीहार आदि ।

रस की दृष्टि से `मोहराजपराजय` भी शान्त रस प्रधान ही है । कहने की आवश्यकता नहीं कि कथा का एक लम्बा अंश वीरात्मक उक्तियों से भरा है फिर भी अपने समापन काल में कथा की परिणति शान्त रस में ही होती है । कथा के नायक कुमारपाल का प्रमुख संघर्ष तमाम भौतिक कठिनाइयों को (मोहराज) पराजित करके जिन (जैनतीर्थङ्कर) की स्थिति को प्राप्त करना है । नाटक में बहुत ही सटीक और सफल प्रतीक शैली का प्रयोग किया गया है । नाटक का नायक कुमारपाल एक भौतिक शरीरधारी नायक है — एकमात्र यही यथार्थ पात्र है, अन्यथा सभी मुख्य पात्र प्रतीकात्मक ही हैं । नाटक की नायिका कृपासुन्दरी, उसके पिता विवेकचन्द्र , उसकी माता शान्ति समन्वित रूप से जैन धर्म के प्रतीक हैं । इस प्रकार नायिका जैनधर्म की है । राजा कुमारपाल का प्रतिपक्षी मोहराज (सांसारिक मोह) का प्रतीक है । इन सभी प्रतीक पात्रों द्वारा करायी गयी अभिव्यंजना से यही प्रमाणित होता है कि नाटककार किसी न किसी रूप में जैनधर्म का उपदेशक है । और इसमें सन्देह नहीं कि उसने बहुत ही कलात्मक ढंग से अपने सम-सामयिक जनमानस को जैनधर्म के प्रति आस्थावान बनाने की दिशा में अभूतपूर्व सफलता प्राप्त की है ।

'कृपा' जैन धर्म की अधिष्ठात्री है और विवेक उसका व्यक्तित्व है तथा शान्ति उसकी उपलब्धि । लौकिक रूप में कृपासुन्दरी और राजा (कुमारपाल) का सम्बन्ध एक भौतिक नायक-नायिका का शृंगारिक सम्बन्ध होने होने का भ्रम पैदा कर सकता है किन्तु सत्यता यह है कि इसमें वैराग्य और जीवन्मुक्ति की दिशा में राजा का प्रयत्न ही चित्रित किया गया है। नाटक पढ़ते समय पाठक उसका आनन्द लौकिक शृंगार के रूप में ले सकता है - किन्तु गम्भीरता से विचार करने पर पूरी कहानी एक दार्शनिक खाके में बदल जाती है। सचमुच अपने अन्त में नाटक बहुत ही प्रभावकारी और दीर्घजीवी असर छोड़ जाता है। अपने आप में यह असर शान्त सरोवर की तरह बिलकुल निरापद और स्थिर लगता है।

अब यह तो सिद्ध हो ही चुका कि नाटककार अपनी समसामयिक जिन्दगी से ऊब चुका है और वह शान्ति की छाया में दुनियां के कोलाहल से दूर विश्राम पाना चाहता है -इसी के लिए वह संघर्ष भी करता है, उसे लड़ाइयां भी लड़नी पड़ती है। लेकिन वह इन सब को एक कर्मठ अभिनेता के रूप में पूरा करता है। क्योंकि अन्तत: उसे शान्ति की अपेक्षा है। नाटक में जो अंतिम अंश वीर रस से संबंधित है वह भी शान्त रस से परिचालित है - कृपा की आकांक्षा से ही परिचालित है और विवेक की तर्क साङ्गकता से अनुप्रेरित है।

मानव का सबसे बड़ा दुश्मन उसका मोह होता है — गीता में भगवान् कृष्ण ने भी ऐसा स्वीकार किया है कि मोह मनुष्य के लिए नाश का कारण बन सकता है। (अध्याय २, श्लोक ६२-६३) । नाटककार भी इसी तथ्य को मानकर चलता दीख पड़ता है । मोहराज पर विजय राजा के लिए मोह (सांसारिक मोह, माया आदि) पर विजय है — इसे प्राप्त करने के लिए राजा को कृपा की आवश्यकता पड़ती है। किन्तु परेशानी यह है (लौकिक दृष्टि से) कि राज्यश्री (राज्यसत्ता) जैसी जायज

धर्मपत्नी के होते हुए कृपासुन्दरी से सम्बन्ध (विवाह) हो तो कैसे ? इसके लिए राजा को एक चाल चलनी पड़ती है क्योंकि राज्यश्री भी कृपासुन्दरी के सौन्दर्य से कम सतर्क नहीं है। वह छुपे-छिपे देवी के मन्दिर में सिर्फ इसलिए प्रार्थना करती है कि कृपासुन्दरी का सौन्दर्य नष्ट हो जाय। किन्तु तभी राजा के मंत्री पुण्यकेतु ` जो राजा के पुण्य कर्मों का प्रतीक है ` रानी राज्यश्री को भ्रमित कर देता है। वह देवी की आड़ से कहता है कि तब तक कि कृपासुन्दरी से उसका विवाह न हो जाय। इस कथन को रानी देवी का कथन मान लेती है और उसमें एक बड़ा परिवर्तन हो जाता है जिससे कि वह स्वयं कृपासुन्दरी से राजा का विवाह करा देती है।

कथाकेइन सभी तंतुओं से एक ही प्रमुख निष्कर्ष हाथ में आता है और वह है·— विवेकपूर्ण शान्ति और कृपा की उपलब्धि । जैन धर्म में शान्ति का बड़ा ही महत्व है। कृपा या अनुकम्पा उसकी सर्वमान्य विशेषता है इसके लिए अनिवार्य रूप से सप्तव्यसनों (मारि , जुआ आदि) का त्याग करना पड़ता है। नाटक में आए हुए शुक[1] के कथन का इसी दृष्टि से उपयोग समझा जाना चाहिए —कम से कम मैंने इसीरूप में समझा है। फिर योगी, (ज्ञान दर्पण नामक) की योजना भी , मुझे ऐसा लगता है कि नाटककार ने इसी उद्देश्य से की है। शुक और योगी के कथोपकथन एक तरह से जैन सिद्धान्त की अभिव्यक्ति है।

कुल मिलाकर इसी निष्कर्ष पर पहुंचा जा सकता है कि `मोहराजपराजय` नाटक अपनी अभिव्यक्ति में शान्त रस प्रधान नाटक है। वीर, या शृंगार इसमें प्रधान नहीं कहे जा सकते । हां , गौण रूप में इन्हें प्रतिष्ठा दी जानी चाहिए।

---

१. `मोहराजपराजयम्` —द्वितीय अङ्क, पृ० ३२- ३३

शान्त रस का स्थायी भाव शम है। प्रस्तुत नाटक में जैन तीर्थङ्कर (जिन) के रूप में नायक ही आलम्बन है। योगी और शुक के उपदेश आदि उद्दीपन विभाव है। सप्त दुर्व्यसनों को त्यागना, लावारिस सम्पत्ति के जब्तीकरण की प्रथा का त्यागना आदि ही अनुभाव है। उद्विग्न, प्रसन्न , चिन्ता आदि संचारी भाव हैं। इस प्रकार विभाव, अनुभाव, संचारी भाव से परिपुष्ट हुआ 'शम ' स्थायीभाव शान्त रस का रूप धारण करता है। नाटककार शान्त रस की इस अभिव्यक्ति को पूर्णता प्रदान करने में अच्छी सफलता प्राप्त की है।

'मोहराजपराजय' नाटक भाषा-शैली की दृष्टि से भी एक सफल रचना है। इसकी भाषा सरस, अत्यन्त सरल और भावपूर्ण है। जैसा वर्णन है उसी प्रकार की भाषा का प्रयोग किया गया है। यह सर्वथा सुबोध शैली में लिखा गया प्रतीक नाटक है। लम्बे-लम्बे समासों तथा बाणभट्टीय शैली के विशालखण्डों का प्रयोग प्रस्तुत नाटक में नहीं हुआ। नायक कुमारपाल ही स्वयं गुजरात के चालुक्य वंश में उत्पन्न महान नरेश हैं[1]। इस प्रकार ऐतिहासिक दृष्टि से भी नाटक पूर्ण सफल है। सरल भाषा का प्रयोग पांचवें अङ्क में ज्ञान दर्पण द्वारा विपक्षी सैनिकों के निवास स्थान का वर्णन करते समय हुआ है — .... अमी विषयोधानां निवासा: । अमी शृंगारादि रससेनापतिनां गृहा: । अयं कलिकन्दलस्य निलय: । असौ मिथ्यात्वरोशरास्य धाम । इदं लोभसागरस्य गृहम् । इदं प्रमादस्यावसथम । इदं शोकस्य निकान्तम् । इदम् संयमस्य धिष्ण्यम् । इदुममात्यपापकेतोर्निकेतनम् । इदम् रागकेसरिणा: सदनम्[2]। इत्यादि को देखने से नाटककार की शब्दरचना का

---

१. (अ) संस्कृत ड्रामा—ए०बी० कीथ, पृ० २६८

(ब) संस्कृत साहित्य का इतिहास --बलदेव उपाध्याय, पृ० ६१७

२. 'मोहराजपराजयम्' —पंचम अङ्क, पृ० १२४

भान होने लगता है। समयानुसार प्राकृत का भी खूब प्रयोग मिलता है। कहीं-कहीं सुरुचिर सूक्तियां भी प्रयुक्त हैं जैसे -पांचवें अंक में पापकेतु कहता है - 'कठोरहितवादिनो हि प्रणिध्यो भवन्ति '[1] अर्थात् गुप्तचर कटु एवं हितकारी बात ही कहते हैं, प्रिय और अहितकर बातें वे नहीं कहते। उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, अर्थान्तरन्यास, अन्योक्ति, वक्रोक्ति, दीपक इत्यादि अलंकारों का प्रयोग यथोचित किया गया है। रूपक का प्रयोग पांचवें अंक के ५५ वें श्लोक में द्रष्टव्य है। मन्दाक्रान्ता, शिखरिणी शार्दूलविक्रीडित, मालिनी इत्यादि छन्दों का उचित निर्वाह पाया जाता है। शार्दूलविक्रीडित छन्द का तो अनेकश: प्रयोग हुआ है। वैदर्भी रीति का ही विशेष प्रयोग मिलता है। इसप्रकार यह नाटक भाषा शैली की दृष्टि से पूर्णत: सफल रचना कही जा सकती है।

संकल्पसूर्योदयनाटक का समीक्षात्मक अध्ययन-

संकल्पसूर्योदय' १४ वीं शताब्दी के प्रसिद्ध दार्शनिक कवि वेंकनाथ की रचना है। संस्कृत वाङ्मय में प्रतीक शैली का यह तीसरा नाटक है। यद्यपि इस नाटक में अपनी पूर्ववर्ती परम्पराओं का भली-भांति उपयोग किया गया है फिर भी अपनी मौलिक कथा योजना के लिए नाटककार लम्बे अरसे तक याद किया जायगा। प्रस्तुत नाटक की कथावस्तु १० अङ्कों में विभाजित है किन्तु कथा के प्रवाह में सर्वत्र ऐक्य बनाये रखने का सफल प्रयास नाटककार के द्वारा किया गया है। सम्भवत: इसीलिए कथा में कुछ नीरसता भी आ गई है। तथापि संघटन की दृष्टि से कथा के तंतुओं में परस्पर रुचिकर सम्बन्ध बना

---

१. 'मोहराजपराजयम्' अङ्क-५, पृ० १२६

हुआ है ।

नाटक का विषय चूंकि , दार्शनिक मतवाद का विषय है इस-
लिए कथारूप की रोचकता का ह्रास दीख पड़ता है । इसके पहले के नाटकों
की यह स्थिति नहीं है । उनमें कथारूप को अत्यधिक सुरक्षित रखने की चेष्टा
की गयी है । किन्तु 'संकल्पसूर्योदय' अपनी दार्शनिकता में अधिक पटु और कथा-
रोचकता में कम सफल नाट्यकृति है । कहने की आवश्यकता नहीं कि नाटक में
कथावस्तु की रोचकता सबसे प्रमुख बात होती है । उसके अभाव में साधारण
पाठकों को रसानुभूति नहीं हो पाती है । और फिर दार्शनिक मतवादों
के आधिक्य से नाटक का अत्यधिक विस्तार भी होता गया है जो पाठकों
से अतिरिक्त धैर्य की अपेक्षा रखता है ।

अभिनय की दृष्टि से भी यह नाटक उतनी सफल रचना नहीं
है , हाँ , एक साधारण रचना ही ठहरती है । न तो इसके लम्बे संवादों
को याद किया जा सकता है और न, ही उसकी अभिव्यंजना ही करायी जा
सकती है। फिर भी कथा की गतिशीलता में कोई विशेष बाधा नहीं उपस्थित
हुई है । उद्देश्यपूर्ति में नाटककार सर्वत्र सजग दीखता है । ऐसा लगता है
कि उद्देश्य की पूर्ति के लिए कथा तंतुओं को अनावश्यक रूप से खींच-तानने की
भी जरूरत पड़ी है । लेकिन यह अस्वाभाविकता की सीमा तक नहीं पहुंच
पाया है । कुछ अनावश्यक प्रसंग भी आए हैं — जैसे छठें अंक के कुछ अत्यधिक
लम्बे संवाद जो कथा को अनावश्यक विस्तार देते हैं किन्तु ऐसे स्थलों की
संख्या बहुत कम ही है ।

कथावस्तु में आधिकारिक कथा नायक विवेक की है । विष्णु-
भक्ति की कथा पताका तथा तर्क की कथा प्रकरी है ।

कथावस्तु के इस विवेचन से यह बात स्पष्ट होती है कि संस्कृत
प्रतीक नाटकों में संकल्प-सूर्योदय का एक विशिष्ट स्थान है लेकिन स्मरण रहे कि

यह नाटक 'प्रबोधचन्द्रोदय' और 'मोहराजपराजय' की परम्परा में ही आता है । दूसरे शब्दों में प्रबोध चन्द्रोदय और संकल्पसूर्योदय में तो अर्द्ध नाम साम्य के अतिरिक्त विषय और पात्र-साम्य भी मिलता है तथा संघटन में भी यह रचना अपनी पूर्ववर्ती परम्परा से अलगन नहीं है । जहां तक कथावस्तु का सम्बन्ध है — इसके भी इतिवृत्त का उपनिबन्धन प्रबोधचन्द्रोदय की ही तरह उपनिषदादि से ग्रहण किया गया है । परावरशुद्धाशुद्धादिविवेचनात्मा विवेक ही इसका भी नायक है और सुमति उसकी पत्नी है । व्यवसाय , शमदमादि विवेक के परिजन हैं । और प्रबोधचन्द्रोदय की तरह परावरशुद्धाशुद्धवैचित्यात्मा महामोह नाटक का प्रतिनायक है । दोनों पक्षों में संघर्ष भी समानरूप से दिखाया गया है । पुरुष, जो मोक्ष के लिए तत्पर है , महाराज विवेक उसके परिपन्थी महामोह को पराजित कर पुरुष को भगवत् समाधि में लगा-कर उसको संसार से मुक्ति दिला देता है । दोनों में अगर कहीं अन्तर है तो फल स्वरूप में ही । 'संकल्प सूर्योदय 'विशिष्टाद्वैत प्रधान ग्रन्थ है । विवेक जब महामोह को पराजित कर देता है तब पुरुष का श्रद्धा के साथ समागम होता है और वह भगवान् विष्णु का सारूप्य पदाधिकारी हो जाता है , जो कि विशिष्टाद्वैतवादियों के लिए उचित ही है । उधर प्रबोधचन्द्रोदय में महामोह के विवेक द्वारा पराजित होने पर मन के विलय के साथ पुरुष को विष्णु-भक्ति की सहायता से आत्मसाक्षात्कार रूप ब्रह्म की प्राप्ति होती है , वह ब्रह्माकार हो जाता है । दोनों के बहुत से पद्य मिलते जुलते हैं[1] इस प्रकार

---

१. सन्त्यते मम दन्तिनो मदजलप्रम्लानगण्डस्थला ,
वातव्यायतपातिनाश्च तुरगा भूयोऽपि लप्स्ये परान् ।
एतल्लब्धमिदं लभेपुनरिदं लब्धाधिकं ध्यायतां,
चिन्ताजर्जरचेतसां बत नृणां मा नाम शान्तेः कथा ।
— प्रबोधचन्द्रोदय ,अङ्क २, श्लोक ३०

लब्धं न मुंचति विलक्षमतिर्न भुङ्क्ते,
धत्ते पुनः पुनरसौ महती धनायाम् ।
निद्रारसं न लभते महतीं निधिनां,
रक्षापिशाचश्च सम्प्रति राजराज ।।
— संकल्पसूर्योदय, ४—१

देखते हैं कि यह रचना अपनी पूर्ववर्ती परम्परा से अलग तो नहीं है लेकिन सीढ़ी तो अवश्य ही है और नयी प्रतिभाओं की ओर इङ्गित तो करती ही है।

अभिनय की दृष्टि से 'संकल्पसूर्योदय' अपनी गम्भीर दार्शनिक प्रकृति और प्रबल पाण्डित्य प्रदर्शन के कारण एक असफल कृति ठहरती है। इसके अत्यधिक लम्बे संवादों ने अवश्य ही नाटकीय तत्त्वों की क्षति पहुंचायी है। वैसे तो सामान्यत: प्रतीक नाटकों का प्रस्तुतीकरण एक दुरूह कार्य होता है —— अमूर्त पात्रों को मूर्त रूप में रंगमंच पर दिखलाना प्राय: मुश्किल तो होता है फिर भी कुछ प्रयत्नों और संशोधनों द्वारा अगर यह कार्य सम्भव भी हुआ, तो भी 'संकल्पसूर्योदय' के विषय में विचिकित्सा की स्थिति ही स्वीकार की जायेगी।

इस नाटक में प्रस्तावना में 'ये लोकानिह वंचयन्ति विरलोर्दंच-न्महःकंचुका:'[१] इत्यादि श्लोक में 'अवगलित'[२] नामक मुखाङ्ग नाटककार ने प्रस्तुत किया है। प्रथम अङ्क में नाटक में मुख सन्धि प्रस्तुत की गयी है। इसमें अपवर्ग रूप मुख्य प्रयोजनवश अन्विति-कथांशों के उपसत्ति और प्रपत्ति आदि अवान्तर प्रयोजन से सम्बन्ध के कारण सन्धि निर्मित होती है। इस 'बीज' और 'आरम्भ' की समन्वयरूप सन्धि का अवतार 'महत्यारम्भोऽस्मिन् मधुरिपुदयासम्भृतधृति:'[३] इत्यादि श्लोक में नायक के उत्साह के उचित व्यापार के प्रदर्शन द्वारा 'आरम्भ' के उपस्थापन से होता है। इसी श्लोक में मुख सन्धि के 'उपक्षेप'[४] नामक अङ्ग को भी प्रस्तुत किया गया है। 'स्वरक्षाणभरार्पण-

---

१. संकल्पसूर्योदय-अंक १, पृ० ३४-३५

२. वही, (प्रभाविलास), अंक, १, पृ० ३५

३. वही, अंक १, श्लोक ६५, पृ० १३३-१३४

४. वीजन्यास उपक्षेप-दशरूपक, पृ० १८

दाणिक सत्रिणा: दौत्रिणा:`[१] इत्यादि श्लोक में मुख सन्धि के `विलोमन`[२] नामक अंग को प्रस्तुत किया गया है जिसमें बीज के गुण का वर्णन किया गया। राजा के कथन--` देवि त्रैलोक्यवेदिनि, दु:सहानादिदु:खसागरनिमग्नस्य यथागमं यथान्यायं च केनचित्कारणेन समुत्तमू: सम्भविष्यतीति संतोष्टव्यं तावत्[३]। इत्यादि में `बीज` के अनुकूल संघटन का प्रयोजन के लिए विचार किया गया है। अत: मुख सन्धि का `युक्ति`[४] नामक अंग यहां है। `निरपायदेशिकनि-दर्शितामिमां`[५] इत्यादि श्लोक में `प्राप्ति`[६] नामक अंग प्रस्तुत है। `स्वयमुपशमयन्ती स्वामिन: स्वैरलीलां`[७] इत्यादि श्लोक में `बीज` का सन्निधानरूप `समाधान`[८] नामक अंग है। सुमति के कथन ` अय्यउत्त, अपरिमिअदुरिअभरिअस्स जंतुणो दुक्खसाअरादो उत्तारणवअणं बालअणसंतोसवअणं विअ उवच्छंदणं ति पेक्खामि`[९] इत्यादि में सुख-दु:ख-हेतु `विधान`[१०] नामक अंग प्रस्तुत किया गया है। ` आबध्नती विगतशान्तिमनादिनिद्रां `[११] इत्यादि श्लोक में बीज विषयक आश्चर्य आवेश है अत: यहां पर `परिभावना`[१२]

---

१. संकल्पसूर्योदय, प्रथम अङ्क, श्लोक ८०

२. गुणाख्यानं विलोभनम् -दशरूपक, पृ० २०

३. संकल्पसूर्योदय -अंक १, पृ० २६१

४. सम्प्रधारणमर्थानां युक्ति: -दशरूपक, पृ० २१

५. संकल्पसूर्योदय -अंक १, श्लोक ८१

६. प्राप्ति: सुखागम: -दशरूपक, पृ० २१

७. संकल्पसूर्योदय -अंक १, श्लोक ८२

८. बीजागम: समाधानम् -दशरूपक, पृ० २२

९. संकल्पसूर्योदय -अंक १, पृ० २६५

१०. विधानं सुखदु:खकृत -दशरूपक, पृ० २३

११. संकल्पसूर्योदय -अंक १, श्लोक ८७

१२. परिभावो द्भुतावेश:, दशरूपक, पृ० २४

नामक अंग है। `अपजन्मजरादिका समृद्धि`[1] इत्यादि श्लोक में गूढ़ बीज का प्रकाशन रूप `उद्भेद`[2] नामक अङ्ग है। इसके बाद सुमति के कथन— `अय्यउत्त, अणुत्तरं एदं उत्तरं। अज्ज उण आतिसाहसाणिमिणानंतणिरूवण-बिलंबं असहंतस्य तुरंतहिअअस्स चेअणास्स सव्वाअमसारं संकलऊण दंसे दुं तुमं पत्थेमि`[3] में `बीज` का गुणप्रोत्साह रूप `संभेद`[4] नामक अंग है। `रिपु-गणविजिगीषाबिन्दु......` [5] में बीजानुगुण प्रस्तुत कार्यारम्भ रूप `करण`[6] नामक अंग है।

द्वितीय अङ्क में प्रतिमुख संधि को प्रस्तुत किया गया है। `त्वया त्रय्यन्तविज्ञानं`[7] इत्यादि श्लोक में दृष्टार्थविमिनी इहारूप `विलास`[8] नामक प्रतिमुख सन्धि का प्रथम अङ्ग प्रस्तुत किया गया है। तदनन्तर गुरू के कथन ` आयुस्मन् अवधारित परमार्थेन प्रतिभटकथकलङ्काभटहनूमता भवता स्थूणानिरवननन्यायेन संचालित-निष्कम्पनध्यात्मतत्त्वमवगच्छामि `[9] इत्यादि में प्रतिमुख सन्धि का `परिसर्प`[10] नामक अङ्ग प्रस्तुत है। `श्वापराङ्कलकृ-क्रमादमी संपतन्ति निगमान्तरोधका`[11] इत्यादि श्लोक में प्रतिमुख सन्धि का

---

१. संकल्पसूर्योदय— अङ्क १, श्लोक ६१

२. उद्भेदो गूढभेदनम् —दशरूपक, पृ० २५

३. संकल्पसूर्योदय—अंक १, पृ० १८२

४. भेदः प्रोत्साहन मता—दशरूपक, पृ० २६

५. संकल्पसूर्योदय—अंक १, श्लोक ६७

६. करणं प्रकृतारम्भः— दशरूपक, पृ० २६

७. संकल्पसूर्योदय, अङ्क २, श्लोक ६

८. रत्यर्थेहा विलासः स्याद् —दशरूपक, पृ० २६

९. संकल्पसूर्योदय— अङ्क २, पृ० २१६

१०. दृष्टनष्टानुसर्पणम् — दशरूपक, पृ० २६

११. संकल्पसूर्योदय—अंक २, श्लोक ५२

`नर्म`[१] नामक अङ्ग विद्यमान है। तदनंतर राजा के `भगवन् अतिवृष्टोऽयं भवत्प्रसादगोचरो महानुभाव:`[२] इत्यादि कथन में प्रतिमुख सन्धि का `प्रगमन` एक नामक अङ्ग विद्यमान है। `प्रधानपुरुषौ यदि प्रकृतियन्त्रितैरादृतौ`[३] इत्यादि श्लोक में छद्म से हितागमन का निरोधरूप `निरोध`[४] नामक अङ्ग वर्णित है । तदनन्तर राजा के `आर्य, पर्याप्तोऽसि कुतर्केन्द्रजालकोविदानां तथागतानां निरासे`[५] इत्यादि कथन में इष्ट जन का अनुनय रूप `पर्युपासन`[६] नामक अङ्ग विद्यमान है। `वंशवदवचोवृत्तिवादाद्व्यवहारथ:`[७] इत्यादि श्लोक में `उपन्यास`[८] नामक अङ्ग विद्यमान है। द्वितीय अङ्क के अन्त में राजा के कथन `वयमपि वैरिबलनिर्मूलनाय संप्रयतामहे`[९] इत्यादि में `वर्णसंहृति`[१०] नामक अङ्ग है।

तृतीय अङ्क में दृष्टनष्ट बीज की अन्वेषणारूप `गर्भ` सन्धि को प्रस्तुत किया गया है। चतुर्थ अङ्क में `इदं: पेशलमीदृशं मम धनु:`[११] इत्यादि श्लोक में कपट उपाय की कल्पनारूप `अभूताहरण`[१२] नामक गर्भ सन्धि का अंग प्रस्तुत किया गया है। `शृणोति कथयत्यसौ परिचिनोति सम्पृच्छतो`[१३]

---

१. परिहासवचो नर्म--दशरूपक, पृ० ३१

२. संकल्पसूर्योदय, अंक २, पृ० २७५

३. उत्तरा वाक्प्रगमनम्--दशरूपक, पृ० ३३

४. संकल्पसूर्योदय, अङ्क २, श्लोक ६६

५. हितरोधो निरोधनम्, दशरूपक, पृ० ३३

६. संकल्पसूर्योदय, अंक २, पृ० २६०

७. पर्युपास्तिरनुनय: , दशरूपक, पृ० ३४

८. संकल्पसूर्योदय, अंक २, श्लोक ६८

८. उपन्यासस्तु सोपायम् , दशरूपक, पृ० ३५

९. संकल्पसूर्योदय, अंक २, पृ० ३३२

१०. चातुर्वर्ण्योपिगमनं वर्णसंहार इष्यते, दशरूपक, पृ० ३६

११. संकल्पसूर्योदय, अंक ४, श्लोक १

१२. अभूताहरणाच्छद्म, दशरूपक पृ० ३७

१३. संकल्पसूर्योदय, अंक ४, श्लोक ३६

इत्यादि श्लोक में तत्त्वार्थ कथन रूप 'मार्ग' नामक अङ्ग प्रस्तुत किया गया है। 'पुरुषस्य विवेकविप्रलम्भात्'[१] इत्यादि श्लोक में उत्कर्षान्विति वाक्य-रूप 'उदाहरण'[२] नामक अङ्ग विद्यमान है। सप्तम अङ्क में 'क्वनु ते पुरुषोत्तम:'[३] इत्यादि व्यवसाय की उक्ति में 'त्रोटक'[४] नामक अङ्ग वर्णित है। व्यवसाय के ही 'निखिलजगदनवरतभयजनकदशवदनलपनदशकलवनजनितकदनरजनिचर-युवतिजनविलपनवचनविख्यापितपारम्यैण'[५] इत्यादि कथन में 'अनुमान'[६] नामक गर्भ सन्ध्यङ्ग उदाहृत है। अष्टम अङ्क में 'मधुसमयावरोधवदनासवदोहलिना'[७] इत्यादि श्लोक में गर्भ सन्धि का 'उद्वेग'[८] नामक अङ्ग वर्णित है।

नवम अङ्क में नाटककार ने 'विमर्श' नामक संधि को प्रस्तुत किया। यहां 'करणाहरिणश्रेणी'[९] इत्यादि श्लोक में विमर्श सन्धि का दोषप्रख्यापनात्मक 'अपवाद'[१०] नामक अङ्ग है। 'तत्त्वज्ञानैविशुद्धे'[११]

---

१. संकल्पसूर्योदय, अङ्क ५, श्लोक ६२
२. सोत्कर्षस्यादुदाहृति: , दशरूपक , पृ० २६
३. संकल्पसूर्योदय, अंक ७, पृ० ६ सौ ४०
४. द्रष्टव्य, दशरूपक, पृ० ४३
५. द्रष्टव्य, संकल्पसूर्योदय, पृ० ६५०
६. द्रष्टव्य , दशरूपक, पृ० ४१
७. संकल्पसूर्योदय, अंक ८, श्लोक ५४
८. दशरूपक, प्रथम प्रकाश, पृ० ४३
९. संकल्पसूर्योदय, अंक ९, श्लोक १०
१०. दशरूपक, प्रथम प्रकाश , पृ० ४७
११. संकल्पसूर्योदय, अंक ९, श्लोक १३

इत्यादि श्लोक में ‘द्रव’[१] नामक अङ्ग है। ‘जुगुप्सादेहादौ’[२] इत्यादि श्लोक में इस संधि का ‘छल’[३] नामक अङ्ग है। ‘कामातङ्कमतीत्य कोपदहनं’[४] इत्यादि श्लोक में वन्धवधादि रूप ‘विद्रव’[५] नामक अङ्ग है। ‘स्वापोद्बोध-व्यतिकरनिभे’[६] इत्यादि श्लोक में ‘प्ररोचना’[७] नामक अङ्ग है। इसी अङ्क में ~~व्यवसाय के ेसन में~~ विमुक्तिपथदेशिकैः’[८] इत्यादि श्लोक में ‘विरोधन’[९] नामक अङ्ग है। इसी अङ्क में व्यवसाय के ‘समयनिवत्तसाधिष्ठसूक्ष्मसन्मन्त्ररहस्य-वेदिना पुनरपि दिव्येन केनचित् देशिकेन दत्तदृष्टिभावियितव्यः।’[१०] इत्यादि कथन में विमर्श सन्धि का ‘प्रसंग’[११] नामक अङ्ग है। ‘त्रैगुण्याम्भोधिवेलावनतृणे’[१२] इत्यादि श्लोक में ‘द्युति’[१३] नामक अंग है। ‘विषयमदिरामुग्धैस्त्यक्तः’[१४]

---

१. दशरूपक, प्रथम प्रकाश, पृ० ४८
२. संकल्पसूर्योदय, अंक ६, श्लोक २३
३. दशरूपक, प्रथम प्रकाश, पृ० ५२
४. संकल्पसूर्योदय, अंक ६, श्लोक २६
५. दशरूपक, प्रथम प्रकाश, पृ० ४८
६. संकल्पसूर्योदय, अंक ६, श्लोक २७
७. दशरूपक, प्रथम प्रका, पृ० ५५
८. संकल्पसूर्योदय, अंक ६, पृ० २६
९. दशरूपक, प्रथम प्रकाश, पृ० ५४
१०. संकल्पसूर्योदय अंक ६, पृ० ७७५
११. दशरूपक, प्रथम प्रकाश , पृ० ५१
१२. संकल्पसूर्योदय, अंक ६, श्लोक ४०
१३. दशरूपक, प्रथम प्रकाश, पृ० ५१
१४. संकल्पसूर्योदय, अंक ६, श्लोक ४५

इत्यादि श्लोक में `आदान`[१] नामक अङ्ग है। `तृणादादं दोप्तुं`[२] इत्यादि श्लोक में `विचलन`[३] नामक अङ्ग है। `स्वफलेन तुलारूढ:`[४] इत्यादि श्लोक में पुरुषमोचनरूप बीज की निष्पत्ति के वर्णित हो जाने से विमर्श सन्धि का प्रधान अङ्गभूत `नियताप्ति` नामक अंश सूचित हो जाता है और इस प्रकार `नियताप्ति` और `प्रकरी` का साधन रूप विमर्श सन्धि निरूपित होती है।

दशम अङ्क में `निर्वहण` नामक सन्धि प्रस्तुत की गई है। `निरुध्यतरसा`[५] इत्यादि श्लोक में निर्वहण सन्धि का `सन्धि`[६] नामक अङ्ग प्रस्तुत है। `मुमुक्षुत्वे सिद्धे`[७] इत्यादि श्लोक में `निरोध`[८] नामक अङ्ग है। `स्वत: सिद्धस्वच्छस्थिरमधुरचिन्तासुरसरि`[९] इत्यादि श्लोक में `ग्रथन`[१०] नामक अङ्ग है। `त्रिभुवनमिदं शान्तक्षोभं`[११] इत्यादि श्लोक में अनुभूतार्थ का कथन होने से `निर्णय`[१२] नामक अङ्ग है। `त्वद्दृष्ट्यौ`[१३]

---

१. दशरूपक, प्रथम प्रकाश, पृ० ५७
२. संकल्प सूर्योदय, अंक ९, श्लोक ४७
३. दशरूपक, प्रथम प्रकाश, पृ० ५६
४. संकल्पसूर्योदय, अंक ९, श्लोक ४९
५. वही, अंक १०, श्लोक ३
६. दशरूपक, प्रथम प्रकाश, पृ० ५८
७. संकल्पसूर्योदय, अंक १०, श्लोक ४
८. वही, (प्रभाविलास) अंक १०, पृ० ७९९
९. वही, अंक १०, श्लोक ९,
१०. दशरूपक, प्रथम प्रकाश, पृ० ७
११. संकल्पसूर्योदय अंक, १०, श्लोक ११
१२. दशरूपक, प्रथम प्रकाश, पृ० ६०

इत्यादि श्लोक में `परिभाषा`[१] नामक अङ्ग वर्णित है। `व्यक्तो संनाह-संकल्पो`[२] इत्यादि श्लोक में `पर्युपासन`[३] नामक अङ्ग वर्णित है। `प्रकृत: क्रियया`[४] इत्यादि श्लोक में `आनन्द`[५] नामक अंग वर्णित है। विष्णु-भक्ति के कथन -तदसौ झटिति निस्त्रुटितनिगलयुगलस्त्वया विधातव्य:`[६] इत्यादि में दु:खनिर्गम रूप `समय` [७] नामक अङ्ग है। `स्वसेवासार्वभौमत्व`[८] इत्यादि श्लोक में `भाषा`[९] अङ्ग है। `ज्वलनदिवसज्योत्सना`[१०] इत्यादि में `उपगूहन`[११] नामक निर्वहण सन्धि का अङ्ग प्रस्तुत है। `कुलत्वेन`[१२] इत्यादि श्लोक में `पूर्वभाव`[१३] नामक इसी सन्धि का अङ्ग विद्यमान है। `किं विज्ञानै:`[१४] श्लोक में फलसम्पत्ति के प्रतिपादन से फलप्राप्ति नामक प्रधान अंग को कहा गया है। `अपुनरुदयो मायामोह:`[१५] इत्यादि श्लोक

---

१. दशरूपक, प्रथम प्रकाश, पृ० ६१
२. संकल्पसूर्योदय, अंक १०, श्लोक १९
३. दशरूपक, प्रथम प्रकाश, पृ० ६२
४. संकल्पसूर्योदय, अंक १०, श्लोक २८
५. दशरूपक, प्रथम प्रकाश, पृ० ६२
६. संकल्पसूर्योदय, अंक १०, पृ० ८२६
७. दशरूपक, प्रथम प्रकाश, पृ० ६३
८. संकल्पसूर्योदय, अंक १०, श्लोक ६३
९. दशरूपक, प्रथम प्रकाश, पृ० ६४
१०. संकल्पसूर्योदय, अंक १०, श्लोक ७२
११. दशरूपक, प्रथम प्रकाश, पृ० ६४
१२. संकल्पसूर्योदय, अंक १०, श्लोक ९०
१३. दशरूपक, प्रथम प्रकाश, पृ० ६४
१४. संकल्पसूर्योदय, अंक १०, श्लोक ९४
१५. वही, अंक १०, श्लोक ९६

में 'कार्य' का उपसंहार होने के कारण' निर्वहण' सन्धि का 'उपसंहार'[१] नामक अङ्ग वर्णित है । इस प्रकार इस नाटक की संधि और सन्ध्यंङ्ग-योजना स्पष्ट हो जाती है ।

पात्रों की दृष्टि से यह नाटक एक चरित्र कोष नाटक सा लगता है । इतने अधिक पात्रों को यद्यपि सोद्देश्य रखा गया है फिर भी इससे नाटक की संघटनशीलता में बहुत बड़ी क्षति पहुंची है । दरअसल इस नाटक को नाटककार ने एक चुनौती के रूप में लिखा है । प्रबोधचन्द्रोदय के प्रसिद्ध प्रणेता श्रीकृष्णमिश्र जी से यह चुनौती प्राप्त हुई थी इसलिए नाटक के प्राय: तत्त्वों में नाटककार के उन्मादपूर्ण दृष्टिकोण का प्रदर्शन लक्षित किया जा सकता है । पात्रों के सम्बन्ध में भी यह बात अपवाद नहीं है ।

इस नाटक में आए हुए पात्रों की निम्नलिखित श्रेणियां निर्णीत की जा सकती हैं —

(१) अमूर्त पात्र – (विवेक, सुमति, महामोह, दुर्मति आदि)
(२) प्ररूप पात्र— (गुरू, वाद, देवर्षि आदि)।
(३) साधारण पात्र–(नटी, विदूषकादि)

उपर्युक्त समस्त चरित्रों के रूपाङ्कन में नाटककार ने बहुत ही स्वस्थ मनोवृत्ति का परिचय दिया है । यह नाटककार की महत्त्वपूर्ण विशेषता कही जायगी कि उसने इतने विविध चरित्रों को उनकी अलग-अलग रूपरेखा के साथ चित्रित कर दिया है । चाहे विवेक हो, या महामोह , सुमति हो या दुर्गति —हर एक अपनी अपनी एक अलग प्रतिभा बनाती चली जाती हैं । यही नहीं वरन् वर्गविशेष से सम्बन्धित प्ररूप चरित्रों में गुरू (रामानुजाचार्य) , शिष्य (वेदान्तदेशिक), देवर्षि (नारद, तुम्बरू आदि) भी कम

---

१. दशरूपक, प्रथम प्रकाश, पृ० ६५

सफल चरित्र नहीं है। अपने-अपने वर्ग के सिद्धान्त प्रतिपादन में इन सबने बहुत ही महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की है। दरअसल विभिन्न वर्गगत चरित्रों द्वारा जो तार्किक संघर्ष कराया गया है वह नाटक को एक विशेष महत्त्व की श्रेणी में पहुँचा देता है। गुरू (रामानुजाचार्य) से शिष्य रूप में स्वयं नाटककार का तार्किक विवाद सैद्धान्तिक महत्त्व का तो है ही, साथ ही साथ उच्च बौद्धिकों के लिए एक अच्छा-खासा मनोरंजन का विषय भी बन जाता है। सामान्य चरित्रों में (नंदी, विदूषक, सूत्रधार) भी नाटककार की यह चरित्र-चित्रण की विशेषता आसानी से लक्षित की जा सकती है। और फिर सूत्रधार, नटी जैसे पात्र इन चरित्रों के प्राण ही बन गए हैं। नाटक के प्रारम्भ में सबसे पहले उपस्थित होना, फिर हमेशा के लिए गुम हो जाना यह बाध्यता होते हुए भी सूत्रधार और नटी दर्शकों की स्मृति से हटाए नहीं जा सकते --इनसे दर्शक ऊब भले ही जाय, लेकिन इन्हें भूल नहीं सकते ।`ऊबा देना` नाटककार के कथा शिल्प-शैथिल्य का प्रमाण है और ` भूल नहीं सकना` चरित्रों की तलस्पर्शी अभिव्यक्ति की पहचान।

प्रतीक नाटकों के विकास में `संकल्पसूर्योदय` पात्रों की दृष्टि से कोई बहुत प्रगतिशील नहीं लगता। कुछेक मौलिक चरित्रों की उद्भावना की बात छोड़ दी जाय तो प्राय: अधिकांश चरित्र अपने पूर्ववर्ती प्रतीक नाटकों के पात्रों की ही पुनरावृत्ति मात्र हैं। प्रबोधचन्द्रोदय से तो इसके चरित्रों का अद्भुत साम्य दीख पड़ता है। विवेक हो या मोहराज, सुमति हो या मति, दुर्मति या मिथ्यादृष्टि , काम हो या रति- थोड़े बहुत संशोधन के साथ एक ही भावधारा की अभिव्यक्ति लगते हैं। चुनौती के जवाब रूप में लिखे जाने के बावजूद भी` संकल्पसूर्योदय` — पात्रों की दृष्टि से प्रतीक नाटकों की सीमा को कोई बहुत दूर नहीं बढ़ा पाता। हां, आगे बढ़ने की गतिशील होने की प्रक्रिया और सम्भावित उपलब्धियों की ओर संकेत के अर्थ में ग्रहण किया जा सकता है — इसी अर्थ में इसे ग्रहण किया जाना चाहिए ।

रस की दृष्टि से यह नाटक भी 'शान्तरस' प्रधान नाटक है — इसमें दो मत नहीं हो सकते । नाटक का विषय मोह का पराजय और विवेक का उदय है। स्मरण रखने की बात है कि विवेकोदय की स्थिति गीता की स्थितिप्रज्ञता की स्थिति होती है —इस स्थिति में इन्द्रियां मन द्वारा नियन्त्रित और संतुलित हो जाती हैं और चित की स्थिति स्थिरता और शान्त में बदल जाती है। नाटककार की मान्यता है — शान्त रस ही चित्त के खेद को दूर करने वाला, वास्तविक आनन्द देने वाला एकमात्र रस है, शृंगार तो असभ्य की श्रेणी में आता है, वीर रस भी एक दूसरे के तिरस्कार और अवहेलना को प्रोत्साहन देता है और अद्भुत रस की गति स्वभावत: विरुद्ध है।[1] अत: शान्त रस ही नि:सन्देह वास्तविक रस है। तात्पर्य यह है कि नाटककार ने शान्तरस की इयत्ता के सामने और रसों को यहां तक शृंगार को (जो कि रसराज कहा जाता है) तक की भी अवहेलना कर डाली है और न केवल यह अवहेलना ही सत्य है बल्कि शान्तरस की सफल प्रतिष्ठा भी इससे कम सच नहीं है। यहां तक कि नाटककार ने शान्त रस को मूर्त रूप प्रदान कर दिया है।[2] नाटककार का यह प्रयास स्तुत्य

---

१. असभ्य परिपाटिकामधिकरोति शृंगारिता
परस्परतिरस्कृतिं परिचिनोति वीरायितम् ।
विरुद्धगतिरद्भुतस्तदलमल्पसारै: परै:
शमस्तु परिशिष्यते शमितचित्तखेदो रस: ।

— संकल्पसूर्योदय , अंक १, श्लोक १६

२. शृङ्गारवीरकरुणाद्भुतहास्यभीति-
बीभत्सरौद्रविषयानतिवर्तमान: ।
तत्त्वावलोकनविभावसमेधितात्मा ,
शान्तो रस: स्फुरति मूर्त इवैष धन्य: ।।

— संकल्पसूर्योदय, अंक १०, श्लोक ३८, पृ०८३८

प्रयास की कोटि में सहज ही गिना जा सकता है।

नाटक की सम्पूर्ण कथावस्तु मोहराज को पराजित करने और विवेक तथा ज्ञान के उदय को लेकर निर्मित की गई है। यद्यपि कि अन्य रसों जैसे – शृङ्गार, (रति, काम के प्रसङ्ग में), वीर (विवेक और महामोह के प्रसङ्ग में), करुणा (संघर्षोपरान्त के वर्णन में), बीभत्स अद्भुत (युद्ध के वर्णन और कापालिक वर्णन के सम्बन्ध में) की उद्भावना भी प्रस्तुत नाटक में कराई गई है फिर भी इन सबका सहयोगी रसों के रूप में ही उपादेय लगता है। प्रधान रस तो निर्विवाद रूप में शान्त ही है। शान्तरस की स्थिति दृश्य काव्य में स्वीकार न करने वाले आलोचकों को प्रस्तुत नाटककार ने आड़े हाथों लिया है और बड़े ही सबल तर्कों द्वारा एक चुनौती के रूप में शान्त रस की गौरवपूर्ण प्रतिष्ठा की है। रस के आदि आचार्य भरत मुनि द्वारा परिगणित न होने पर भी शान्तरस भरत के व्याख्याता अभिनव गुप्त द्वारा अपनी सबल प्रतिष्ठा कराकर उद्भट, मम्मट और विश्वनाथ द्वारा पालित-पोषित होकर अपनी दीर्घकालीन संजीविनी शक्ति का प्रमाण तो प्रस्तुत करता ही है।

प्रस्तुत नाटक में कुछ प्रासङ्गिक रस भी उद्भावित हुए हैं। विवेक और महामोह के संघर्ष के समय महामोह की यह गर्वोक्ति प्रमाण के लिए पर्याप्त होगी।[१] इसी प्रकार शृङ्गार, करुण, हास्य, रौद्र, बीभत्स इत्यादि रसों का भी नाटककार ने यथावसर संयोजन किया है।

---

१. महामोह– अयि महामोहपत्नी. -------------- ।

वश्यं तिष्ठतिषड्विधं मम बलं मायाविन: सैनिका:

x x x

x x x

सेतुर्घोरविवेकसिन्धुतरणो शृंगारदेवार्चनम् ।।

— संकल्पसूर्योदय: , अङ्क,८,श्लोक २२

प्रस्तुत नाटक के दसवें अङ्०क में विष्णुभक्ति द्वारा अभिव्यक्त 'श्रद्धाधनेन मनसा लभते समाधिम्' इत्यादि वाक्यों में मन के कामादि के दूर हो जाने पर शान्ति (समाधि) ही आलम्बन विभाव है। षष्ट अंक में वर्णन किया गया तीर्थादि (वाराणसी, श्रीरङ्०ग आदि) की आलोचना करके हृदयगुहा को लक्ष्मीपति के निवास को बताना, सातवें अङ्०क में भगवदवतारों का वर्णन, विष्णु के दशों अवतारों का प्रतिपादन , निदिध्यासन की मोक्ष प्रदता का चित्रण आदि उद्दीपन विभाव हैं। नवें अङ्०क में पुरुष की भक्ति प्रवणता का बढ़ना, ध्यान मग्न होना आदि अनुभाव हैं। इसी नवें अङ्०क में कर्मनाम्नी अविद्या के द्वारा कामादिकों के बढ़ावा देने से उत्पन्न चिन्ता, 'शम ' में क्षण-प्रतिक्षण उन्मग्न होना आदि संचारीभाव हैं। विभाव अनुभाव और संचारीभाव से परिपुष्ट हुआ 'शम' नामक स्थायीभाव शान्तरस का रूप धारण करता है।

'संकल्पसूर्योदय' नाटक एक आभिजात्य शैली का उदाहरण प्रस्तुत करता है। भाषा में प्रवाह और ओज गुण है।[१] शैली मार्मिक और पाण्डित्य प्रदर्शन से युक्त है। प्रबोधचन्द्रोदय की भाषा का सारल्य यहाँ सप्रयास ही ढूँढ़ निकाला जा सकता है अन्यथा सर्वत्र उसकी भाषा में पाण्डित्यपूर्ण और अर्थगौरवान्वित शब्दावली ही मिलती है। दरअसल

---

१. चूडावेल्लितचारुहल्लकभरव्यालम्बिलोलम्बक
क्रीडन्त्यत्र हिरण्मयानि दधतः शृङ्०गाणि शृंगारिणः
तन्वङ्०गीकर यन्त्रयन्त्रणकलातन्त्रदारदृभस्त्रिका–
कस्तूरीपरिवाहमेदुरमिलज्जम्बाललम्बालका
— संसकल्पसूर्योदय, अङ्०क १, श्लोक ३३, पृ०७५

प्रबोधचन्द्रोदय की चुनौती में लिखे जाने की वजह से अनिवार्यत: भाषा में कुछ अक्खड़ेपन और दुरूहपन आ गया है। प्रबोधचन्द्रोदय नाम के जवाब में 'संकल्पसूर्योदय' नाम नाटककार की उत्कट काव्य-प्रतिभा और उच्च-पाण्डित्य प्रदर्शन का ही प्रमाण है। इस दृष्टि से 'प्रबोधचन्द्रोदय चांदनी रात की छटा का प्रतिनिधित्व करता है तो 'संकल्पसूर्योदय' दिन के प्रचण्ड और पौरुषेय स्वभाव का परिचायक है। एक में कोमलता और सुकुमारता का आधान है तो दूसरे में कठोरता और दृढ़ता का। उपर्युक्त दृष्टिभेद के कारण भाषा और शैली में भी दोनों नाटकों में पर्याप्त भिन्नता उपस्थि हो गयी है। एक में माधुर्य और प्रसाद को स्वीकार किया गया है तो दूसरे में ओज गुण को ।

वस्तुत: 'चन्द्र' और 'सूर्य' में स्त्री और पुरुष जैसा सम्बन्ध मानने की किंवदन्ति प्रचलित है। इस दृष्टि से भी 'प्रबोधचन्द्रोदय' में सरसता, सुकुमारता और सरलता जो नारी सुलभ गुण हैं, अनिवार्यत: संगठित हो गए हैं और 'संकल्पसूर्योदय' में पुरुषत्व के प्रतीक दृढ़ता, निश्चलता , और संकल्प की अटलता जैसे गुण आ गए हैं।

भाषा में रीतियों का भी निर्वाह किया गया है। संकल्पसूर्योदय के पहले अङ्क के तैंतीसवें श्लोक में बड़े ही कलात्मक ढंग से ओज-कान्तिगुणोपेत गौणी रीति का संयोजन हुआ है। इसके अतिरिक्त अन्य रीतियों का भी समय समय पर नाटककार ने सफल प्रयोग किया है । अलङ्कारों में निदर्शना संसृष्टि[1], उपमा, रूपक, अनुप्रास आदि का

---

१. पत्यौ दूरं गतवति रवौ पद्मिनीवप्रसुप्ता

x x x

x x x

राहुग्रस्ते तुहिनकिरणे निष्प्रभा यामिनीव

—संकल्पसूर्योदय, अंक १, श्लोक ७४

विधान सफलता से किया गया है। अनुप्रास अलंकार के लिए प्रथम अङ्क का ६५ वाँ श्लोक देखा जा सकता है। कहीं कहीं सूक्तियों का भी प्रयोग हुआ है जैसे-- 'पन्थानं तु महाजनस्य निपुणः प्रत्यंचमध्यंचति ' आदि ।

'यतिराजविजयनाटकम्' का समीक्षात्मक अध्ययन --

कालक्रम से यह नाटक संकल्पसूर्योदय के बाद १४ वीं शताब्दी में ही लिखा गया। प्रतीक नाटकों की परम्परा में 'यतिराजविजय' नाटक भी 'संकल्पसूर्योदय ' की तरह विशिष्टाद्वैत दर्शन का नाटक है। इसमें शारीरिक युद्ध की जगह दार्शनिकों के वाक्युद्ध को उपस्थित किया गया है। गहनदार्शनिक आचार्यों के मत-वैभिन्न को विषय बनाकर नाटकीय रूप दिया गया है । बाद में सोलहवीं शताब्दी के नाटककार गोकुलनाथ ने भी 'अमृतोदय' में इस शैली को अपनाया है।

एकत्रित दार्शनिकों में रामानुज, शङ्कर, यादव , भास्कर , आदि अपनी पूरी सामरिक तैयारी के साथ उपस्थित होते हैं। इनमें आपस में तर्कों का प्रहार होता है। इस प्रकार प्रहार में लगभग सभी पिट जाते हैं। बचता है केवल एक , और वह है गम्भीर, प्रबुद्ध 'यतिराज दार्शनिक । इस प्रकार रामानुज की विजय दिखाकर नाटककार नाटक के नामकरण की सार्थकता प्रमाणित कर दी है।

नाटक का उद्देश्य रामानुज के विशिष्टाद्वैत दर्शन को प्रतीष्ठित करना है। ' यतिराजविजय' नाटक की कथा छः अङ्कों की है। प्रत्येक अङ्क की कथा में दार्शनिक चरित्रों की ही प्रधानता है । कथा-तन्तु में संघटन की विशेषता है क्योंकि कथा कहीं से ढीली-ढाली नहीं लगती । प्रत्येक अङ्क की कथा एक दूसरे से घने रूप से सम्बन्धित है। इस प्रकार नाटकीय

कथा-तत्त्व में पर्याप्त परिष्करण और शुद्धता है ।

चरित्र-चित्रण की दृष्टि से नाटक केवल सिद्धान्तों का अखाड़ा बन कर रह गया है, जहां बड़े बड़े धुरंधर दार्शनिक सिद्धान्त तो दीखते हैं किन्तु मनुष्य के नाम पर बहुत कम ही अंश मिलता है । कहने का तात्पर्य यह है कि चरित्रों में व्यक्तित्व का आभास कम है , दार्शनिक सिद्धान्तों का प्रकाश अधिक । इसीलिए यदि हम कहें कि चरित्रों का विकास स्वाभाविक नहीं है तो कोई अत्युक्ति नहीं होगी । पात्रों की चार श्रेणियां सामान्यतया की जा सकती हैं —

मूर्त — यतिराज, भास्कर, यादव, यामनमुनि आदि ।
अमूर्त — धर्म, वेदविचार, सुतर्क, सुमति, सुनीति, मिथ्यादृष्टि गीता, ~~सुत~~ इतिहास, पुराण, सद्विधा आदि ।
प्ररूप— चार्वाक, सौगत आदि ।
साधारण— कंचुकी, प्रतीहारी, सूत्रधार, पारिपार्श्विक आदि ।

अभिनय की दृष्टि से अन्य नाटकों की ही तरह संशोधन करने पर यह नाटक अभिनीत किया जा सकता है । संवाद छोटे-छोटे एवं स्मरण-योग्य हैं । पाठकों की कुछ बहुलता अवश्य खटकती है परन्तु अनेक प्रतीक नाटकों में यह कमी दृष्टिगोचर होती है । अत: यह नाटक अभिनय की दृष्टि से एक सामान्य नाटक ही कहा जायगा ।

संधियां —

'सर्वैर्विलुप्तविषय: सचिवै: पुरस्तात्'[1] इत्यादि श्लोक में मूलमंत्री यतिराज के द्वारा अपने अद्वितीय पद और वैभव को प्राप्त कराए जाने

---

१. यतिराजविजयम् नाटकम् , पृ० ६, श्लोक २२

पर वेदमौलि सम्राट बनेगा – इस आशय को प्रस्तुत कर बीजन्यास रूप 'उपक्षेप'[अ] है । बीज का विस्तार करने के कारण 'निरस्य तिमिरं भानुः निधत्ते जगतिश्रियम्'[१] इत्यादि श्लोक में 'परिकर'[ब] अङ्ग उपस्थित है । 'मायामोहित-सुरानसुरानलावीद्'[२] श्लोक में बीज की स्थापन द्वारा परिनिष्पत्ति होने से 'परिन्यास'[स] तथा 'सर्वस्यापि हितं'[३] 'पौलस्त्येन यथा पुरा'[४] इत्यादि श्लोकों में 'विलोभन' अंग सन्निहित है । इसी प्रकार 'भेदोपजीव्यति'[५] इत्यादि श्लोक में सुख और दुःख हेतुभूत विधान, 'त्रिदण्डकाषायशिखोपवीते'[६] इत्यादि में बीज प्रकाशन करने से उद्भेद[द] 'आत्मारामस्य में किमेभिर्मनोव्याक्षेपैरलमित्येस्मदुद्योग एव श्रेयान् ।'[७] 'तदत्रास्माभिरुद्योगः कार्यः'[८] 'महोत्सवो विष्णुपदाश्रितानां मया विधेयो महतां जनानाम्'[९] इत्यादि में 'आरम्भ' नामक अर्थप्रकृति वर्णित है । इस प्रकार प्रथम अङ्क में आरम्भ और बीज

१: यतिराजविजयम् नाटकम् , पृ० ७, श्लोक २३
२: वही, पृ०७, श्लोक २४
३: वही, पृ० ७, श्लोक २५
४: वही, पृ० ८, श्लोक २८
५: वही, पृ० ९, श्लोक ३०
६: वही, पृ० ९, श्लोक ३१
७: वही, पृ० १०, गद्यखण्ड
८: वही, पृ० १४, ,,
९: वही, पृ० १५, श्लोक ४९

अ–बीजन्यास उपक्षेपः; दशरूपक, प्रथम प्रकाश, पृ० १८
ब–तद्बाहुल्यं परिक्रिया ,, ,, पृ० १९
स–तन्निष्पत्तिः परिन्यास ,, ,, पृ० १९
द – उद्भेदो गूढभेदनम् ,, ,, पृ० २५

सम्बन्ध रूप मुखसन्धि अपने अङ्गों के साथ विद्यमान है ।

द्वितीय अङ्क में प्रतिमुख सन्धि प्रस्तुत की गई है। 'मत्थ्येव राज्यमखिलम्'[१] इस श्लोक में विच्छिन्न प्रकृत अर्थ का अवमर्श करके 'बिन्दु' का उपक्षेप किया गया है। 'साधुचिन्तितममात्येन'[२] 'भगवान् ! हितमेव कथितवानसि'[३] अंश के द्वारा परिजन के कथन से प्रकट होने वाली प्रीति — 'नमद्युति'[अ] प्रकट की गई है।

तृतीय अङ्क में बीज का अन्वेषण करके 'गर्भ सन्धि' को निरूपित किया गया है।[४] 'सम्प्रति अमात्यराजभावयोर्विपर्ययोऽस्तु'[५] इस श्लोक में 'गण्ड' उदाहृत है। 'रे वृथा पण्डितम्मन्य ! पश्य, एतमात्मानम्'[६] इत्यादि के द्वारा रोष सम्बन्ध वचन रूप 'तोटक'[ब] अङ्ग वर्णित किया गया है। इस प्रकार गर्भ सन्धि निरूपित की गई है।

चतुर्थ और पंचम अङ्क में 'अवमर्शसन्धि को प्रस्तुत किया गया है। गीता के कथन में बीज का अवमर्श होता है -- 'गीता-(विहस्य) मिथ्यादृष्टिविमोहितस्य न कदाचिदपि तत्सम्भवति, तथापि यतिराजशिष्याभ्यां प्रविश्य प्रकाशितबहुनीतिविप्लवे'[७] इत्यादि बीज का अवमर्श किया गया है।

---

१. यतिराजविजयम् नाटकम्, पृ० १७

२. वही, पृ० २०

३. वही, पृ० २७

४. वही, पृ० ३५

५. वही, पृ० ३६

६. वही, पृ० ~~३७~~ ४१

७. वही, पृ० ४७

अ. धृतिस्तज्जा द्युतिर्मता - दशरूपक, पृ० ३३

ब. संरब्धवचनं यत्तु तोटकं तदुदाहृतम् - पृ० ४३

जहां क्रोध से, व्यसन या बिलोभन से फल-प्राप्ति के विषय में बिचार किया जाये और जहां गर्भ सन्धि के द्वारा बीज को प्रकट कर दिया गया हो, वहां 'अवमर्श सन्धि' होती है। इस दृष्टि से यहां स्पष्ट ही 'अवमर्श' सन्धि विद्यमान है।

षष्ठ अङ्क में 'निर्वहण' सन्धि को प्रस्तुत कर नाटक समाप्त किया गया है। 'शुक्रासितभरद्वाज'[1] इत्यादि से बीज का उपगम होता है। 'काले वर्षति वासव:'[2] इत्यादि श्लोक में 'परिभाषण'[अ] अङ्ग तथा 'महाराजसौभाग्यकथङ्कारं वर्णयामि'[3] इत्यादि से 'प्रसाद'[ब] अङ्ग उपस्थित किया गया है। 'देव ! प्रसन्नस्ते भगवान् वासुदेव:'[4] इत्यादि से वाक्यार्थ परिसमाप्तिरूप सङ्गति, 'मायावी सचिवो निरासि'[5] इत्यादि के द्वारा इष्ट अर्थ प्राप्ति रूप 'आनन्द',[स] 'काले वर्षतु'[6] इत्यादि में शुभाशंसनरूप 'प्रशस्ति'[द] वर्णित की गई है। इस षष्ठ अङ्क में निर्वहण सन्धि को उपस्थित किया है।

रस की दृष्टि से यह नाटक किसी एक मत को पुष्टता के साथ

---

१. यतिराजविजयम् नाटकम् , पृ० ७८
२. वही, पृ० ७६
३. वही, पृ० ८२
४. वही, पृ० ६५
५. वही, पृ० ६५
६. वही, पृ० ६५

अ. परिभाषा मिथो जल्प:, दशरूपक, पृ० ६१
ब. प्रसाद: पर्युपासनम्, दशरूपक, पृ० ६२
स. आनन्दो वाञ्छितावाप्ति: , पृ० ६२
द. प्रशस्ति शुभशंसनम्, दशरूपक, पृ० ६५

स्वीकार करने में कहीं कोई सहायता नहींकरता है। यही कारण है कि नाटक में अङ्गीरस के विषय में विवाद ही दीखता है। रस की दृष्टि से विचार करते हुए प्रस्तुत नाटक की भूमिका में वीर रस को ही अङ्गीरस के रूप में प्रतिष्ठा दी गई है और 'यतिराज' का पराक्रम का प्रतिपादन होने के कारण ऐसा स्वीकार किया गया है।[1] परन्तु स्मरणीय है कि इन्हीं कुछ वीरात्मक युक्तियों के आधार पर इसमें वीर रस नहीं प्रमाणित किया जा सकता । नाटक में अन्तिम कथ्य क्या है, नाटक की अन्तिम उपलब्धि क्या है और नाटक की अन्तिम ध्वनि क्या है -इन सब को समष्टि रूप से ध्यान में रखकर ही नाटक में रस का विवेचन प्रामाणिक और सही प्रतीत होता है। यह स्पष्ट ही है कि नाटक के अन्त में एक दिव्य-पुरुष उपस्थित होकर राजा वेदमौलि को सूचित करता है कि उस पर वासुदेव की कृपा हो गई है — 'दिव्यपुरुष-देव, प्रसन्नस्ते भगवान् वासुदेव: ।'[2] वासुदेव की कृपा से यहाँ मतलब भगवत्भक्ति से है। भक्तों की यह मान्यता है कि भगवत्भक्ति तब-तक नहीं प्राप्त होती जब तक कि भगवान् की कृपा न हो जाय। भगवत्भक्ति का स्वरूप निश्चित रूपसेउच्छृङ्खल,अनैतिक या हिंसात्मक नहीं हो सकता। उसमें सत्य और चित्त की शान्ति अवश्य मिली रहती है। इसीलिए भगवद्भक्ति को प्राप्त करना शान्ति को प्राप्त करना है। इस प्रकार राजा को नाटक के अन्त में सभी उपलब्धियों के द्वारा शान्ति ही प्राप्त होती है। इसलिए इस नाटक में भी शान्त रस को मानना समीचीन ही प्रतीत होता है।

प्रस्तुत नाटक में अनुभूयमान भगवत्साक्षात्कार ही आलम्बन है चतुर्थ अङ्क में विशिष्टाद्वैतमतानुप्राणित जनक और गीता का वार्तालाप एकान्त

---

१. यतिराजविजयम्, भूमिका, पृ० २५

२. वही, अङ्क ६, पृ० ६५

में राजा का सुमति विषयक प्रेम सुनीति से प्रकट करना, तृतीय अङ्क में सन्निधा और गीता की बात-चीत के प्रसङ्ग में — दैवी सुमति का सुनीति सहित नारायण की आराधना की चर्चा आदि उद्दीपन विभाव हैं। शङ्कर और रामानुज का प्रेम-भाव से मिलन, रामानुज को माधवोत्सव तैयारी का आदेश देना आदि अनुभाव है। उद्वेग, चिन्ता, हर्ष आदि संचारी भाव हैं।

अन्य रसों वीर (रामानुज और अन्य मतावलम्बियों के बाद-विवाद के प्रसङ्ग में), हास्य (तृतीय अङ्क में भास्कर-यादव-मायावाद आदि के वाक्कलह के प्रसङ्ग में) रौद्र (पांचवें अङ्क के मायावाद अथवा सद्रूह की वार्ता के प्रसङ्ग में)[1] बीभत्स,(पांचवें अङ्क में)[2] भयानक (पांचवें अङ्क के देवी— (तच्छ्रुत्वा सभयोत्कम्पम्) को सौ महाराक्षस ? (इति समाकुला राजानमालिंगति इत्यादि कथन में)[3], करुण (द्वितीय अङ्क— राजा— हा ! प्रिये किं करोमि ? तिर्यगवलोक्य ...... ' इत्यादि कथन में)[4], शृंगार (चतुर्थ अङ्क — राजा और सुनीति के वार्तालाप में)[5] आदि का भी मंजुल सन्निवेश है।

भाषा सरस, सुन्दर एवं सगुम्फित पदावली समन्वित है । गौणी या पांचाली रीति का खूब प्रयोग हुआ है। एक उदाहरण द्रष्टव्य है — ' सम्प्रति समसमयसम्पतपरिमितनिगमकुलमणिमुकुटतटमरीचिमंजरीरंजित-चरणकमलस्य जगददयविभवलयलीलस्य कमलावनीकुचकलशप्रोलतलयुगलयुगपदभिलिखित-पत्राबलीपरितुष्टकरकिसलयचतुष्टयस्यकावेरीतीरतरुणतमालभूरुहस्य विभीषणा-

---

१. यतिराजविजयम्, अङ्क ५, श्लोक १२ तथा श्लोक ५

२. वही, अंक ५, श्लोक ४, पृ० ६२

३. वही, अंक ५, पृ० ६३

४. वही, अङ्क, २, श्लोक २०, पृ० २४

५. वही, अङ्क ५, पृ० ५४

राधितपादपङ्कजस्यभुजङ्गराजभोगपर्यङ्कशायिन: श्री रङ्गराजस्य चैत्रोत्सव-यात्रायाम्.........[1] कठिन से कठिन विषय को सरल भाषा में प्रतिस्थापित कर देना नाटककार की मौलिकता एवं भाषा पर पूर्ण आधिपत्य को द्योतित करता है। भाषा का प्रयोग पात्रानुकूल है। कहीं भी रंचमात्र शैथिल्य नहीं दृष्टिगोचर होता है। दार्शनिक विषय के कारण से कुछ कठिनाई भले आ गई हो परन्तु शब्दों के चुनाव में बहुत कुछ समरसता लाने की कोशिश की गई है और समरसता लाई भी गई है। जिससे भावों की सम्प्रेषणा में वृद्धि हुई है। नाटककार में अतिरिक्त पाण्डित्य-प्रदर्शन की भावना नहीं है। वह सीधी-सादी-बात सीधे और सरल ढङ्ग से प्रस्तुत करने का हिमायती है। प्राकृतिक दृश्य के चित्रण में भी नाटककार सफल है- फलकुसुमविनम्रपार्श्वशाखो मुनिजनसेवितमूलवेदिबन्ध: । रमयति हृदयं रसाल-पोतो मधुकरगीतमनोज्ञकृष्णालील: ।।[2] जगह-जगह छन्दों और अलङ्कारों से भाषा में चार चांद लग गए हैं। सूक्तियों और अन्त:कथाओं का भी समुचित प्रयोग किया है। यथा- 'पौलस्त्येन यथा पुरा रघुपतिर्मायाविना वंचित'[3] इसी प्रकार द्वितीय अङ्क में 'बलैरपि हितं कुर्यादितिनीतिर्महीभृताम्'[4] इत्यादि सूक्तियों का प्रयोग द्रष्टव्य है।

'चैतन्यचन्द्रोदय' नाटक का समीक्षात्मक अध्ययन-

संस्कृत साहित्य में अपनी पूर्ववर्ती परम्परा से सामग्री संग्रह की प्रवृत्ति सामान्यत: लक्षित की जा सकती है। यह सामग्री संग्रह जब तक

---

१. यतिराजविजयम्, अङ्क १, पृ० २

२. वही, अङ्क, १, पृ० १०

३. वही, अङ्क, १, पृ० ८

४. वही, अङ्क २, पृ०१७

केवल कच्चे रूप में ग्रहण किया जाता है तब तक तो ठीक है। किन्तु जब रचयिताओं की प्रवृत्ति पूर्णतः अनुयायी की सी हो जाती है तो वही आपत्ति जनक बात लगती है। 'चैतन्यचन्द्रोदय' के प्रणेता में आपत्ति के स्तर की बात आ गई है --इसे इनकार नहीं किया जा सकता। 'प्रबोधचन्द्रोदय' और 'संकल्पसूर्योदय' की नकल में 'चैतन्यचन्द्रोदय' नाम हमारे इस कथन को पुष्ट करने के लिए पर्याप्त होगा ।

इस नाटक का प्रणयन' कवि कर्णपूर' ने चैतन्य महाप्रभुदेव के जीवन वृत्तान्त को उद्घाटित करने की दृष्टि से किया था। इसलिए नाटक का मूल विषय महाप्रभु ~~लो~~ चैतन्य की विविध क्रियायें हैं। महाप्रभु के जन्म से प्रारम्भ होकर यह नाटक उनके विविध कार्य-कलापों, विविध-मनोवृत्तियों और आचार-विचारों का परिचय प्राप्त कराता है। महाप्रभु चैतन्य सत् के प्रतीक परमब्रह्म के साक्षात् अवतार हैं। इनके चरित्र की विशालता, गाम्भीर्य और गौरव इन्हीं पर सम्पूर्ण नाटक की विशालता और गौरव का रूप आधारित है। निराकार ब्रह्म की ओर उन्मुख करना नाटककार का उद्देश्य माना जा सकता है।

कथावस्तु—

कथावस्तु की दृष्टि से नाटक विशालकाय तो लगता है परन्तु है नहीं। दस अङ्कों में विभाजित कथावस्तु मुश्किल से तीन अङ्कों की कथा लगती है। अच्छा होता कि नाटककार दस अङ्कों का विशालकाय नाटक लिखने का लोभ संवरण कर गया होता। ऐसा करने पर उसे कथा संघटन में सुविधा होती और अनावश्यक रूप से खींच-तान करके विस्तारित की गई ~~सक्म~~ कथा की नीरसता से भी वह बरी हो गया होता।

अपने पूर्वापर सम्बन्ध बनाये रखने की अतिरिक्त चेष्टा के बावजूद

भी दसों अङ्0कों की कथा पूर्णत: संग्रथित नहीं लगती । उनमें कथातन्तु जुड़ते तो हैं पर आत्मसात् नहीं हो पाते । इसलिए कथावस्तु की दृष्टि से चैतन्यचन्द्रोदय कोई बहुत बड़ा विस्फोट नहीं पैदा करता । मैंने पहले ही निवेदन किया है कि चैतन्यचन्द्रोदय का प्रणेता अपने पूर्ववर्ती परम्परा से इस कदर प्रभावित है कि उसमें उससे अलग कहने की कोई चीज नहीं है । कहने की आवश्यकता नहीं कि परम्परा में नया अध्याय जोड़ना एक मौलिक लेखक का काम होता है । प्रतिमाएं दो श्रेणी में विभक्त की गई हैं -पहली श्रेणी वह है जिसमें लेखक अपनी पूर्ववर्ती परम्परा का पुनराख्यान तो करता ही है । पर इसके अतिरिक्त वह नयी परम्परा की कड़ी भी बनता है स्वयं परम्परा का निर्माण भी करता है । श्रेणी द्वितीय वह है जिसमें लेखक अपनी तमाम पूर्ववर्ती परम्परा का पुनराख्यान कर देता है । चैतन्यचन्द्रोदय के लेखक पहली श्रेणी में नहीं आते ।

कथा की रोचकता की दृष्टि से तो लेखक उतना सफल नहीं है पर अनुकरण की दृष्टि से तो सफल मानना ही पड़ेगा । इस दृष्टि से प्रबोधचन्द्रोदय की स्पष्ट छाप चैतन्यचन्द्रोदय पर है । अङ्0क विभाजन संकल्पसूर्योदय के आधार पर हुआ है । जगह-जगह प्रबोधचन्द्रोदय से कथा और भाव साम्य भी मिलता है ।[1] अभिनय की दृष्टि से नाटक उतना

---

१. तुलना कीजिए --

अधर्म -

मूकी करोत्यलममूकमहो अनन्ध-
मन्धीकरोत्यबधिरं बधिरी करोति ।
यो यं बली सुमनसं विमनी करोति
स श्रीमदोवदनकस्य महोपत्ये -
— चैतन्यचन्द्रोदय, अंक१, पृ० १५

क्रोध—

अन्धी करोमि भुवनं बधिरीकरोमि,
धीरं सचेतनमचेतनतां नयामि ।
कृत्यं न पश्यति न येनं हितं शृणोति,.
धीमानधीतमपि न प्रतिसंदधाति ।।
प्रबोधचन्द्रोदय, अंक २, श्लोक २६

सफल नहीं है। वस्तुत: प्रतीक नाटकों के साथ यह कठिनाई तो अनिवार्यत: लगी रहती है। फिर भी अगर संशोधन करके काट-छांट किया गया तो प्रस्तुतीकरण की बहुत कुछ समस्या हल हो जायगी।

प्रस्तुत नाटक की आधिकारिक कथा चैतन्य महाप्रभु की ही कही जायगी। प्रासङ्गिक में विश्वम्भर, श्रीवास आदि की कथा ली जा सकती है।

चरित्र-चित्रण की दृष्टि से पहले के नाटकों की तरह यह नाटक भी पात्र बहुल ही है। इतने अधिक पात्रों को स्थान देने और फिर उन्हें यथोचित विकास का अवसर न दे पाने की जैसी भूल पहले के नाटककारों ने की थी वही भूल `कर्णपूर` ने भी थोड़े बहुत परिवर्तन के साथ की है। इसकी जगह चरित्रों की संख्या सीमित हो तो उनका विकास और भी अधिक सफलता के साथ दिखाया जा सका होता।

विश्लेषण के आधार पर नाटक के सभी पात्रों की तीन श्रेणियां की जा सकती हैं—पहली श्रेणी अमूर्त (कलि, अधर्म, अद्वैत आदि), दूसरी श्रेणी मूर्त (श्रीकृष्णचैतन्य, गोपीनाथाचार्य, श्रीवास आदि) और तीसरी श्रेणी सामान्य पात्रों (सूत्रधार, वैतालिक, कंचुकी आदि) की कही जा सकती है। अन्तर केवल यह है कि इसमें अमूर्त की अपेक्षा मूर्त की संख्या अधिक है। इस नाटक को इस प्रकार पूर्णत: प्रतीक नाटक नहीं कहा जा सकता । इसे मिश्र नाटक की परम्परा में रखना ज्याद बेहतर होगा।

नाटक का नायक चैतन्यमहाप्रभु एक ऐतिहासिक पात्र है । `मोहराजपराजय` के कुमारपाल की तरह ही चैतन्यमहाप्रभु की ऐतिहासिक सत्ता स्वीकृत रही है। नायक का व्यक्तित्व अपनी ऐतिहासिकता और ख्याति प्राप्ति की वजह से सम्पूर्ण कथावस्तु पर आद्योपान्त छाया रहता है। अन्य पात्रों यथा—भक्तिदेवी, अधर्म, कलियुग, आचार्यरत्न, विश्वम्भर आदि

महत्वपूर्ण चरित्र हैं। इन सभी चरित्रों के रूपाङ्कन में नाटककार को अभूतपूर्व सफलता मिली है। इनके अपने -अपने तर्कों से ऐसा अनुमान लगाना मुश्किल नहीं है कि इनका रचयिता (विविध-चरित्रों, वर्गगत, जातिगत आदि) सभी की विशेषताओं से भली-भांति परिचित था।

रस की दृष्टि से 'चैतन्यचन्द्रोदय' भी शान्तरस प्रधान ही है। नायक चैतन्यमहाप्रभु के चरित्र में सम्पूर्ण ईश्वर तत्त्व का निरूपण किया गया है। दूसरे शब्दों में उन्हें ईश्वर का अवतार माना गया है। चेतना का उदय ही नाटक की मूल भित्ति है - यही इस कथा का उद्देश्य है। सम्पूर्ण कथा-वृत्त के द्वारा नाटककार ने एक ही बात कही है - सांसारिक माया, मोह, ईर्ष्या, द्वेष, वैर-विरोध, इच्छा , तृष्णा आदि से मुक्त होकर महाप्रभु - चैतन्य की शरण में चले जाओ। चैतन्यमहाप्रभु बंगाल के उन इने गिने ऐतिहासिक पुरुषों में से है जो अपनी प्रतिभा और भक्ति-भावना के द्वारा जन-कल्याण में जीवनपर्यन्त लगे रहे। चैतन्य कृष्णोपासक भक्त थे। मूर्तिपूजा, कीर्तन, भजन यह उनकी भक्ति के वाह्य उपकरण रहे हैं। इन्होंने कृष्ण के लीलामयस्वरूप को ग्रहण किया था। माधुर्य भक्ति को ग्रहण करके उसका शान्त रस में पर्यवसान महाप्रभु की समन्वयवादी दृष्टि से ही हो सकता था। यद्यपि कथाप्रसंग और वर्णनों की बहुलता भक्ति भाव का संकेत देती है किन्तु शास्त्रीय शब्दावली में इसे शान्तरस ही समझा जाना चाहिए। वस्तुत: भक्तिभाव अपनी अन्तिम अवस्था में शान्तरस में ही पर्यवसित हो जाता है। ईश्वर के प्रति समर्पण करने पर जो भक्ति भाव है- शम भाव की भूमि पर मुख्य आधार प्रतिष्ठित हो जाता है। 'शम' भाव ही शान्त रस का स्थायी - भाव है। इसलिए इस नाटक में भी अन्ततोगत्वा शान्त रस की स्थिति समझी जानी चाहिए।

प्रस्तुत नाटक में द्वितीय अङ्क में विराग (पात्र विशेष) के द्वारा संसार की दशा पर क्षोभ प्रकट किया है। यहाँ संसार आलम्बन है।

विराग और भक्तिदेवी का श्रीचैतन्य की ईश्वररूपता के सम्बन्ध में बात-चीत करना, सर्परूपदर्शन आदि उद्दीपन विभाव हैं। महाप्रभु चैतन्य आश्रय हैं। जगह-जगह तीर्थाटन और ईश्वरप्राप्ति के प्रयत्न अनुभाव हैं। रास्ते की शंकाएं और परेशानियां संचारीभाव हैं। इन सब से परिपुष्ट 'शम' स्थायीभाव शान्तरस के रूप में अभिव्यक्त हुआ है।

नाटक की भाषा अपनी श्रेष्ठता के लिए तो शायद उतनी अधिक न याद की जावे किन्तु अपनी नीरसता के लिए अवश्य ही स्मरण रहेगी। यद्यपि कहीं कहीं सरल और सुबोध शब्दावली का उपयोग किया गया है परन्तु अर्थ गाम्भीर्य की दृष्टि से वे उतने महत्त्वपूर्ण नहीं हैं। उदाहरण के लिए अष्ठक सात में वर्णित भगवान और रामानन्द संवाद लिया जा सकता है। स्थल-स्थल पर अलंकारों (विशेषत: अर्थालंकार), मुहावरों, सूक्तियों का भी सफल प्रयोग किया गया है जिससे भाषा में सरसता और सजीवता आ गई है।

पात्रों के मानसिक स्तरों के अनुसार भाषा का स्तर कायम रखने में लेखक सफल है। जितने भी चरित्र हैं उनकी बात-चीत उन्हीं की शैली में कराई गई है। इस दृष्टि से नाटककार की प्रतिभा एक मौलिक शैलीकार की प्रतिभा कही जा सकती है।

'अमृतोदयम्' नाटक का समीक्षात्मक अध्ययन-

प्रतीक नाटकों की अविच्छिन्न परम्परा में अपने कलात्मक वैशिष्ट्य के लिए 'अमृतोदय' युगों तक स्मरण किया जाता रहेगा। अपनी दार्शनिक कथा-रूप में दैनन्दिन जीवन की मनोरम झांकी प्रस्तुत करने वाले इस नाटक का संस्कृत साहित्य में महत्वपूर्ण स्थान माना जाना चाहिए। नाटककार ने अन्य सभी प्रचलित मतवादों का खण्डन करके अपनी शुद्ध नैयायिक

कथावस्तु की दृष्टि से नाटक साधारण ही कहा जायगा । दरअसल प्रतीक नाटकों के कथा विन्यास में नाटककार को बहुत बड़ी साधना करनी पड़ती है । चूंकि पात्रों और घटनाओं की स्थिति आत्यान्तिक रूप में मानसिक और अमूर्त होती है । इसलिए दर्शकों को कथा के किसी मजबूत तंतुओं का आभास नहीं मिल पाता । कथा का जो अपना आनन्द है उससे भी उन्हें वंचित रह जाना पड़ता है । साधारण नाटकों में यह बात नहीं होती । उनमें देश-काल, पात्रों और घटनाओं की स्थिति इतनी सुस्पष्ट होती है कि कथारोचकता अपने दुहरे बेग से दर्शकों का मनोरंजन करती जाती है ।

कथारोचकता की दृष्टि से इस मूल-भूत कमजोरी या कि विशेषता के बावजूद भी प्रतीक नाटकों की उपयोगिता या महत्त्व के विषय में प्रश्न चिह्न नहीं लगाया जा सकता । `अमृतोदय` की कथा विस्तृत है -- पांच अङ्कों में विभाजित । एक अङ्क के बाद दूसरा, फिर तीसरा--इस प्रकार सीढ़ी दर सीढ़ी कथा निरन्तर आगे बढ़ती जाती है । पांचों अंकों के अपने अलग-अलग शीर्षक हैं जो अपने-अपने अङ्कों की कथा से गहरे रूप में जुड़े हैं । नामकरण की एक दूसरी साधारण पद्धति भी है जिसमें सिर्फ अंकों का निर्देश भर किया जाता है । किन्तु यहां उस साधारण पद्धति भी-है को न अपना कर शीर्षक वाली पद्धति , जो एक विशिष्ट पद्धति है , किसी खास उद्देश्य से ही अपनायी गयी है । इसके पहले राजशेखर और मुरारि आदि नाटककार इस पद्धि का अपने नाटकों में प्रयोग कर चुके थे ।[१] `अमृतोदय` के प्रणेता गोकुलनाथ उपाध्याय ने भी अपने नाटक के अंकों का नामकरण करके वस्तुवृत्त का अतिसूक्ष्म संकेत दिया है । मात्र न केवल अङ्कों का बल्कि उपाध्याय जी ने प्रस्तावना का भी नामकरण किया है जो इनकी मौलिक

---

१. `अमृतोदयम्` --भूमिका, पृ० २७- २८

विशेषता मानी जा सकती है ।

यह नाटक दार्शनिक शास्त्रार्थ को मनोरम शैली में पात्रों की कल्पना के आधार पर लोकहृदयंगम कराने के लिए लिखा गया है । अत: इसके अङ्०क भी तदनुसार ही विभाजित किए गए हैं जिससे कि उस तत्त्व की अभिव्यक्ति में सहायता मिले । इसमें मोक्ष के उपाय का निर्देश तथा उसके स्वरूप पर होने वाले मतभेदों का निर्णय किया गया है । प्रस्तावना तथा अङ्०कों के नाम बड़े ही सटीक निर्धारित किए गए हैं । जो निम्न हैं —

प्रस्तावना --	साधन चतुष्टय सम्पत्ति ।
प्रथम अङ्०क --	श्रवण सम्पत्ति ।
द्वितीय अङ्०क--	मननसिद्धि ।
तृतीय अङ्०क --	निदिध्यासनधर्म सम्पत्ति ।
चतुर्थअङ्०क --	आत्मदर्शन ।
पंचम अङ्०क --	अपवर्ग प्रतिष्ठा ।

'अमृतोदय' की कथावस्तु पर 'प्रबोधचन्द्रोदय' का प्रभाव स्पष्ट रूप में लक्षित किया जा सकता है । 'प्रबोधचन्द्रोदय की रचना भी मोक्ष का मार्ग बताने के लिए और अद्वैत वेदान्त सिद्ध 'प्रबोध' नामक अपवर्ग को प्रामाणिक रूप देने के लिए ही की गई थी । यह लगभग इसी विषयवस्तु को प्रस्तुत करता है । अद्वैत दर्शन न भी हो, फिर भी मोक्ष की बात तो इसमें है ही । दोनों नाटकों में नाम की दृष्टि से भी साम्य है ।

अमृतोदय नाटक में मोक्ष के उपाय का निर्देश तथा उसके स्वरूप पर होने वाले मतभेदों का निराकरण किया गया है । नाटक के अंकों का विभाजन इस बात को स्पष्ट करता है । नाटककार ने प्रस्तावना का नाम 'साधनचतुष्टय-सम्पत्ति' रखा है । अंकों का नाम भी सटीक रखा है ।

नाटककार `अपवर्ग` की प्रतिष्ठा को फल के रूप में उपस्थित करता है। सामान्यतया नाटकों में बीज की समुत्पत्ति के लिए मुख सन्धि के `उपक्षेप` अंग को प्रस्तुत किया जाता है। किन्तु इस नाटक में संसार के प्रवाह के नित्य और अनादि परम्परा रूप में चले आते रहने के कारण `उपक्षेप` का प्रस्ताव सम्भव नहीं है। इस अंश में यहां मुख सन्धि का विधान कठिन है। किन्तु प्रथम अंक में श्रुति के व्यापार को `बीज` और आन्वीक्षकी के व्यापार को `आरम्भ` मान लेने पर मुख सन्धि का दर्शन होता है।

प्रथम अंक के अन्त में श्रुति के कथन - `वत्से गौतमि! न्यायतनय: परामर्शो यथा युज्यते तया पक्षतया तथा कथा प्रस्तूयताम्`[1] इत्यादि वाक्य में श्रुति के अश्रद्धा रूपी मल के क्षालन के लिए अनुमिति-पुरुषसङ्गरूप व्यापार ही `बिन्दु` है। आन्वीक्षकी के द्वारा प्रेरित कथा-व्यापार ही `प्रयत्न` है। इस प्रकार प्रथम अङ्क के अन्त से द्वितीय अङ्क तक प्रतिमुख सन्धि है।

तृतीय अङ्क के आरम्भ में विष्कम्भक में दृष्ट-नष्ट बीज का पुन: अन्वेषण आरम्भ होता है। निर्वेद के कथन - `हन्त हन्त, विभ्रति विश्वमदभ्रवैभवे भगवति विश्वंभरे कमन्यमाश्रयाम्यगाधाधगदगृहीत:`[2] इत्यादि यह अन्वेषण स्पष्ट दीख पड़ता है। इसी अङ्क में स्वरूप फलभागी पुरुष उपनायक है उसका इतिवृत्त प्रासंगिक भी है और व्यापक भी है। अत:, वह `पताका` रूप है। थोड़ी दूर तक चलने के कारण पतंजलि का वृत्त `प्रकरी` रूप है। इसी अङ्क में प्राप्त्याशा के बधने के कारण गर्भ सन्धि[3] सम्पन्न होती है।

---

१. अमृतोदयम्, पृ० ५७-५८
२. वही, पृ० १०५
३. वही, पृ० १४२

चतुर्थ अङ्क में पुरुष फलप्राप्ति के विषय में विमर्श करता है। पुरुषोत्तम से हुए संवाद में वह स्वीकार करता है कि अपने को नहीं जान रहा है।[१] चतुर्थ अङ्क के अन्त में पुरुषोत्तम के कथन- 'पश्यपुरुष, तव विवेकप्रदीपे पतङ्गवृत्तिमाश्रित्य विलीने महामोहे कुमारौ रागद्वेषावपि प्रवृत्तिविलयाय विरमत:'[२] इत्यादि वाक्य में 'फलप्राप्ति' के निश्चय का निर्धारण तथा 'गर्भ' सन्धि से प्रकटित बीज से सम्बन्ध पाया जाता है। अत: चतुर्थ अङ्क में अवमर्श सन्धि है।

पंचम अङ्क में विप्रकीर्ण बीजवान मुखादि अर्थ एकार्थता के लिए एक साथ समेट लिए जाते हैं। श्रुति आन्वीक्षिकी समर्थित मोक्ष को अपवर्ग पद पर प्रतिष्ठित करती है। इस प्रकार निर्वहण सन्धि की परिणति होती है।

पात्रों की दृष्टि से इस नाटक की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसमें शास्त्र को पात्र बनाकर रङ्गमंच पर उपस्थित किया गया है। इसके पहले के किसी नाटककार में यह सूक्ष्मता नहीं दृष्टिगोचर होती। ('यतिराजविजय' को छोड़कर) सिर्फ भावनाओं तक ही उनकी दृष्टि गई है। लेकिन नाटककार के इस मौलिक कार्य में नाटक का प्रस्तावित विषय बहुत बड़ा सहायक रहा है। दरअसल न्यायशास्त्र की प्रतिष्ठा जैसे महत् प्रयत्न को लेकर चलने वाले नाटककार के लिए यह अनिवार्यता ही थी कि वह अपने अभीष्ट को किसी न किसी तरह नायकत्व प्रदान कर सके। यही कारण है कि जाने-अनजाने नाटककार द्वारा आन्वीक्षिकी को नायकत्व प्रदान करने में एक मौलिक दृष्टि प्राप्त हो गई। इसलिए 'उपाध्याय जी' की यह मौलिकता

---

१. अमृतोदयम्, पृ० १४६
२. वही, पृ० २२४

निरापद नहीं है। इसमें आए हुए चरित्रों की संख्या अपने पूर्ववर्ती नाटकों की अपेक्षा कम है। यह एक अच्छी बात है कि यहां चरित्रों का अपव्यय नहीं दीख पड़ता। अंकों की संख्या सीमित होने की वजह से पात्रों की संख्या भी रेखांकित हो गई है। सभी पात्रों को लगभग चार श्रेणियों में विभक्त किया जा सकता है —

(१) मूर्त- (पातंजलि, जाबालि आदि) ।
(२) अमूर्त – (श्रुति, कथा, श्रद्धा, वैराग, पक्षाता, आन्वीक्षकी आदि)
(३) प्ररूप -(बुद्धमार्ग, पाशुपतसिद्धान्त, अर्हत्सिद्धान्त आदि)
(४) साधारण -(नटी, सूत्रधार आदि) ।

इन सभी पात्रों की रूपरेखा नाटककार ने अच्छी तरह प्रदर्शित की है। सब अपनी-अपनी इयत्ता के लिए संघर्ष करते दीखते हैं। यद्यपि कि इन चरित्रों में हाड-मांस के मनुष्यों की सजीवता का अभाव है फिर भी ये सब सक्रिय दीखते हैं, संघर्षशील लगते हैं और संघर्ष करते भी हैं। `प्रबोधचन्द्रोदय` के पात्रों से `अमृतोदय` के पात्रों में आश्चर्यजनक साम्य मिलता है— `प्रबोध` को गोकुलनाथ ने `अपवर्ग` या `निर्वाण` बना दिया है। परन्तु सरस्वती, श्रद्धा, दिगम्बर (जैन) , भिक्षु (बौद्ध), कापालिक, शिष्य (जाबालि) आदि पात्रोंका दोनों ग्रन्थों में समान रूप में चित्रण किया गया है। इस प्रकार चरित्र-चित्रण और चरित्र-विकास में गोकुलनाथ न बहुत सफल हैं और न बहुत असफल —एक सामान्य स्थिति ही इन पात्रों को प्राप्त हो सकी है।

अभिनेयता की दृष्टि से `अमृतोदय` श्रेष्ठ दर्शकों के लिए ही सफल माना जायगा। दर्शकों में दार्शनिकता की पहचान और परिनिष्ठित प्रज्ञा शक्ति का होना नितान्त आवश्यक है। साधारण पाठकों के लिए न, ही इसका अभिनय ही सम्भव है और न इनको समझ पाना ही। पात्रों की साजसज्जा भी साधारण लगती है। उसके द्वारा किसी प्रकार की रोचकता

की कल्पना नहीं की जा सकती । एक बात इसके विषय में इस सम्बन्ध में आचार्य रामचन्द्र मिश्र की उल्लेखनीय है । अपने अनुवाद की भूमिका में उन्होंने लिखा है - "संस्कृत साहित्य में पाठ्य नाटकों का उपक्रम अमृतोदय ने किया है । इसके आगे यदि प्रवाह विच्छिन्न नहीं हुआ तो अन्यान्य पाठ्य नाटक भी बनेंगे ।"[१] इस प्रकार रंगमंच की दृष्टि से 'अमृतोदय' को अधिक सफल नाटक नहीं माना जा सकता । वस्तुत: यह दोष इसके पहले के भी सभी प्रतीक नाटकों में भी थोड़ा-बहुत विद्यमान है ।

यों तो मानने के लिए यह कहा जा सकता है कि 'अमृतोदय' में सभी रस हैं किन्तु इसकी सत्यता बहुत सीमित ही स्वीकार की जायगी । सम्भवत: नाटक के हिन्दी अनुवादक आचार्य रामचन्द्र मिश्र की इन पंक्तियों में भी यही सन्देह बोलता है - "सभी रस हैं यह बात भी मान ली जा सकती है । यद्यपि रस के अंश में 'प्रबोधचन्द्रोदय' को नाना-रस कहा जा सकता है परन्तु 'अमृतोदय' में रस निरन्तरता का मानना थोड़ा प्रौढ़िवाद है ।" वस्तुत: मिश्र जी का यह आग्रह रसशास्त्रीय परीक्षण दृष्टि में सही और तर्क पूर्ण निर्णय लेने का आग्रह है । हमारी भी निश्चित धारणा है कि 'अमृतोदय' नाना रस से युक्त होते हुए भी नाना रस युक्त नाटक नहीं है ।

पहली बात तो यह है कि यह एक दार्शनिक नाटक है । इसमें दार्शनिक मतवादों की गुत्थियों को सुलझाने का ही कार्य किया गया है, जो कहने की आवश्यकता नहीं कि यह कार्य कितना शुष्क और रसहीन है । इसमें रस की स्थिति तो मुश्किल से आए तो आए । यद्यपि कहीं-कहीं नाटक में शृंगार, वीर आदि रसों के प्रसंग भी आए हैं फिर भी तथाकथित पात्र इतने वायवी और अवास्तविक हैं कि इनके विषय में लिखी गई समग्र शृंगारिक

---

१. 'अमृतोदय'-हिन्दी भूमिका से ।

और वीरात्मक युक्तियाँ केवल वाग्जाल सी लगती हैं जो मकड़े के जाले की तरह उलझन ही पैदा करते में समर्थ होती हैं। वस्तुत: रस की अनुभूति सही तौर पर वहीं सम्भव हो पाती है जहां पात्रों के यथार्थ अस्तित्व के विषय में किसी प्रकार के सन्देह की गुंजाइश नहीं होती क्योंकि पात्रों के यथार्थ होने पर दर्शक नाटक के पात्रों से अपना तादात्म्य आसानी से जोड़ लेते हैं। रंगमंच का सारा खेल उनका अपना जीवन-खेल बन जाता है। रंगमंच का नायक वह स्वयं को समझ लेता है और रंगमंच की नायिका उसकी अपनी प्रेमिका बन जाती है। इस प्रकार रंगमंच पर चित्रित सारे सन्दर्भों को दर्शक अपनी जिन्दगी के सन्दर्भों से पूरा पूरा जोड़ लेता है और अन्तत: इस पद्धति से रस लाभ करता है।

उपर्युक्त विश्लेषण से यह बात साफ हो गई होगी कि `अमृतोदय` में शुद्धतम रूप में रस की स्थिति पूरी तरह नहीं स्वीकार की जा सकती। किन्तु यह नाटक अगर किसी रस प्रधान होने के निटक है तो वह शान्त रस के समीप है। `अमृतोदय` नाम से भी यह व्यंजना निकलती है। नाटक का विषय, नाटक का उद्देश्य सब उसी शम-भाव की ओर इंगित करते हैं। नाटक का उद्देश्य अपवर्ग (मोक्ष) की प्रतिष्ठा है। मोक्ष निर्विकार और परतत्त्व से साक्षात्कार की स्थिति निर्विवाद रूप में मानी जा सकती है। इस स्थिति में मनुष्य राग-द्वेष से परे शम-भाव की स्थिति में हो जाता है जो शान्त रस की चरमावस्था कही जा सकती है और यहीं शान्त रस का स्थायीभाव भी है।

प्रस्तुत नाटक में श्रद्धा और निर्वेद के बीच बात-चीत में काम, लोभ आदि के प्रति घृणा का भाव उत्पन्न होने से यह संसार ही आलम्बन कहा जा सकता है। द्वितीय अङ्क में सोमसिद्धान्त, कापालिक आदि का युद्ध करना और परास्त होना आदि उद्दीपन हैं। पांचवें अंक में पाशुपत मार्ग, वैष्णवमार्ग, मीमांसामत, शांकरमत आदि सबके सिद्धान्तों का खण्डन करना

अनुभाव है। पुरुष के द्वारा प्रमिति के स्वीकार न किए जाने पर आन्वीक्षकी का चिन्ता आदि करना अनुभाव है। आन्वीक्षकी ही आश्रय है।

रसाभिव्यक्ति की यह कठिनाई सिर्फ `अमृतोदय` तक ही सीमित नहीं है। लगभग सभी प्रतीक नाटकों में रस का स्वरूप निर्धारित करना कठिन कार्य है। हां, `अमृतोदय` में यह कठिनाई कुछ और बढ़ गई है। शान्त रस के स्वरूप निर्धारित करने में जो हमने ऊपर लिखा है उन्हें भी दृढ़ता के साथ लागू नहीं किया जा सकता। एक सम्भावना की ओर संकेत भर किया जा सकता है।

नाटक की भाषा परिमार्जित और उत्कृष्ट शब्दावली की भाषा है। शैली में प्रवाह और गतिशीलता भी है। चूंकि यह एक दार्शनिक नाटक है इसलिए इसके पात्रों के वर्णनों में मानवीय सजीवता और सरसता सिर्फ भाषा की सफल विज्ञता पर ही आश्रित है। विषय के अत्यधिक दार्शनिक और उलझे होने के बावजूद भी अगर लेखक में भाषागत शक्ति और सामर्थ्य है तो वह अपनी सरस अभिव्यक्ति की शैली द्वारा नीरस और शुष्क विषय को भी सरस और आकर्षक बना सकता है। अति काल्पनिक चरित्रों में भी मानवीय रंग भर सकता है और पूर्णतः अमूर्त चरित्रों द्वारा भी मानव सुलभ व्यंजना करा सकता है। `अमृतोदय` के प्रणेता में भाषागत यह शक्ति और सामर्थ्य पूरी तरह तो नहीं, किन्तु बहुत कुछ है।

प्रतीक नाटकों में सरसता और आकर्षण दो तरह से किया जा सकता है -एक यह कि यथासम्भव प्राकृतिक दृश्यों का स्वतंत्र वर्णन करके और दूसरे दार्शनिक तत्त्वों में ही रूपक, समासोक्ति, श्लेष, आदि अलंकारों का समावेश करके। यहां ये दोनों प्रवृत्तियां लक्षित की जा सकती हैं। प्रकृति-चित्रण में नाटककार को विशेष सफलता मिली है। उसके चित्र पूरी आकृति

में उभर कर सामने आते हैं जिससे परिष्कृत सौन्दर्य बोध वाले पाठक को बड़े भले लगते हैं। शिशिर का एक उदाहरण हमारी बात का पर्याप्त प्रमाण होगा—कमलिनी नायिका हिम से आहत होकर जाड़े के दिनों में जल में प्रविष्ट कर गई है। चिर विरह कृश सूर्य की किरणें उसे पानी में टटोल रही हैं। चूंकि नायिका विरहदग्धता में कृशकाय हो गई है इसलिए उसके हाथ का कंगन पानी में गिर जाता है[1]-- यहां `निभृतनिलीनां नलिनी` की मानदशा को `चिर विरह तनूरैभ्य:` सूर्य की अनुरक्तता को व्यंजित करके कंगन के गिरने का औचित्य बताते हुए हमारे हृदय में कुछ मानवीय भावना को व्यक्त करते हैं।

`पदाता` और `परामर्श` जैसे एक दम वायवी पात्रों में भी नाटककार ने जिस मानवीय प्रेम-व्यापार का स्फुरण कराया है वह स्तुत्य प्रयास से भी एक कदम आगे ही है। `पदाता` नायिका `परामर्श` से स्वप्न में समागम करती है और जैसे अनिरुद्ध के प्रति वाणपुत्री उषा का प्रेम समर्पित है वैसे ही `पदाता` नायिका के मन में `परामर्श` के प्रति प्रणय की तीव्र उत्कण्ठा हो रही है। नाटककार इस स्थल पर उत्प्रेक्षा की है कि नायिका का प्रेम कस्तूरी-गन्ध की तरह छिपाने पर भी छिप नहीं रहा है। नायिका की सहेली `कथा` नायिका से ही उसकी यह स्थिति बताती है।[2] आंखों में आंसू हैं, पर वे आंखें शान्त हैं इसलिए अश्रु प्रवाह नहीं हो रहा है तनिक भी स्पन्दन होगा तो आंसुओं की झड़ी लग जायगी। एक भ्रू चिन्ता की मुद्रा में ऊपर उठी है। शरीर सात्त्विक भाव से पूर्ण

---

१. `अमृतोदयम्`, अंक १, श्लोक १५
२. वही, अंक द्वितीय, श्लोक २

है । रोमांच होता है और अन्तर की भावनाओं की सूचना देता है । सद्यः उत्पन्न प्रणय वाली इस भोली-भाली और अभीर नायिका का यह चित्र इतना अधिक मार्मिक है कि यह बिल्कुल भूल ही जाता है कि यह नायिका किसी हाड़-मांस की सलोनी बालिका जैसी नहीं है ।

इस प्रकार भाषा-शैली , रस, कथावस्तु, पात्र आदि सभी दृष्टियों से 'अमृतोदय' की श्रेष्ठता और मौलिकता स्वीकार की जा सकती है । लेकिन इसका अर्थ यह नहीं कि यह अपनी पूर्ववर्ती परम्परा से अलग है । इसका मतलब सिर्फ यही है कि उन्होंने इस नाटक में परम्परानुमोदन से कुछ अधिक बातें कही गई हैं । शेष सब अनुकरणमात्र ही है । दार्शनिक सिद्धान्तों को नाटकों के विषय रूप में ग्रहण करने की जो परिपाटी अश्वघोष से शुरू होती है वह यहां भी है । लेकिन अंधानुकरण रूप में नहीं । सामग्री संचयन और सही तौर पर सतर्कता से उपयोग किए जाने के रूप में । इस दृष्टि से 'अमृतोदय' का अपना महत्त्व है —इसे इनकार नहीं किया जा सकता ।

'धर्मविजय' नाटक का समीक्षात्मक अध्ययन—

१६ वीं शताब्दी की यह प्रतीकात्मक रचना नाटककार श्री भूदेव शुक्ल की प्रसिद्ध नाट्यकृति है । प्रतीक-नाटकों की परम्परा में यह पहली रचना है जिसकी पात्र-योजना में स्वतंत्रता बरती गई है । नाटक का प्रतिपाद्य विषय तो प्रबोधचन्द्रोदय के अनुकरण पर ही समसामयिक धार्मिक परिस्थितियां हैं । लेकिन प्रतिपाद्य तक पहुंचने के मार्ग में 'प्रबोधचन्द्रोदय' के अंकुश को नाटककार ने स्वीकार नहीं किया है । इस दृष्टि से 'धर्मविजय' एक मौलिक नाटक है । नए चरित्रों की उद्भावना नाटक में मौलिकता का परिचायक तो है ही साथ ही रोचकता और आकर्षण की श्रीवृद्धि भी

भी करता है।

यह नाटक अपनी पूर्ववर्ती परम्परा से भिन्न इसलिए भी है कि इसमें कोई दार्शनिक मतवाद नहीं उपस्थित किया गया है। दार्शनिक बुद्धि से परे होना भी इस नाटक की अपनी विशेषता है। लगता है नाटककार को शुष्क और नीरस दार्शनिक सिद्धान्तों में कोई रुचि नहीं थी। नाटककार ने मनुष्य के व्यावहारिक पक्ष को ग्रहण करके जीवन के स्पन्दन को पकड़ने की कोशिश की है। उसने सीधे-सादे कथानक द्वारा जो कहीं-कहीं साधारण भी लग सकता है - मनुष्य की व्यवहारिक समस्या पर प्रकाश डाला है। प्राचीन धार्मिक उपदेष्टाओं की तरह नाटककार मनुष्यों की धर्म वैपरीत्य की स्थिति से चिन्तित है। वह अपनी सारी सृजन-क्षमता को सिर्फ एक इसी उद्देश्य में लगा देना चाहता है कि संसार में लोगों की आस्था धर्म के प्रति हो और अधार्मिक कृत्यों की खुलकर निन्दा की जाय, जिससे अधर्मियों को प्रोत्साहन मिलना बन्द हो जाय। अपने इस उद्देश्य में नाटककार काफी बौद्धिक तैयारी से लगा है और उसने इस क्षेत्र में अच्छी सफलता प्राप्त की है। आज के इस यांत्रिक, अमानवीय, अनीश्वरीय, अनैतिक, संत्रासमय और विषाक्त वातावरण में भी `धर्मविजय` को पढ़कर कुछ समय के लिए तो पाठकों का ध्यान धर्म की ओर अग्रसर हो ही जायगा।

कथावस्तु की दृष्टि से `धर्मविजय` एक रोचक कथाशैली का उदाहरण प्रस्तुत करता है। सूत्रधार से लेकर नाटक के अंतिमांश तक की कथा एक दूसरे से गहरे रूप में सम्बद्ध हैं। बड़ी ही कुशलता के साथ नाटककार कथा की पर्तों को एक - एक करके खोलता चला गया है। पहले अङ्क में प्रस्तावना के पश्चात् वर्णशंकर और नीचसंगति का वार्तालाप, राजा धर्म और उसकी पत्नी उर्ध्वगति का प्रवेश, कुलाङ्गनाओं के पवित्र चरित्र तथा वर्णाश्रम व्यवस्था का वर्णन आदि अंश कथा की पूरी अभिव्यक्ति करते हैं।

सम्पूर्ण कथा पांच अड्०कों में विभक्त है। वस्तुत: नाटक होने की पहली शर्त है कि उसमें पांच अड्०क होने चाहिए। धर्मराज और अधर्मराज दो परस्पर विरोधियों की कथा समानान्तर गति से प्रवाहित होती गई है। कथावस्तु की दृष्टि से प्रबोधचन्द्रोदय का प्रभाव इस पर भी है। प्रथम अड्०क के विष्कम्भक में प्रबोधचन्द्रोदय के काम और रति ने जो कार्य किया है, वर्णशंकर और नीचसंगति का यहां वही कार्य है। प्रबोधचन्द्रोदय के द्वितीय अंक में दम्भ और अहंकार ने जिस पाखण्ड की बात की है वही अनाचार और व्यभिचार इस नाटक में करते हैं। प्रबोधचन्द्रोदय की शान्ति, करुणा जैसे श्रद्धा की खोज में निकलती है वैसे ही यहां पण्डितसंगति और परीक्षा वेदान्त विद्या की खोज में निकलती है -प्रबोधचन्द्रोदय में श्रद्धा, शान्ति के लिए जैसे कारण बनती है उसी प्रकार यहां विद्या, पण्डितसंगति की वियोगजन्य मृत्यु का। अन्त में जैसे धर्मराज का अपनी सेना सुसज्जित करके शत्रु से युद्ध करने को काशी और प्रस्थान करना, प्रबोधचन्द्रोदय के विवेक की सैन्य - तैयारी का ही प्रति रूप है। विजयश्री विवेक की तरह ही यहां भी 'धर्मराज' को ही मिलती है। इसके अतिरिक्त 'धर्मविजय' और 'प्रबोधचन्द्रोदय' में भाव साम्य की स्थिति भी है।[१]

प्रस्तुत नाटक में धर्मराज की कथा ही प्रधान है जिसे आधिकारिक कथा की संज्ञा दी जा सकती है। ऊर्ध्वगति की कथा पताका और विद्या की कथा प्रकरी कही जा सकती है।

पात्रों की दृष्टि से 'धर्मविजय' का अन्य नाटकों की सापेक्षता में विशेष महत्त्व स्वीकार किया जाना चाहिए। बात यह है कि यहां पात्र-

---

१. प्रबोधचन्द्रोदय के २०-२१ पृष्ठ पर (प्र०अं० में) काम और रति के वार्तालाप से 'धर्मविजय' नाटक के प्रथम अंक पृ० ७ के नीचसंगति और वर्णशंकर की बात-चीत में साम्य।

योजना में नाटककार ने बहुत हद तक स्वतंत्रता बरती है। व्यभिचार, व्यवहार ऊर्ध्वगति, नीचसंगति, परस्परप्रीति, परीक्षा, गंगास्नान, कविता, प्राकृत, विद्या, विधवा आदि कुछ ऐसे ही पात्र हैं जो नाटककार की मौलिक प्रतिभा के पर्याप्त सबूत हैं। भावनात्मक प्रतीक पात्रों की सृष्टि इससे पहले के नाटकों में भी मिलती है। किन्तु गंगास्नान, व्यवहार, नीचसंगति, कविता, प्राकृत जैसे व्यावहारिक प्रतीक पात्र अभी तक प्राप्त नहीं हुए थे।

नाटककार सामाजिक धरातल को हाथ से छूटने नहीं देता। वह जातियों के उत्थान-पतन से परिचित है। अपने ऐतिहासिक गौरव से अवगत है। समसामयिक, धार्मिक, सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक समस्याओं से भली-भांति परिचित है। नाटककार का समय इतिहास में अकबर के शासनकाल का समय है।[१] इस समय यवन और भारतीय हिन्दू जातियों में अपनी-अपनी संस्कृतियों का आदान-प्रदान चल रहा था। एक दूसरे की सभ्यता और संस्कृति में ढलते जा रहे थे। दोनों जातियों की धार्मिक मान्यताओं में बुनियादी तौर पर बहुत बड़ा पार्थक्य था। एक की धार्मिकता दूसरे की विधर्मिता समझी जाती थी। लेकिन क्या धर्म है और क्या अधर्म यह बात सिर्फ हिन्दू पण्डितों और मुसलमान मौलवियों के क्रमशः शास्त्र और कुरान की ही बात रह गई थी। सामान्य जनता उसे समझने में अक्षम ही रही थी। इसलिए उसने खुलकर विदेशी यवनों की सभ्यता, संस्कृति, धार्मिक मान्यताओं में गहरी रुचि लेने लगे। और इस प्रकार हिन्दू जाति यवनों के अत्यधिक सम्पर्क में आकर इस्लाम धर्म में उल्लिखित बहुत सी बातों को अमल में लाने लगी। यह धार्मिक स्वतंत्रता इस अर्थ में ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य की देन है। यवनों की विचारधारा में ढलने के कारण ही हिन्दू पण्डितों ने उन तथाकथित हिन्दुओं को विधर्मी कहा और जगह-जगह उनके विरुद्ध धार्मिक

---

१. 'धर्मविजयनाटकम्', भूमिका, पृ० २

निष्ठा के छीटे किए जाने लगे । `धर्मविजय` नाटक भी इसी मनोवृत्ति से उत्थित नाटक माना जाना चाहिए । इसी ऐतिहासिक संदर्भ में अधर्म को जो कि समाज में इन धर्माचार्यों के अनुसार काले सर्प की तरह अपना फन फैलाता जा रहा था —समूल नष्ट करने के लिए इस नाटक की रचना हुई ।

नाटक के सभी पात्रों को लगभग तीन श्रेणियों में विभक्त किया जा सकता है —

अमूर्त — (वर्णशंकर, धर्म, अधर्म इत्यादि)
प्ररूप — (वैद्य, गणक, स्मार्त आदि ।)
साधारण—(सूत्रधार, नटी , विदूषक आदि)

इन पात्रों के रूपांकन में लेखक ने अपने यथार्थज्ञान का परिचय प्रस्तुत किया है । प्रतीक नाटकों की परम्पराओं `प्रबोधचन्द्रोदय` के बाद पात्र-योजना की जो शैली प्रचारित हुई थी उसका भरपूर उपयोग यहाँ मिलता है ।

रंगमंच की दृष्टि से नाटक आमतौर पर अभिनेय ही कहा जायग कथा का विस्तार सीमित ही है । अंक भी छोटे-छोटे हैं और कथोपकथन भी स्मरण करने योग्य है । संवादों में चुस्ती और कसाव है । चरित्र अपनी क्रियाओं में संवादों से काफी मदद ले सकता है । चरित्र मानव की तरह बोलते हुए सामने आते हैं ।

रस की दृष्टि से `धर्मविजय` एक विवादग्रस्त नाटक लगता है । नाटक का विषय `अधर्म `का नाश और `धर्म ` की प्रतिष्ठा है । `अधर्म` में सारी दुष्क्रियाएं, अस्तव्यस्तताएं सम्मिलित की जाती हैं और `धर्म ` में सभी प्रकार की सत्क्रियाएं और सद्व्यवस्था । वैसे तो `धर्म` एक प्रक्रिया मात्र ही है इसका एक अभीष्ट लक्ष्य जो सबके लिए एक है — मोक्ष प्राप्ति है । लेकिन धर्म नायक अपने में सत्य, दया, क्षमा, शन्ति इन सभी उदात्त

उदात्त तत्त्वों को समाहित करता जाता है और इसी अनुपात में वह सारे दुर्गुणों को यथा — ईर्ष्या, द्वेष, मलिनता, शत्रुता, अशान्ति आदि को छोड़ता जाता है। उसकी व्यभिचारिणी क्रियाएं सदाचार में बदल जाती हैं। उसमें आध्यात्मिक विकास हो जाता है और ईश्वरोन्मुख होता हुआ वह अन्ततोगत्वा उस परम तत्त्व का साक्षात्कार कर लेता है। यह साक्षात्कार की स्थिति निर्विकार और शमभाव की स्थिति होती है और यही 'शम' भाव शान्त रस का स्थायी भाव है।

इस नाटक में धर्म नायक के द्वारा संसार के दु:खपूर्ण वातावरण का प्रथम अङ्क में ही वर्णन करके संसार की अनित्यता की ओर संकेत किया गया है। यह 'अनित्य संसार' ही यहां आलम्बन विभाव है। धर्म द्वारा प्राचीन भारतीय कुलांगनाओं के पवित्र-चरित्र और वर्णाश्रम व्यवस्था का वर्णन, चौथे अंक में व्यवहार और दण्ड को अनृत को दण्ड देने के लिए सत्य को नियुक्त करना आदि उद्दीपन विभाव है। हिंसा इत्यादि के उन्मूलन के लिए अहिंसा आदि को भेजना, व्यवहार का महापापों को मृत्यु दण्ड देना इत्यादि अनुभाव है। पांचवें अंक में व्यवहार द्वारा यह सूचित करना कि काशी में फैला हुआ अधर्म प्रयाग में अपना खेमा जमा कर 'धर्म' से युद्ध करना चाहता है और इस पर धर्म की उद्विग्नता आदि संचारी भाव है। धर्म ही आश्रय है। अन्योन्य रसों का भी समुचित निर्वाह पाया जाता है।

भाषा-शैली की दृष्टि से यह नाटक अन्य नाटकों की अपेक्षा बन पड़ा है। भाषा सरस, सरल, सुबोध एवं पात्रानुकूल है। शैली में प्रवाह है। शब्दावली में एक व्यावहारिक, तार्किक बुद्धि की छटा देखने को मिलती है। आलोचना की शैली बड़ी ही मार्मिक एवं हंसाने वाली है। वैदिकों की निन्दा स्मार्त पात्र द्वारा बड़े हास्यास्पद ढंग से की गयी है।[१] भाषा

---

१. पत्न्या नितम्बमभिमृश्य शिरोभ्रमेण,
किं केशपाशविकला मृतभर्तृकेयम्।
इत्थं विषण्णहृदय: शयने निषण्णो,
हा पुत्र! मातरिति रोदिति वैदिकोऽयम्।
— धर्मविजयम् नाटकम्, अंक ३, श्लोक २६, पृ० ४६

सरल होते हुए भी कहीं-कहीं बाणभट्टीय गद्यात्मक शैली का भी प्रयोग दृष्टिगत होता है।[१] परन्तु ऐसे स्थल पूरे नाटक में दो एक ही हैं।

अन्त:कथाओं, अलंकारों, सूक्तियों, मुहावरों, छन्दों का समुचित निर्वाह प्रस्तुत नाटक में किया गया है। अन्त:कथा का एक उदाहरण द्रष्टव्य है --वलिस्त्रिलोकीं दिनभर्तृपुत्रोऽप्युत्कृत्य चर्मास्थिगणं दधीचि:। विजित्य राम: पृथिवीमयच्छत्किं याचमानाय न देयमस्ति।[२] अनुप्रास की छटा अङ्क ५, श्लोक २२ में देखी जा सकती है। अन्य अलंकारों में उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक, अर्थान्तरन्यास आदि का प्रयोग भी यथोचित किया गया है

इस प्रकार कुलमिलाकर 'धर्मविजय' नाटक एक उद्देश्य प्रधान सामाजिक नाटक के रूप में ही अपना परिचय प्रस्तुत करता है। नाट्यशास्त्रीय दृष्टिकोण से भी नाटक त्रुटिहीन नहीं है। लेकिन इसके अतिरिक्त भी नाटक की सफलता उसके गम्भीर सामाजिक दायित्व पर ही आधारित है। अपने इस उद्देश्य में नाटककार पूर्ण रूप से सफल रहा है और उसका यह प्रयास एक स्तुत्य प्रयास माना जाना चाहिए।

~~'विद्या~~

'विद्यापरिणयम्' और 'जीवानन्दनम्' का समीक्षात्मक अध्ययन-

ये दोनों नाटक 'विद्यापरिणयम्' और 'जीवानन्दनम्' एक ही शैली में लिखे गए हैं। आनन्दरायमखी ने यद्यपि इन दोनों के उद्देश्यों और प्रेरणाओं में अन्तर करने का बहुत कुछ प्रयास किया है फिर भी अपने कथ्य

---

१. 'धर्मविजयम्', अङ्क ४, पृ० ५१

२. वही, अंक, ४, श्लोक २५, पृ० ५५

और शिल्प में दोनों ही नाटक एक से लगते हैं । उनमें कथावस्तु, पात्रयोजना यहाँ तक कि संलाप शैली में भी काफी साम्य दृष्टिगोचर होता है । लेकिन उद्देश्य की दृष्टि से दोनों में अनिवार्यत: अन्तर आ गया है जिससे दोनों की उपयोगिता सुरक्षित रह गई है । `विद्यापरिणयम्` का उद्देश्य विद्या (आध्यात्मिक विद्या) की प्राप्ति है जबकि `जीवानन्दनम्` का उद्देश्य `शिव भक्ति` की ओर लोगों का ध्यान आकृष्ट करना है । शिवभक्ति की चर्चा में भी आई है --(इस नाम का एक पात्र ही है) किन्तु वहाँ शिवभक्ति को नाटक के अभीष्ट लक्ष्य के रूप में प्रतिष्ठा नहीं मिल पाई। `जीवानन्दनम्` नाटककार की प्रारम्भिक रचना है । उस समय तक नाटककार अपनी कला में निखार लाने की स्थिति में था । सम्भवत: इसी अज्ञान के कारण उसने एक साथ दो महत्त्वपूर्ण विषयों को अपने कार्य के लिए चुना- शिवभक्ति और आध्यात्मिक विद्या की प्राप्ति ।

वस्तुत: दो समान महत्त्वपूर्ण समस्याओं को एक ही नाट्यकृति में रखकर उनके साथ उचित न्याय नहीं बरता जा सकता था । किसी भी काव्यकृति का मुख्य उद्देश्य एक ही होता है इसलिए दो महत्त्वपूर्ण समस्यायों के प्रस्तुतीकरण में यह स्वाभाविक भी है कि एक के प्रति कुछ उपेक्षा हो जाय । नाटककार के दूसरे नाटक के प्रणयन की पृष्ठभूमि में प्रेरणारूप में यही विचार रहा होगा कि पहले नाटक में आध्यात्मिक विद्या की अपेक्षा शिवभक्ति को कम महत्त्व प्राप्त हो सका है इसलिए शिवभक्ति पर एक अलग से रचना प्रस्तुत की जाय । नाटककार शैवमत के थे -- यह इस बात का सबूत है कि उनके मन में `जीवानन्दनम्` की रचना के बाद शैव-भक्ति के प्रति एक अतिरिक्त उल्लास जागृत हुआ होगा, जिसने दूसरे नाटक `विद्यापरिणयम्` का प्रणयन करवाया होगा । इस ग्रन्थ के सन्दर्भ में सिर्फ यही सत्य नहीं है कि इन्हें शैवमत का पुनराख्यान करना था वरन् यह भी स्पष्ट है कि उन्हें अपने आध्यात्मिक बहुज्ञता का भी परिचय देना था ।

जीवानन्दनम्—

संस्कृत वाङ्मय में साहित्य, आयुर्वेद, कामशास्त्र, वेदान्त आदि विविध शास्त्रों के महत्त्व को काव्यमय रोचक शैली में प्रस्तुत करने की एक सुदीर्घ परम्परा चलती रही है। रचनाकारों का दृष्टिकोण इन शास्त्र विषयक रचनाओं में यह रहा है कि यथासाध्य शास्त्र के शुष्क और नीरस विधि-निषेधोंको सुन्दर और मार्मिक भावबोध के साथ प्रस्तुत किया जाय। प्रस्तुत नाटक 'जीवानन्दनम्' भी इसी परम्परा का नाटक है।

इस नाटक में सम्पूर्ण वैद्य समुदाय से असाध्य रोग राजयक्ष्मा की सहज और सुलभ चिकित्सा की ओर पाठकों और दर्शकों का ध्यान आकृष्ट किया गया है। वस्तुत नाटक भिन्न-भिन्न रुचि के लोगों के लिए लिखा जाता है — " नाट्यं भिन्नरुचे-र्जनस्य बहुधाप्येकं समाराधनम् । इसीलिए नाटक में सभी शास्त्र, सभी विद्यायें, शिल्प, कला, ज्ञान, विज्ञान का समावेश होता है ताकि भिन्न भिन्न शास्त्रों में रुचि रखनेवाले अपनी-अपनी इच्छित वस्तु से मनोरंजन कर सके। इसीलिए इस नाटक में आयुर्वेद को प्रधान विषय रूप में स्वीकार करने के बावजूद भी साहित्य, कामशास्त्र, योगदर्शन वेदान्तदर्शन, श्रुतिबचन मिलते हैं। अन्ततोगत्वा इन सभी शास्त्रों का शिवभक्ति में समाहार कर दिया गया है। इस प्रकार इस नाटक के लक्ष्य जन्य दो पहलू हैं — आयुर्वेद का ज्ञान सामान्य जनता को कराना और शिवभक्ति की ओर लोगों का ध्यान आकृष्ट करना।

प्रतीक शैली के नाटकों में विषयवस्तु सम्बन्धी यह एक नई बात है कि आयुर्वेद शास्त्र को नाटक के विषय में नाटककार ने स्वीकार किया है। इसके पहले दार्शनिक सिद्धान्तोंको ही मुख्य विषय बनाया गया था और यह सच है कि मनुष्यके आध्यात्मिक और दार्शनिक जगत्की पर्याप्त व्याख्या हो चुकी थी। विशिष्ट-द्वैतका प्रतिपादनहो या अद्वैतका, विवेक की बात हो या फिर ब्रह्मसाक्षात्कारकी, प्रवृत्ति की या फिर निवृत्तिकी — सभी की सविस्तार-व्याख्याहो चुकी थी। यह मनुष्यका आध्यात्मिक और मानसिक जगत् था जो प्रतीक नाटकोंमें अपना महत्त्वपूर्ण स्थान बना चुका था। व्यावहारिक जगत्की बात शेष रह गई थी। यद्यपि भूदेव शुक्ल ने

इस व्यावहारिक पक्ष के महत्त्व को भी इसके पहले समझा था और धार्मिक विधि निषेधों का तार्किक उपाख्यान किया था फिर भी यह मनुष्य के व्यवहार का एक ही पक्ष था। व्यवहार सम्बन्धी अनेकों पक्ष अभी अछूते थे। उन पर कार्य करना शेष था। यद्यपि `धर्मविजय` नाटक के द्वारा इस व्यावहारिक जीवन की पृष्ठभूमि तैयार हो चुकी थी किन्तु इसका समुचित विकास परवर्ती नाटकों में ही हुआ। इस प्रकार नाटककार आनन्दराय-मखी ने इस धरातल पर कार्य किया और मनुष्य के व्यावहारिक ज्ञान की समुचित व्याख्या प्रस्तुत की।

कहना न होगा कि शारीरिक रोग मनुष्य जीवन के लिए कितना कष्टकारी एवं घातक होता है। नाटककार ने `जीव` को नायक, `बुद्धि` उसकी पत्नी तथा `ज्ञान` और `विज्ञान` को मंत्री बनाया है। श्रद्धा, धारणा, भक्ति जो कि मनुष्य के अच्छे गुण हैं वे सब इसीलिए नाटक में नियोजित किए गए हैं कि नाटक के विषय प्रतिष्ठापन में कुछ नया स्वरूप दिया जा सके। स्मरणीय है कि श्रद्धा, धारणा, भक्ति, यानी मनुष्य के अच्छे गुणों का वर्णन पूर्ववर्ती नाटकों में हो चुका था लेकिन प्रस्तुत नाटक-कार ने उन सबसे भिन्न एक नये धरातल पर इन गुणों की उद्भावना की है।

प्रस्तुत नाटक में `जीवराज` की कथा मुख्य है जिसे आधिका-रिक कथा कहेंगे। ज्ञानशर्मा की कथा पताका तथा शिवभक्ति की कथा प्रकरी है।

नाटक के प्राय: सभी मुख्य पात्र अमूर्त हैं। कुछेक साधारण पात्र (विदूषक, वैतालिक आदि) ही मूर्त में आ सकते हैं। पात्रों की यह अमूर्तता ऐसे तो रसोपलब्धि में बाधक होती है, किन्तु नाटककार इस तत्त्व से अवगत है कि इन अरोचक और नीरस पात्रों में भी सजीवता और जीवन्तता

इस मात्रा में भर दी जाय कि ये सभी पात्र रोचक और सक्रिय बन जाय । तात्पर्य यह है कि नाटककार अपने प्रयत्नों द्वारा नाटक के चरित्रों को पर्याप्त उभाड़ा है और उनकी तार्किक व्याख्या दी है ।

पात्रों की बहुलता के अतिरिक्त भी नाटककार की यह विशेषता रही है कि वह अपनी सक्षम अभिव्यक्ति शैली द्वारा सभी पात्रों की अलग-अलग रूपरेखा प्रस्तुत कर दी । प्रतीक नाटकों में भावनाओं और शास्त्रों को पात्र रूप में प्रतिष्ठित किया जा चुका था किन्तु पहलीबार इस नाटकार ने मानवीय रोगों को पात्र रूप में प्रतिष्ठित किया और न केवल प्रतिष्ठित किया वरन् उनकी सही और सफल अभिव्यक्ति भी कराई ।

अभिनय की दृष्टि से नाटक पात्र-बहुल होने से बहुत कुछ संशोधन परिवर्द्धन के बाद ही अभिनीत हो सकता है । रंगमंचीय निर्देशनों में कोई विशेष चेतावनी नहीं होने की वजह से यह एक सुविधा ही है कि नाटक को विना किसी विशेष तैयारी के सुविधानुसार रंगमंच पर प्रस्तुत किया जा सकता है ।

रस की दृष्टि से प्रस्तुत नाटक किसी एक मत को दृढ़ता के साथ स्वीकार करने में कहीं कोई मदद नहीं करता । इसीलिए यह विवाद का विषय है कि नाटक में किस रस को मुख्य रस स्वीकार किया जाय । रस की दृष्टि से महत्त्व प्रतिपादित करते हुए श्रीहरि शास्त्री दाधीच जी ने इसमें वीर रस को ही स्वीकार किया है ।[१] यद्यपि `जीवराज` और `यक्ष्मा` के आपसी संघर्ष को बड़े ही जोर-शोर के साथ चित्रित किया गया है फिर भी मुख्य प्रतिपाद्य वह नहीं है । इसीलिए इसमें वीर रस की स्थिति स्वीकार

---

१. जीवानन्दनम् , भूमिका, पृ० २

कर लेने पर भी उसे मुख्य रस तो नहीं माना जायगा । नाटक का अन्तिम लक्ष्य शिवभक्ति की प्राप्ति ही है। भक्ति का स्वरूप ज्ञानोत्पत्ति और विवेक प्राप्ति का परिचायक है। मनुष्य अपने दुर्गुणों से मुक्त होकर और माया, मोह जैसे दुश्मनों को पराजित करके जब अपनी ज्ञानावस्था में पहुँचता है तो उसे भक्ति की प्राप्ति होती है। भक्तजनों का तो यहां तक विश्वास है कि जब तक ईश्वर की अनुकम्पा भक्त पर नहीं होती तब तक भक्ति भी उसे नहीं प्राप्त होती । ऐसी दशा में जबकि नाटक का मुख्य प्रतिपाद्य शान्त चित्त को प्राप्त कराना है तो इसे वीर रस प्रधान नाटक कहना समीचीन नहीं जान पड़ता । इसीलिए मेरी यह स्पष्ट धारणा है कि `जीवानन्दनम्` भी शान्त रस प्रधान नाटक है -इसी युक्ति की समीचीनता इस बात में है कि दर्शकों को अन्त में शिवभक्ति की ओर उन्मुख करने का प्रयास है।

ज्ञानशर्मा सचिव राजा जीव को त्रैवर्गिक (धर्म, अर्थ, काम) कार्यों से दूर कर मोक्ष के लिए उन्मुख करता है। जीवराजा को भौतिकता के प्रति विरक्ति हो जाती है। इस प्रकार अनित्यसंसार ही यहां आलम्बन है । द्वितीय अङ्क में ज्ञानशर्मा और विज्ञानशर्मा में भेदसमझकर `जीवराजा` के लिए कठिनाई उत्पन्न करने के लिए पाण्डु का प्रयत्न, द्वितीय अङ्क में परमेश्वर की कृपा से प्राप्त रस गन्धक आदि के प्रभाव का वर्णन और चतुर्थ अङ्क में स्नान, पूजा, के बाद राजा जीव का रानी बुद्धि के साथ उद्यान में जाना आदि उद्दीपन है। राजजीव का पुण्डरीकपुर में शिव और उमा की आराधना के लिए प्रवेश करना अनुभाव है। शिवभक्ति के बिना राजाजीव का रोगों की मुक्ति के विषय में सन्देह, चिन्ता आदि व्यभिचारी भाव है। विरक्त जीव ही आश्रय है।

शान्तरस के अतिरिक्त वीर, रौद्र, हास्य, शृंगार, करुण आदि रसों की भी अभिव्यंजना है। रोगों के वर्णनों में वीभत्स, पंचम अंक में कुष्ठ इत्यादि के संलाप में हास्य, राजाजीव और जीव का प्रतिद्वन्द्वी राजयक्ष्मा के

संघर्ष के समय वीर आदि रसों की अभिव्यक्ति मिलती है ।

नाटक की भाषा परिमार्जित, सुसंस्कृत है । संवादों और वार्तालापों में चुस्तता और कसाव है जो अभिनय की दृष्टि से बड़ा ही महत्त्वपूर्ण होता है । संवाद बहुत लम्बे होने से अभिनेताओं को स्मरण कराए जा सकते हैं और स्मरण नहीं कराया जाय तो नाटक का सफल अभिनय भी नहीं हो सकता । लेकिन यह कमजोरी कम से कम प्रस्तुत नाटक में नहीं है ।

मैंने पहले बताया है कि भाषा पर अधिकार रखने वाला नाटककार अपने अमूर्त पात्रों में भी ऐसी जान डाल देता है कि उनकी मूर्त्तता को स्वीकार करना पड़ जाता है । उनकी नीरसता और शुष्कता, सुकुमारता और कोमलता में बदल जाती है । इस दृष्टि से यह नाटककार भाषा का अधिकारी विद्वान माना जा सकता है । नाटककार ने अपनी भाषागत प्रतिभा द्वारा रोग आदि के निरे काल्पनिक चरित्रों में भी अद्भुत मांसल सौन्दर्य भर दिया है जिससे कि ये चरित्र काल्पनिक नहीं लगते ।

इसमें भी शैली में कोई बहुत बड़ा मौलिक प्रयोग तो नहीं प्रस्तुत किया गया है । शिल्पगत स्वस्थ चातुर्य का परिचय उसके नाटकों में मिलता है । नाटककार ने अलंकारों, सूक्तियों और अन्तर्कथाओं का भी प्रयोग किया है ।

कुल मिलाकर नाटक प्रतीक शैली के नाटकों में अपना विशिष्ट स्थान बनाता है । शारीरिक रोग से मुक्ति और शैवभक्ति की चर्चा कुछ ऐसे मौलिक प्रयास है जिनके लिए नाटककार को साधुवाद देने का लोभ संवरण नहीं हो पाता । यद्यपि नाटककार ने दो नाटकों की अलग-अलग रचना की

है फिर भी वे एक दूसरे के पूरक रूप में ही अपना महत्त्व रखते हैं। शिवभक्ति ही एक सेतु है जो दोनों नाटकों के सूत्रों को जोड़ने में सफल होता है। ऐसा लगता है कि पहले नाटक में नाटककार को शिवभक्ति का यथोचित वर्णन करने का अवकाश नहीं प्राप्त हो सका था। यद्यपि शिवभक्ति की बात 'जीवानन्दनम्' में भी उठायी जा चुकी है किन्तु वहां वह उठकर ही रह गई थी। उसकी पर्याप्त विवेचना नहीं हो पाई थी। इसी आवश्यक बात के धरातल पर नाटककार ने अपने दूसरे नाटक का प्रणयन किया है। उसने शिवभक्ति की साङ्गोपाङ्ग विवेचना प्रस्तुत की साथ ही आयुर्वेद की महत्ता प्रतिपादित की है।

`विद्यापरिणायम्` —

कथावस्तु की दृष्टि से `विद्यापरिणाय` अपनी पूर्ववर्ती परम्परा का ही अनुकरण करता है। नाटक में सात अङ्क हैं जिनकी कथा एक दूसरे से जुड़ी हुई है। कथा सम्बन्धी पूर्ववर्ती सभी विशेषताएं यहां भी हैं जो नाटक के कथा-विकास में महत्त्वपूर्ण योगदान करती हैं।

प्रस्तुत नाटक में `जीवराज` की कथा मुख्य है जिसे आधिकारिक कथा कहेंगे। शिवभक्ति की कथा पताका कही जायगी और उपनिषद देवी जो अंतिम अङ्क में आई है, उसकी कथा प्रकरी है।

कथा की रोचकता दार्शनिक और काल्पनिक पात्रों के कारण बहुत कुछ कम हो गई है। दर्शकों को एक सिद्धान्त तो मिलता है लेकिन कथा-तत्त्व की प्राप्ति नहीं होती। वस्तुत: यह कठिनाई सभी दार्शनिक नाटकों में है जो यहां भी अक्षुण्ण रूप में बनी हुई है फिर भी लेखक ने नाटक विधा का आश्रय इसलिए लिया कि इन नीरस और शुष्क बातों में भी थोड़ी बहुत रोचकता पैदा की जा सके।

रंगमंच पर प्रस्तुतीकरण में यह नाटक अन्य नाटकों की तरह ही कुछ संशोधन के साथ ही अभिनीत किया जा सकता है। संवादों और संलापों की लम्बाई बहुत अधिक नहीं है। इसलिए अभिनेता को अपनी भूमिका प्रस्तुत करने में अधिक सफलता मिल पायेगी —ऐसी सम्भावना की जा सकती है। नाटक में रंगमंचीय संकेतों की भी मात्रा अल्प ही है। इसलिए बहुत अधिक रंगमंचीय सामग्रियों की आवश्यकता नहीं होगी।

चरित्र-चित्रण की दृष्टि से `विद्यापरिणायनम्` पहले के नाटकों

से बहुत कुछ मिलता - जुलता है। `जीवराज` और `मोहराज` की प्रति-द्वन्द्विता इससे पहले भी संस्कृत जगत में प्रचारित हो चुकी थी । कहना तो यह चाहिए कि प्रतीक नाटकों के उद्भव के साथ ही `मोहराज` और `विवेक` की जो प्रतिद्वन्द्विता प्रारम्भ हुई थी वह लगभगथोड़े बहुत परिवर्तन के साथ प्रतीक नाटकों की अन्तिम कड़ी तक चलती रही है इसलिए नाटकों के वस्तु तत्त्व में अद्भुत साम्य मिलता है।

`विद्यापरिणय` के चरित्र तीन श्रेणियों में आएंगे —

अमूर्त— विद्या, मोह, जीवराज, चित्तशर्मा, शिवभक्ति विषयवासना आदि ।

प्ररूप—लोकायतसिद्धान्त, विवसन, सोमसिद्धान्त आदि ।

साधारण— नटी, सूत्रधार, दौवारिक आदि ।

इन सभी चरित्रों के अंकन में प्रस्तुतीकरणगत साम्य होते हुए भी पहले के नाटकों के चरित्रांकन का अनुसरण भर किया गया है। उनकी नकल नहीं की गई है। अनुसरण से हमारा तात्पर्य प्रकृतिजन्य स्वभाव से है, चरित्रांकन की व्यावहारिक शैली से नहीं। प्रबोधचन्द्रोदय में `विवेक` और `मोहराज` की वही स्थिति है जो यहां के `जीवराज` और `मोहराज` की । किन्तु ये दोनों चरित्र अपने आप में इतना अलगाव तो रखते ही हैं जिससे पाठकों को यह पता चल सके कि वह किस नाटक का अध्ययन कर रहा है। प्रतीक नाटकों के अध्येताओं ने आंखमूंदकर प्राय: सभी परवर्ती नाटकों पर यह आरोप लगाया है कि यह सब अपने पूर्ववर्ती प्रतीक नाटकों से बहुत अधिक आक्रान्त हैं और इनमें चरित्रों, कथाओं और वस्तुतत्वों का खुलकर अनुकरण हुआ है किन्तु अगर इस बात पर गौर से विचार किया जाय तो मेरा यह निवेदन है कि इन तथाकथित परवर्ती नाटकों में मात्र नकल भर ही नहीं है। उनमें अपनी आन्तरिक प्रेरणा और तज्जन्य अपनी प्रतिभा का प्रदर्शन भी है। हां, इतना

मानना होगा कि अपनी पूर्ववर्ती परम्परा के नाटकों का इन्हें भली-भांति ज्ञान था और इस ज्ञान ने उन्हें स्वयं भी वैसे ही नाटक लिखने को उत्साहित किया हो तो कोई आश्चर्य नहीं ।

रस की दृष्टि से `विद्यापरिणय` भी पहले की तरह आध्यात्मिक विद्या प्रधान होने से `शान्तरस` प्रधान नाटक है । इसमें `जीवराज` अन्त में `आध्यात्मिक विद्या` की प्राप्ति करता है । जीवन भर नाटक के नायक का (जीवराज) संघर्ष इसी आध्यात्मिक विद्या को प्राप्तकरने का रहा है । नायक उसे प्राप्त करने के लिए विविध उपाय करता है । नाना प्रकार के अपने सहयोगियों की मदद लेता है । इस प्रकार वह अपने प्रतिद्वन्द्वी `मोह-राज` को पराजित करता है । इस पराजय में जीवराज को शिवभक्ति से महत्त्वपूर्ण मदद मिलती है । कहना यह चाहिए कि शिवभक्ति ही वह आधारभूत तत्त्व है जो `जीवराज` को अपनी प्रतिद्वन्द्वी मोह (काम, क्रोध, लोभ) को पराजित करने और आध्यात्मिक विद्या को प्राप्त करने में सफलता दिलाता है । शिवभक्ति के अभाव में यह सम्भव नहीं था ।

प्रस्तुत नाटक में विरक्ति पात्र द्वारा संसार की अनित्यता दिखाई गई है यही अनित्य संसार यहां आलम्बन विभाव है । जीवराज आश्रय है चित्तशर्मा द्वारा राजा जीव के सामने विद्या की प्रशस्ति, राजा को विद्या के चित्र को देखकर चकित होना, फिर चतुर्थ अंक में चित्तशर्मा के-चित्र-को-देख द्वारा ही अन्योन्यानुराग की बात कहना , संकल्प द्वारा संकेत स्थान बताना आदि उद्दीपन विभाव हैं । पांचवें अङ्क में वेदारण्य में दोनों पक्षों में घात - प्रतिघात होना, राजा में रोमांच होना और विद्या प्राप्ति के लिए दृढ़ निश्चय करना आदि अनुभाव है । षष्ट अङ्क में राजा का विद्या

के वियोग में दुःखी होना, हर्ष, स्मरण आदि व्यभिचारी भाव हैं।

अन्य रसों में वीर (युद्ध के प्रसंग में), शृंगार (पांचवें अङ्क के काम के संलाप में), करुण (मोहराज के सपरिवार मृत्यु के प्रसंग में) आदि मिलते हैं।

भाषा-शैली की दृष्टि से 'विद्यापरिणयन' सरल और सुबोध कृति है। नाटककार में अतिरिक्त पाण्डित्यप्रदर्शन की भावना नहीं है। वह सीधी बात सधी ढंग से कहने का हिमायती है। यहां तक दार्शनिक गुत्थियों को उसने बड़े ही स्पष्ट ढंग से प्रस्तुत किया है —वयस्य, दिष्ट्या योगप्रभावेण व्याधिस्त्यानसंशय-प्रमादालस्या ---------- ।[१] इत्यादि योग दर्शन को बड़े ही सरल ढंग से प्रतिपादित कर दिया गया है। अपनी सशक्त वर्णन क्षमता द्वारा लेखक ने अमूर्त चरित्रों में मूर्तता का आधान कर दिया है जिससे यह सभी चरित्र जीवन्त से लगने लगते हैं । प्राकृतिक दृश्यों के वर्णन में भी नाटककार सफल है। भाषा में जयदेव के गीत-गोविन्द सा माधुर्य है -- जय जय विजयी इत्यादि अङ्क सात में राजा की युक्ति में द्रष्टव्य है।[२] शैली परिमार्जित और मनोरम है। जगह-जगह अलंकारों, छन्दों आदि से शैली को अलंकृत करने का प्रयास किया गया है।

'जीवन्मुक्तिकल्याणम्' का समीक्षात्मक अध्ययन—

प्रतीक शैली के नाटकों में 'जीवन्मुक्तिकल्याणम्' नाटक का स्थान बड़ा ऊंचा है। नाटककार नल्लाध्वरी ने इस नाटक में अद्वैत वेदान्त की महत्ता प्रतिपादित की है। अद्वैत-दर्शन भारतीय दर्शन के इतिहास में अपना एक विशिष्ट स्थान रखता है। अद्वैत-वेदान्त दर्शन के सबसे बड़े प्रतिपष्ठापक शंकराचार्य रहे हैं। उनके अनुसार ब्रह्म ही एकमात्र सत्य है। जीव और जगत की सत्ता मिथ्या है। शंकराचार्य ब्रह्म को निर्गुण मानते हैं किन्तु माया से आच्छादित होकर जीव का उपास्य और जगत का सृष्टिकर्ता भी उसे मानते हैं। और इसी ब्रह्म के साथ तादात्म्य प्राप्त करना जीव का लक्ष्य है और यही 'मुक्ति' है ।

प्रस्तुत नाटक में उपर्युक्त मत की मार्मिक अभिव्यक्ति हुई है । सभी पात्र उपर्युक्त मतवाद के तत्त्व रूप में प्रयुक्त हुए हैं और इन तत्त्व रूप

---

१. विद्यापरिणयन, अंक ६, पृ० ७३

२. वही, अंक ७, पृ० ८३

पात्रों द्वारा मनमाने तौर पर उन्हें क्रियान्वित करके अद्वैतवेदान्त-दर्शन की सिद्धि करायी गई है। इसीलिए नाटक की विकास दिशा नाटककार नहीं निर्धारित कर सके हैं। ये पात्र नाटककार की कल्पना की कठपुतली बनकर रह गए हैं। इसीलिए इन चरित्रों में स्वाभाविक विकास का अभाव है किन्तु इसके लिए नाटककार को दोषी नहीं ठहराया जा सकता। दार्शनिक मतवाद को विषय बनाकर लिखे जाने वाले लग-भग सभी नाटकों के साथ यह देखने में आती है। इन दार्शनिकों की विशेषता चरित्र-चित्रण की स्वाभाविकता में नहीं, वरन् अपने दार्शनिक मतवाद की तार्किक प्रतिष्ठा में है और यह कहने में हमें तनिक भी हिचक नहीं है कि 'जीवन्मुक्तिकल्याणम्' इस दृष्टि से एक सफल नाटक है।

कथावस्तु की दृष्टि से 'जीवन्मुक्तिकल्याणम्' प्रतीक शैली के नाटकों के अनुकरण पर ही प्रणीत है। दार्शनिक चरित्रों को कथा का माध्यम बनाकर मनोनुकूल सिद्धान्त प्रतिपादित करना लेखक का उद्देश्य रहा है ये दार्शनिक चरित्र और सिद्धान्त कथा के आवरण में प्रस्तुत किए गए हैं। इसीलिए दार्शनिक सिद्धान्त का प्रतिपादन तो मिलता ही है साथ ही दर्शकों को एक मनोरंजक कथा भी प्राप्त हो जाती है।

सम्पूर्ण कथावस्तु पांच अङ्कों में विभाजित है। इन पांचों अङ्कों में कथातन्तुओं का पारस्परिक घनिष्ट सम्बन्ध बनाया रखा गया है। कथातन्तु के ताने-बाने में इसीलिए संघटनात्मक कौशल परिलक्षित होता है।

दार्शनिक और नीरस पात्रों को कथा की रोचक शैली में प्रस्तुत करना अपने-आप में बड़ा दुरूह कार्य है फिर भी नाटककार ने यहां उस दुरूहता को लांघने का प्रयत्न किया है। अपने सिद्धान्त को लक्ष्य में रखकर कथा की रूपरेखा तैयार करना — यह नाटककार की प्रमुख विशेषता रही है। उसने कथा में कहीं कोई ऐसा अङ्क नहीं आने दिया जो उसके दार्शनिक

सिद्धान्त के प्रतिकूल पड़ता हो । यही कारण है कि सभी पात्रों की कहानी प्रकारान्तर से अद्वैत वेदान्त की कहानी है । नाटक के सभी चरित्र अद्वैत-वेदान्त के तत्त्व हैं । हां, पांचवें अङ्क में जीव के द्वारा जो वन्दना कराई गई है यह अपवाद रूप में है । इस वन्दना के विस्तार को देखकर ऐसा लगता है कि यह अंश नाटक की कथा में अनावश्यक रूप में ही जोड़ा गया है । इसकी अनुपस्थिति से न तो नाटक की कथा में कोई क्षति ही आती और न ही उनकी उपस्थिति कथा को पूर्ण ही बनाती है ।

चरित्र-चित्रण की दृष्टि से नाटक दार्शनिक चरित्र प्रधान है । दर्शन के पात्र नाटक में अपना स्वाभाविक विकास करें यह तो सम्भव ही नहीं है फिर भी उनमें स्वाभाविक विकास की रोचकता और साधारण जन जीवन की जीवन्तता तो लाई ही जा सकती है । इस दृष्टि से इस नाटक के चरित्र सभी तो नहीं किन्तु कुछ जरूर ऐसे हैं जो रोचक और सजीव बन सके हैं । जीवराज, रमणीयचरण, बुद्धि, सजीव , शिवप्रसाद, भवितव्यता, जीवन्मुक्ति ये सब इसी के उदाहरण हैं । जीवराजा और रमणीयचरण का नाटकीय सम्बन्ध एक लौकिक राजा और उसके अमात्य के सम्बन्ध का आभास देता है । रमणीयचरण का राजनीतिक चातुर्य नाटककार के तात्कालिक , लौकिक अमात्यविषयक ज्ञान का प्रमाण प्रस्तुत करता है । भवितव्यता और जीवन्मुक्ति में पाठकों को साधारण जैविक सहेलियों का सम्बन्ध लगता है । यह कहने का हमारा मतलब नहीं है कि इन चरित्रों ने अपनी दार्शनिक इयत्ता खोकर मानवीय रूप ग्रहण कर लिया हो वरन् इससे सिर्फ यही समझना चाहिए कि नाटक में चरित्र-विषयक स्वाभाविक चित्रण की बहुत कुछ रक्षा करने का प्रयत्न किया गया है जिससे चरित्रों की रोचकता और सजीवता बिल्कुल लुप्त नहीं है ।

पात्रों की प्रधानतः दो शैलियां हो सकती हैं —

(१) अमूर्त- जीवराज, रमणीयचरण, जीवन्मुक्ति आदि ।

(२) साधारण- सूत्रधार, नटी आदि ।

अभिनय की दृष्टि से नाटक पहले के नाटकों की तरह कुछ अंशों में संशोधन के साथ प्रस्तुत किया जा सकता है । रंगमंच का इसमें भी कोई संकेत नहीं मिलता है । इसीलिए नाटक के प्रस्तुतीकरण में कोई विशेष बाधा नहीं है ।

यह नाटक भी शान्त रस प्रधान है । यद्यपि अन्य रसों की स्थितियां यत्र-तत्र विचित्र की गई हैं, फिर भी नाटक में प्रधान रस की अभि-व्यंजना शान्त रस की ही है । नाटक की जो ध्वनि निकलती है किसी न किसी रूप में शान्त को ही ध्वनित करती है ।

नाटक का विषय जीव का मुक्ति की दिशा में प्रयत्न और इसके लिए जीवन पर्यन्त संघर्ष है । राजा जीव , मुक्तिदेवी जैसी सुन्दर प्रेमिका को पत्नी रूप में प्राप्त करना चाहता है लेकिन कठिनाई यह है कि उसकी वैध पत्नी बुद्धि सही सलामत मौजूद ही है फिर भी जीवराज, जीवन्मुक्ति के स्वरूप पर इतना मुग्ध है कि उसके लिए हर प्रयत्न कर सकता है । उसके इस प्रयत्न में पता नहीं कितनी बाधाएं आती हैं । अज्ञानवर्मा, कामादि शत्रुओं को उसके इस प्रयत्न में रुकावट डालने के लिए ही भेजता है फिर भी वह अपने अमात्य रमणीयचरण की सहायता से मुक्ति को प्राप्त कर ही लेता है । अन्त में जीवन्मुक्ति से राजाजीव का पाणिग्रहण कराकर बुद्धि की अपेक्षा जीवन्मुक्ति की श्रेष्ठता प्रमाणित की गई है । जीवन्मुक्ति की स्थिति ब्रह्म से साक्षात्कार की स्थिति होती है । मुक्ति प्राप्त व्यक्ति मैं ही ब्रह्म हूं ` अहं ब्रह्मास्मि का अनुभव करता है । वह संसार के प्रपंच में नहीं पड़ता, न मोह उसे सताता है और न शोक उसे अभिभूत करता है । इस

प्रकार वह `जीवन्मुक्ति` हो जाता है। फलत: वेदान्त मत में `जीवन्मुक्ति` की दशा नितान्त आनन्दमयी दशा है। अज्ञानावरण के हट जाने से पूर्ण ज्ञान के आलोक से जीवन्मुक्ति प्राणी उद्भासित हो उठता है और ब्रह्म की अनुभूति से उसे परम आनन्द की प्राप्ति होती है। यह परम आनन्द, शान्तचित्त और मनोविकार हीनता का परिचायक है।

जीवन्मुक्ति में अनुभूयमान ब्रह्मस्वरूप ही यहाँ आलम्बन है। प्रथम अङ्क में राजा का अतिमुक्त आत्ममण्डप में प्रवेश करना और वहाँ पर एक सुन्दरी का दर्शन करना, द्वितीय अङ्क में आपातबोध द्वारा उस सुन्दरी (जीवन्मुक्ति) का चित्र देना आदि उद्दीपन विभाव कहे जा सकते हैं। फिर द्वितीय अङ्क में ही बुद्धि का उसके चित्र को देखना और राजा जीव पर क्रुद्ध होना तथा तृतीय अङ्क में कामादि के कारण जीव को चिन्ता आदि का होना संचारी भाव है। रमणीयचरण, सत्त्वशुद्धि, साधनसम्पत्ति आदि का जीवन्मुक्ति से जीव को मिलाने का प्रयत्न ही अनुभाव है। मनोविकार रहित जीव ही आश्रय है।

नाटक की भाषा पात्रोचित है। जिन-जिन स्तरों के पात्र प्रयुक्त हुए हैं उनके लिए उन्हीं उन्हीं तरह की भाषा भी प्रयुक्त है। नाट्य-शास्त्रकारों के निर्देशों का भाषा प्रयोग के क्षेत्र में यथायोग्य पालन किया गया है। भाषा के ललित प्रयोग कुछ ऐसे प्रभावकारी बन पड़े हैं जिनके लिए विद्वद्वरेण्य पं० बलदेव उपाध्याय जी को भी यह लिखना पड़ गया है —
`नाटक का विषय दुरूह अध्यात्मतत्त्व है परन्तु कवि ने उसे सरल तथा सुबोध भाषा में प्रस्तुत करने में विशेष सफलता प्राप्त की है। श्लोकों में प्रवाह है, नाटक के पात्रों में पर्याप्त सजीवता है[1]।` राजाजीव की यह उक्ति अपनी प्रेमिका जीवन्मुक्ति के सम्बन्ध में कितनी मार्मिक और सरस है —

---

१. संस्कृत साहित्य का इतिहास— बलदेव उपाध्याय, पृ० ६३०

यदा सा तन्वङ्गी पुनरपि पुरेव स्फुटतरं
पुरः प्रादुर्भावं सपदि भजमाना कुतुकतः ।
स्वलावण्योल्लासव्यतिकरपराभूततिमिरा
चिरादुत्सङ्गं मे फलितनिकलङ्गंविरच्येत् ।। [१]

इनके अतिरिक्त अलङ्कारों में विशेषकर शब्दालंकारों का कुशल प्रयोग मिलता है । अनुप्रास की छटा तो सर्वत्र दर्शनीय है । एक उदाहरण द्रष्टव्य है — दधि मधुरं मधु मधुरं क्षीरं मधुरं घृतं च मधुरं तत् । [२] छन्दों में विषम छन्दों के प्रति ही नाटककार की विशेषरुचि प्रकट होती है । जीव के द्वारा पंचम अङ्क में शिवस्तुति पूर्णतः विषम छन्द में वर्णित है । [३] इसके अलावा शिखरिणी[४] मन्दाक्रान्ता[५] शार्दूलविक्रीडित[६] वसन्ततिलका[७] अनुष्टुप, आर्या इत्यादि छन्दों का सफल प्रयोग है । इस नाटक में बसन्ततिलका, अपेक्षाकृत अधिक प्रयुक्त है । प्राकृतिक वर्णन भी अच्छा हुआ है । [८]

इस प्रकार नाटक की भाषा परिमार्जित और शैली परिष्कृत कही जा सकती है । नाटककार में अभिव्यक्ति की प्रतिभा की स्थिति स्वीकार करने में कोई आपत्ति नहीं प्रतीत होती है ।

---

१. जीवन्मुक्तिकल्याणम् — चतुर्थ अङ्क, श्लोक ७ ।
२. वही, द्वितीय अङ्क, पृ० १६
३. वही, अं० ५, पृ० ४८
४. वही , अं० ५, पृ०४८ , श्लोक १५
५. वही, अं० ५, श्लोक २०
६. वही, अं० १, श्लोक ४८, ५०, ५१
७. वही, अं० ५, श्लोक १६
८. वही, अङ्क १, पृ० ११, श्लोक ४०-४१

कुल मिलाकर `जीवन्मुक्ति` की समाप्ति पर यही कहा जा सकता है कि प्रतीक शैली के नाटकों में जो मूलभूत विशेषताएं पहले से चली आ रही थीं उनका सदुपयोग और उनका सन्तुलन करने का प्रयत्न यहां किया गया है। अपनी पूर्ववर्ती परम्परा को इस दृष्टि से नाटककार ने उपजीव्य मानकर उसका भरपूर उपयोग किया है। नाटककार का यह प्रयास स्तुत्य और समीचीत है।

पुरंजनचरितम् का समीक्षात्मक अध्ययन—

प्रतीक शैली की नाट्य-परम्परा में `पुरंजनचरितम्` अपनी विशिष्ट नाट्यशैली के लिए स्मरण किया जाता रहेगा। लघु आकार में होते हुए भी यह नाटक अपनी दार्शनिक विषयवस्तु की गहराई और भागवत-प्रधान वैष्णवभक्ति की प्रतिष्ठा में बहुत ही सफल और पुष्ट है। नाटक में वैष्णवभक्ति के महत्त्व को रोचक नाट्यशैली में प्रयुक्त किया गया है। अपने शोध-प्रबन्ध में डा० सरोज ने `पुरंजनचरितम्` पर विचार करते हुए लिखा है —` इस प्रकार पुरंजन की पौराणिक कथा के रंगमंचीय प्रयोग में प्रबोधचन्द्रोदय की ही प्रेरणा प्रतीत होती है।`[1] हमारी समझ में डा० सरोज की यह स्थापना आंशिक सत्य ही बन सकती है, सम्पूर्ण सत्य नहीं। क्योंकि प्रबोधचन्द्रोदय में न तो पौराणिक कथा प्रसङ्ग ही गृहीत है और न ही मूर्त पौराणिक पात्रों को ही उठाया गया है। इसलिए, चूंकि प्रबोध-चन्द्रोदय भी एक प्रतीक नाटक है और `पुरंजनचरितम्` भी एक प्रतीक नाटक है

---

1. प्रबोधचन्द्रोदय और उसकी हिन्दी परम्परा — पृ० ६७

इसलिए अगर 'पुरंजनचरितम्' पर 'प्रबोधचन्द्रोदय' का कोई प्रभाव माना जा सकता है तो वह है -'पुरंजनचरितम्' का प्रतीक शैली में लिखा जाना । 'पौराणिक कथा के रंगमंचीय प्रयोग में 'प्रबोधचन्द्रोदय' की प्रेरणा' नहीं समझ में आती । यह तो (पौराणिक कथा का रंगमंचीय प्रयोग) नाटककार की मौलिक विशेषता है ।

नाटक की कथा पुराणप्रसिद्ध है । यद्यपि कथा का लिखित रूप तो हमें भागवत के चतुर्थ स्कन्ध में ही प्राप्त होता है [१] लेकिन यह कथा बहुत पहले से जनश्रुति रूप में प्रचारित रही है । कथा का नायक 'पुरंजन' राजा है और इसकी राजधानी दक्षिण पांचाल देश है । श्रीमद्भागवत् में नारद-ऋषि के द्वारा यह कथा दृष्टान्त रूप में कहलवायी गई है । नाटककार ने अपनी तीव्र प्रज्ञा द्वारा इस दृष्टान्त को ग्रहण किया है और उसे ही अभिनय के माध्यम से सर्वसाधारण तक पहुँचाने का प्रयास किया है । इस प्रकार नाटककार को महान् चरित्र के संयोजक और ख्याति प्राप्त कथा के प्रयोगकर्त्ता के रूप में स्मरण किया जाना चाहिए ।

सम्पूर्ण कथा पांच अङ्कों में विभाजित है । उनमें कलात्मक संगठन है । अनेक प्रतीक नाटकों की तरह इसमें कथा की शिथिलता या उसका विस्तार नहीं है । कथा बड़ी ही क्षिप्र गति से अभिव्यंजित हुई है । कथा में भागवत से कहीं कहीं भावसाम्य दीख पड़ता है [२]।

---

१. श्रीमद्भागवतमहापुराणम् -चतुर्थस्कन्ध २५ — २६ अध्याय तक , पृष्ठ २११ से २२१ तक ।

२. अयं दक्षिणपांचालगामी घण्टापथः पुरः ।
इयमुत्तरपांचालमेकपद्युपतिष्ठते ।। १७ ।।
— पुरंजनचरितम् —पृ० १५

राष्ट्रमुत्तरपांचालं याति श्रुतधरान्वितः
" " " "
राष्ट्रमुत्तरपांचालं याति श्रुतधरान्वितः ,श्रीमद्भागवत महापुराणम्, पृ०२१३

चरित्र-चित्रण की दृष्टि से नाटक किसी मौलिक प्रयास को नहीं व्यक्त करता । नाटक के अधिकांश पात्र भागवत् के चतुर्थ-स्कन्ध से ग्रहण किये गए हैं । राजा पुरंजन हो याउसकी पत्नी पुरंजनी अवधूत हो या अविज्ञात लक्षण, वैदर्भी हो या कालकन्यका-प्राय: सभी भागवत में भी वर्णित हैं । इन सब चरित्रों के व्यक्तित्व इस नाटक में भी भागवतानुसारी हैं । कोई विशेष अन्तर नाटककार ने नहीं किया , सिर्फ रूप परिवर्तन के लिए इसकी रचना की है । भागवत में यह कथारूप है । नाटक में उसका रंगमंचीय प्रयोग प्रस्तुत है । इस प्रस्तुतीकरण के लिए कुछ नए पात्रों को समाहित करना आवश्यक ही था जिसे नाटककार ने निभाया । फलत: द्वितिमान, चर, सितपक्ष, वृत्तिमतिका आदि के रूप में उसने नयी पात्र सृष्टि की ।

अभिनय की दृष्टि से नाटक खेलने में कोई विशेष कठिनाई नहीं नहीं है । इसे भी थोड़ी सतर्कता बरतने पर आसानी से अभिनीत किया जा सकता है । नाटक के संवाद छोटे और स्मरण योग्य है किन्तु भाषा का स्तर काफी ऊंचा है जिससे बहुत मामूली अभिनेता उसे ग्रहण नहीं कर सकते ।

---

१. आसीत्पुरंजनो नाम राजा राजन् बृहच्छ्रवा ।
तस्याविज्ञातनामाऽऽसीत्सखाविज्ञातचेष्टित: ।।१०।।
अवधूतसखस्ताभ्यां विषयं याति सौरभम् ।। ४८।।

—श्रीमद्भागवत्महापुराणम्- चतुर्थ, स्कन्ध, अध्याय २५

उपयेमे वीर्यपणां वैदर्भीं मलयध्वज:

< < <

कालकन्यापि बुभुजे पुरंजनपुरं बलात् ।।२।।

< < <

—श्रीमद्भागवतमहापुराणम् —चतुर्थ स्कन्ध, अध्याय, २८

रस की दृष्टि से यह नाटक भी अन्तत: शान्त रस में ही पर्यवसित दीख पड़ता है। यद्यपि बीच में श्रृंगार की भी काफी चर्चा की गई है (पुरंजन और पुरंजनी के शादी के प्रसंग में) परन्तु नाटककार का लक्ष्य नायक और नायिका की शादी मात्र नहीं है बल्कि उसका मुख्य लक्ष्य पुरंजन को विष्णु-भक्ति की ओर आकृष्ट करना है और अन्त में वह अपने इस लक्ष्य में सफल भी होता है। अन्तिम अङ्क में दशों अवतार का वर्णन पूर्ण रूप से भक्तिभाव से युक्त है और भक्ति-भाव शान्त-भावना की प्रथम सीढ़ी कहा जा सकता है। अन्त में जीव के 'स्पृशि प्रोन्मीलन्त्यां दृशि सपदि साक्षात्कृत इति'[१] इस कथन से उसका ब्रह्म के साक्षात्कार रूप होना सूचित होता है और साक्षात्कार के बाद शान्त की स्थिति सम्भव हो सकती है या होती है। अत: इस प्रस्तुत नाटक में शान्त रस ही है।

प्रस्तुत नाटक में साक्षात्कार अवस्था को प्राप्त पुरंजन ही आलम्बन है। वैदर्भी पात्र द्वारा दशावतार का वर्णन, चतुर्थ अङ्क की पूरी विष्णुभक्ति की कथा आदि उद्दीपन विभाव हैं। तृतीय अङ्क में राजा को अपने अन्यपुर प्राप्त करने के लिए, प्रयत्न करना आदि अनुभाव है तथा राजा का मग्न, निमग्न होना संचारीभाव है।

भाषा शैली की दृष्टि से नाटक अन्य प्रतीक नाटकों की तरह ही है। प्रारम्भ में सूत्रधार की युक्ति में बाणभट्टीय गद्यात्मक शैली का प्रयोग किया गया है।[२] तदनन्तर सरल भाषा का प्रयोग है और एक स्थल पर द्वितीय अङ्क में पांचालदेश के वर्णन में काफी क्लिष्ट एवं बाण भट्टीय शैली का प्रयोग (राजा की युक्ति में) दृष्टिगोचर होता है — यत्र व्रततिसुवतिविततिललितकिसलयकरतलकलितमरकतमणिमयवलयरणितमिव — मधुमयमुदितमधुकरनिकरमिलित मदकल कलरवकुलकलकूटकितमिदभीममदयतिरसिकजहृदयमिति ----- इत्यादि[३]

---

१. पुरंजनचरितम्, पृ० ३६

२. वही, पृ० १

३. वही, पृ० १५

इस नाटक में गद्य की अपेक्षा पद्य का अधिक प्रयोग हुआ है। श्लोकों में जयदेव की तरह माधुर्य है – एक उदाहरण द्रष्टव्य है — 'मायारूपविहारी परमाद्भुत-चरितविस्तारी, गोपालीरससाली मुदं सदा दिशतु बनमाली ।[१]

प्रस्तुत नाटक में उपमा, रूपक, अनुप्रास आदि का प्रयोग हुआ है। छन्दों में अधिकांश रूप से शार्दूलविक्रीडित का ही प्रयोग है। पांचवें अङ्क के वैदर्भी (पात्र) की युक्ति (दशावतार वर्णन के सन्दर्भ में) अधिकांशत: शार्दूलविक्रीडित छन्द में है।[२] इसके बाद शिखरिणी का स्थान है। अन्य छन्दों में आर्या आदि का नाम नाममात्र में प्रयोग किया गया है। ' यत्र देशे न सम्मानं न च बन्धुमित्रशिष्ट विशिष्टसन्निधानं तत्र देशे न वस्तव्यमित: ..... ।[३] ' जैसी सूक्तियां भी कहीं कहीं सुप्रयुक्त हैं।

इस प्रकार निष्कर्ष रूप में कथावस्तु, चरित्र-चित्रण रस, भाषा-शैली तथा अभिनेता की दृष्टि से –इस नाटक के सफल प्रयोग में नाटककार का प्रयास स्तुत्य है। यह नाटक एक मिश्र प्रतीक नाटक कहा जायगा, पूर्णत: प्रतीक नाटक नहीं ।

जीवसंजीविनी नाटक का समीक्षात्मक अध्ययन—

'जीवसंजीविनी' प्रतीक-शैली का अन्तिम और महत्त्वपूर्ण तथा पूर्णत: समुपलब्ध नाटक है। नायिका के नाम के आधार पर नाटक का नामकरण किया गया है। आयुर्वेद के सिद्धान्तों एवं जीवन्मुक्ति की बात को प्रतिपादित करना ही नाटक का मुख्य लक्ष्य प्रतीत होता है। नाटक की कथावस्तु का नायक सर्वप्रसिद्ध , सर्वातिशायी जीवदेव है और नायिका प्रसिद्ध संजीविनी

---

१. पुरंजनचरितम्, पृ० ३४

२. वही, पृ० ३०

३. वही, पृ० २६

है परन्तु कुछ संशोधन किए जाने पर अभिनय करना पूर्णतः सम्भव है ।

चरित्र-चित्रण की दृष्टि से नाटक पूर्ण सफल है । इसके चरित्र दार्शनिक मतवाद में उलझे हुए रंगमंच पर नहीं आते । उनमें सजीवता, सरसता, सरलता, एवं सहृदयता का मंजुल सन्निवेश है । पात्रों का चयन भी नवीन ढङ्ग से हुआ है । पात्रों को मुख्य रूप से चार श्रेणियों में विभक्त किया जा सकता है —— अमूर्त, मूर्त, सामान्य और प्ररूप ।

अमूर्त—जीवदेव, वाणी, सत्यप्रिय, ज्ञानसूर्य, शान्ति आदि ।
मूर्त — प्रद्योत, विभावसु आदि ।
प्ररूप— कश्यपभरद्वाजात्रेयाः, चरकसुश्रुतौ आदि ।
साधारण—नट, सूत्रधार आदि

रस की दृष्टि से नाटक में विचिकित्सा अवश्य उत्पन्न होती है । प्रस्तुत नाटक में तीन-तीन विवाह—राजाजीवदेव और संजीविनी का, प्रियदेव और प्रियदेवी का, तथा अन्त में ज्ञानसूर्य और शान्ति का —कराये गये हैं । कहने की बात नहीं है कि जहां इतने विवाह हों वहां शृंगार अवश्य होगा । नायक और नायिका का प्रेमसंलाप, एक दूसरे का उपवन आदि में मिलना —ये सभी बातें शृंगार रस के उद्दीपन विभाव हैं । परन्तु इन सारी बातों के अतिरिक्त यह स्मरणीय है कि नाटककार का उद्देश्य-नायक , नायिका का विवाह सम्बन्ध मुख्य नहीं है वरन् मुख्य प्रतिपाद्य शारीरिक-स्वास्थ्य एवं मानस-स्वास्थ्य के माध्यम से जीवन्मुक्ति की प्राप्ति ही है । जैसा कि संजीविनी के वाक्यों से स्पष्ट है — 'तर्हि जीवन्मुक्तौ कथं भान........ ।'[1] फिर अन्त में जीवन्मुक्ति के साधन के रूप में आयुर्वेद का महत्त्व भरतवाक्य से भी स्पष्ट है — 'आयुर्वेद परप्रभावमहिमा जेगीयतां भूतले ।'[2] और अन्त में

---

१. जीवसंजीविनी, पृ०
२. वही, पृ०

ज्ञान सूर्य तथा शान्तिप्रभा का मिलना शान्त रस को प्रतिस्थापित करने के लिए एक प्रमाण है।

इस शान्त रस का आलम्बन 'ज्ञानसूर्य' है। पंचम अङ्क में जीव-संजीविनी का जीव को वनवास की शिक्षा देना, वनवास को ही जीवन्मुक्ति का परम साधन बतलाना आदि उद्दीपन विभाव है। ज्ञानसूर्य का अभिषेक आदि अनुभाव है। राजाजीव का चिन्ता, हर्ष, शोक आदि संचारी भाव है।

भाषा-शैली की दृष्टि से यह नाटक पूर्ण सफल है। यह नाटक सरल, सुबोध, मार्मिक, एवं हृदयावर्जक शैली में लिखा गया है। शिखरिणी छन्द का पांचवें अङ्क में अधिक प्रयोग है।[१] इसके अतिरिक्त मन्दाक्रान्ता,[२] शार्दूलविक्रीडित,[३] इन्द्रवज्रा,[४] स्रग्धरा,[५] शालिनी,[६] आदि का यथोचित सन्निवेश किया गया है। अलङ्कारों और सूक्तियों से भी शैली अलंकृत करने का प्रयास किया गया है।

अन्तत: यह कहने में हमें कोई आपत्ति नहीं होगी कि 'जीवसंजीविनी' कथावस्तु, पात्रचयन, रस, भाषा- शैली तथा अभिनेयता आदि सभी दृष्टियों से पूर्णत: सफल कृति है।

इस प्रकार प्रमुख प्रतीक नाटकों में सन्धि योजना को विश्लेषित कर मैंने प्रस्तुत किया है। कुछेक अत्यन्त प्रसिद्ध नाटकों की सन्ध्यङ्ग योजना

---

१. शिखरिणी, अङ्क ५, श्लोक ३,४,५ आदि।

२. मन्दाक्रान्ता, अङ्क १, श्लोक ६, एवं अंक १, श्लोक १० आदि

३. शार्दूलविक्रीडित, अंक ५, श्लोक १८, अंक १, श्लोक ८, अंक २, श्लोक १६ अंक ३, श्लोक ६।

४. इन्द्रवज्रा, श्लोक २, अंक ५, श्लोक ७ अंक १५

५. स्रग्धरा, श्लोक ५, अंक १, श्लोक १८, अंक ५, श्लोक १६, अंक २, श्लोक ६, अंक ३।

६. शालिनी, अंक २ श्लोक ३

को भी मैंने प्रस्तुत किया है। इससे रूपकों की रचना से सम्बद्ध नाट्यशास्त्र और दशरूपकादि ग्रन्थों के द्वारा विहित नियमों का इन नाटकों में कहां तक और किस प्रकार पालन किया गया है इसका स्वरूप स्पष्ट हो जाता है। इन नाटककारों ने आचार्यों द्वारा निर्दिष्ट सन्धि संयोजन को सावधानी से प्रस्तुत किया है। अत: इतिवृत्त के उपस्थापन और रचना के तकनीकी विधान में शास्त्रीय दृष्टि से कोई शैथिल्य नहीं है। भले ही रङ्गमंच पर प्रस्तुत करने की दृष्टि से ये नाटक सर्वथा उपयुक्त और निर्दोष न ठहरते हों।
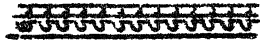
पंचम अध्याय

प्रतीक नाटकों की दार्शनिकता

अध्याय — ५

प्रतीक नाटकों की दार्शनिकता

प्रतीक नाटकों के अनुशीलन से यह स्पष्ट हो चुका है कि इनका कथानक जीवन में घटने वाली बाह्य घटनाएं नहीं हैं बल्कि व्यक्ति के आन्तरिक घात-प्रतिघात का व्यापार है। मनोभावों का वैविध्यपूर्ण संघर्ष, इस संघर्ष की पृष्ठभूमि, इसके समग्र उपादान, मानव के जीवन-क्रम में इस संघर्ष का प्रतिफल तथा इस संघर्ष को प्रभावित करने वाली विचारधाराएं इन नाटकों के प्रमुख वर्ण्य विषय हैं। इन प्रभावशालिनी विचार धाराओं का परस्पर विरोध तथा खण्डन-मण्डन भी इन नाटकों में पूरे अभिनिवेश के साथ प्रस्तुत किया गया है। अत: स्वाभाविक ही है कि ये नाटक दार्शनिक जगत् का प्रतिनिधित्व करते हुए प्रतीत होते हैं। इसलिए इन नाटकों का अध्ययन बिना इनके 'दार्शनिक विवेचन' के पूरा ~~नहीं~~ नहीं माना जा सकता है।

वैसे तो सामान्य नाटकों में भी जो कथाएं रहती हैं, उनसे मानव की आभ्यंतर प्रकृति का सूक्ष्मेक्षण होता है। उन नाटकों के भी पात्रों का मानसिक संघर्ष विविध रूपों में अभिव्यक्त होता है। उन पात्रों की मन:स्थितियों पर सामाजिक एवं दार्शनिक विचारधाराओं का प्रभाव भी परिलक्षित होता है। उन विचारधाराओं की विरोधिता नाटक-गत विशिष्ट मानव समुदाय या वर्गों तथा व्यक्तियों पर प्रभाव डालने की दशा में उनकी पारस्परिक प्रतियोगिता का भी स्पष्ट अंकन होता है। नाटककारों की ~~इसी~~ यही विशेष मतवाद के प्रति अभिरुचि भी नाटक के अनेक अंशों से साफ झलकती

है। फिर भी उन नाटकों को हम दार्शनिक -नाटक इस अर्थ में नहीं कह सकते हैं जिस अर्थ में प्रतीक नाटकों को दार्शनिक कहा जाता है।

भवभूति के 'उत्तर रामचरित' में अद्वैत वेदान्त-सिद्धान्त में प्रयुक्त विवर्त के स्वरूप का निर्वचन हुआ है। 'शाकुन्तल' के भरतवाक्य में नील-लोहित शिव की कृपा से मोक्ष प्राप्ति की कामना की गयी है। मृच्छ-कटिक के मंगलाचरण श्लोक में योग शास्त्रोक्त शिव की समाधि का चित्रण किया गया है। यही नहीं प्राय: सभी संस्कृत नाटकों के मंगलाचरणों अथवा भरतवाक्यों में, अथवा फिर फुटकर वाक्यों में किसी पात्र के मुख से कुछ न कुछ भक्ति विषयक उपासना सम्बन्धी या दार्शनिक तत्त्वों की बात कही ही गयी है। पर इतने के बल पर इन नाटकों को न दार्शनिक कहा जा सकता है और न इनसे किसी दार्शनिक संदेश की आशा की जा सकती है। प्रतीक नाटकों की स्थिति इससे बिलकुल भिन्न है। वहाँ पहले वाक्य से लेकर अन्तिम वाक्य तक दार्शनिक सिद्धान्तों का सुरुचिपूर्ण वातावरण उपस्थित रहता है। मानव के मनोविकार, बुद्धि के विविध विलास एवं प्रवृत्तियों के प्रकार अपने व्यक्तित्वों के अन्वेषण में लगे दीख पड़ते हैं। उनकी सम्भावित गतिविधियाँ ही कवि के कौशल का सहारा लेकर अपने पूर्ण परिवेश में प्रकट होती हैं। भक्ति और साधना अपने स्वरूप का प्रदर्शन करने में निरन्तर व्यस्त रहती हैं। विभिन्न दार्शनिक प्रस्थान अपनी कहानी कहते हैं। कवि के द्वारा दिये गए व्यक्तित्व के बल पर अपने अभीष्ट सिद्धान्तों का प्रति-पादन करते हैं। इतना ही नहीं इन मतवादों के संघर्षों का विरोध मानवीय संघर्षों के ढांचे में ढल कर सहृदयों के समक्ष प्रस्तुत होता है। ये सिद्धान्त विरोधिता-प्रदर्शन के भौतिक उपादान तीर-तलवार को धारण करके अपनी-अपनी सत्ता का साधन करते हुए चित्रित किए गए हैं। इन नाटकों में मोक्ष की प्राप्ति साधक को अन्तत: करायी गयी है। इस प्रकार संस्कृत नाटक जो अभी तक 'त्रिवर्ग साधनं नाट्यम्' के रूप में ही अपने अस्तित्व की सार्थकता सिद्ध करते थे — अब अपनी उपयोगिता या महत्ता में एक कदम और आगे बढ़ कर 'चतुर्वर्ग साधन' क्षमता का उद्घोष करते प्रतीत होते हैं।

साधारण शैली के नाटकों में दार्शनिक ज्ञान का छिट-पुट प्रदर्शन संयोग की बात है —या फिर कवि कहीं कहीं पर अपने विचारों के मौलिक रूप का प्रकाशन करते हुए इन दार्शनिक सत्यों का उद्घाटन कर जाता है। कहीं अपने भक्ति भाव के प्रवाह में इन तथ्यों में से किसी भाग का वर्णन इसके द्वारा हो जाता है। मंगलाचरण या भरतवाक्य में इष्टदेवों की आराधना प्रधानतत्त्व होने के कारण कवि के दार्शनिक मतवाद का स्वरूप मुखरकर जाती है। परन्तु इन प्रतीक नाटकों में तो कथा का सारा परिपेक्ष्य ही दार्शनिक होता है। कथा भी लौकिक जीवन की न होकर या तो किसी दार्शनिक मतवाद के ऐतिहासिक उत्थान काल से लेकर उसके विकास की एक काव्यात्मक गाथा होती है, जिसमें विभिन्न विरोधी सिद्धान्तों की सारी प्रतियोगितात्मक कार्यवाही का उपन्यास हो जाता है। या फिर किसी अभीष्ट मतवाद के प्रवर्त्तक के जीवन, साधनकाल एवं प्रसिद्धि परम्परा का संघर्षणात्मक अथवा घटनात्मक प्रदर्शन ही नाटक का कथानक बन जाता है। किसी किसी प्रतीक नाटक में ~~ऐसी~~ धार्मिक एवं सामाजिक मूल्यों के ह्रास को ही मूलाधार बनाकर समाज की दुर्दशाओं का चित्रण करते हुए उन मूल्यों की ही स्थापना की जाती है। ये मूल्य भी दार्शनिक कोटि के होते हैं। इनके नाटकीय घात-प्रतिघात भी काव्यात्मकता के संस्पर्श से चमत्कारपूर्ण एवं रसास्वादन कराने की क्षमता की सम्भावनाओं से परिपूर्ण होते हैं। कभी कभी रोगों और व्याधियों के प्रतीकों से शारीरिक स्वास्थ्य की पृष्ठ-भूमि का स्वीकरण भी किया गया है जिससे वैद्यकशास्त्र का काव्यात्मक ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है साथ ही उन प्रतीकों में संक्रान्त या समारोपित मानवीयता के फलस्वरूप साधारणीकरण व्यापार के माध्यम से दर्शकों एवं पाठकों में रसानुभूति का भी प्रयास सफल होता है। इसीलिए तो इन तथ्यों को काव्यात्मक भूमिकाएं प्रदान की जाती हैं। भक्ति-भावना — जो न केवल दार्शनिक मतवादों के स्वरूपों को चरम अन्विति प्रदान करती है प्रत्युत स्वत: मोक्षसाधिका के रूप में स्वीकार की गयी है — इनमें से अनेक प्रतीक

नाटकों की वर्ण्य विषय बनती है। दार्शनिक क्षेत्र में भक्ति साधना एक अनिवार्य विषय है। कम से कम भारतीय दार्शनिक विचारधारा में तो भक्ति का अनिवार्य एवं अपरिहार्य स्थान है। अत: इन प्रतीक नाटकों की दार्शनिकता न केवल शुष्क ज्ञानक्षेत्र पर्यवसायिनी है इसके परिवेश में शरीर रचना मनोविज्ञान नैतिकता, दार्शनिक परम्पराओं का विकास-क्रम, भक्ति भावना और सामाजिक मूल्यों की विचारणा सभी कुछ आ जाता है।

विचार किया जाय तो लगता है मानों ये नाटक दार्शनिक अनाख्यान के सुरुचिपूर्ण, सरल, स्पष्टकारक एवं रसपेशल नमूने हैं। शुष्क दार्शनिक चिन्तन की अवतारणा रस स्निग्ध ढांचे में की जाये तो उसके प्रति सामान्य सहृदयों का आकर्षण बढ़ता है, मनोयोग प्राप्त होता है और शास्त्र की स्पष्टतरता एवं बोधगम्यता बढ़ती है।

जिन चरम सत्यों का भान कतिपय प्रतिभा सम्पन्न, तर्कपटु तथा विचक्षण विद्वानों की गोष्ठी तक सीमित था उनको साहित्य की परिधि में बांध कर, काव्यकला से संगुंफित करके रसभीनी मनोवृत्ति के साथ साधारण जन-मानस पर अवतारित कराने का प्रतीक-नाटक-रचयिताओं का पावन-सारस्वतव्रत कठिन, दुरूह, तथा जटिल भले ही कहा जाये किन्तु उसकी स्तुत्यता एवं श्लाघनीयता में भला क्या संदेह हो सकता है? यदि इन नाटकों की रचना का प्रयोजन यही था तो सचमुच इसे लोकहित की भावना से प्रेरित एवं परमआदरणीय समझा जाना चाहिए। काव्यात्मक रचनाओं के प्रयोजन पर विचार करते समय अनेक बातें सामने आती हैं। बहुत सम्भव है इन रचनाओं का उद्देश्य या प्रयोजन ऊपर बताये गए प्रयोजन से भिन्न है तो उसका भी विचार करने के बाद ही इतने बड़े यश का भागी इन रचयिताओं को माना जा सकता है।

काव्य प्रणयन में कुछ तो सामान्य प्रयोजन हैं जो हर प्रकार की अच्छी

काव्य रचना में समानरूप से प्रेरक बनते हैं जिनके लिए कवि काव्य-रचना में प्रवृत्त होता है। आचार्य मम्मट के शब्दों में वे प्रयोजन यश, अर्थ प्राप्ति, व्यवहारज्ञान, दुरितनाशन एवं सद्य:परमानन्द प्रदान और कान्तासम्मितोपदेश होते हैं। परन्तु ये प्रयोजन सभी अच्छी काव्यकृतियों में समानरूप से होते हैं। किसी विशेष प्रकार की रचना में कौन-सा विशेष प्रयोजन है ? इस आधार पर यहां विवेचन करना है कि प्रतीक नाटकों की इस सर्वांगीण दार्शनिकता में आखिर कौन सा विशेष प्रयोजन हो सकता है ? ये सामान्य प्रयोजन तो यहां भी हैं ही। उनके सम्बन्ध में किसी को सन्देह थोड़े है।

इस विचारणा में बुद्धिपटल पर इसके अतिरिक्त कोई बात उतरती ही नहीं है कि वह युग दार्शनिकता का था। सभी भारतीय दर्शन अपने-अपने सूत्र, भाष्य एवं वार्तिकों से समृद्ध वाले कलेवर हो चले थे और वेदान्त दर्शन जिस पर भारतीय जनमानस अटूट श्रद्धा रखता था उसकी विभिन्न धाराएं प्रवाहित होने लगी थीं। शास्त्रार्थों की भरमार थी। अत: दुरूह दार्शनिकता को सर्वसुलभ बनाने के लिए तथा उसे काव्यात्मकता में ढाल कर सरस बनाने के बिचार से सदाम साहित्य प्रवर्तकों ने प्रतीक नाटकों की रचना की होगी। इस प्रकार दर्शन ने साहित्य का या काव्य का जामा पहना होगा और एक नए प्रकार का साहित्य संस्कृत में लब्धप्रसर हुआ होगा। दर्शन ज्ञान ब्रह्मानन्द देता है और साहित्य ब्रह्मानन्द सहोदर का अनुभावक होता है। प्रतीक नाटकों ने दार्शनिकता की पूंजी और साहित्यिकता के माध्यम से उभय-विध आनन्दों का द्वार सहृदय पाठकों के लिए उन्मुक्त किया। इस विधान में ये नाटक कहां तक सफल हुए हैं इसका विवेचन इसी अध्याय के अन्त में प्रस्तुत करने की चेष्टा की जायगी। इसके पहले हम इन नाटकों के दार्शनिक सन्देशों का एकैकश: विचार करना अधिक वांछनीय समझते हैं। तभी इनकी सफलता आंकी जा सकती है और तभी इस अंकन का मूल्य भी है।

प्रबोधचन्द्रोदय—

'प्रबोधचन्द्रोदय' नाटक के मङ्गलाचरण[1] से ही नाटक की दार्शनिकता का स्पष्ट संकेत मिलने लगता है कि नाटककार 'अद्वैतवेदान्त' सिद्धान्त का मानने वाला है। उसकी दृष्टि में यह सारा संसार अज्ञान के कारण ही भासित होता है जैसे कि अज्ञान से दोपहर की प्रखर रविरश्मियों में जलराशि भासित होती है। तत्वज्ञान हो जाने पर यह सकलविश्व उस तरह तिरोहित हो जाता है जैसे माला में प्रतीत होने वाले सर्प का फण माला के ज्ञान हो जाने पर स्वत: विलुप्त हो जाता है। इस प्रकार सच्चाज्ञान होने पर द्वैत की प्रतीति नहीं होती। यहां पर आचार्य गौणपाद की पंक्ति 'ज्ञाते द्वैतं न विद्यते'[2] की प्रतिध्वनि स्पष्ट सुनाई पड़ती है। परमतत्व एक नितान्त निर्मल, स्वात्मानुभूतिरूप, स्वयं प्रकाश, आनन्दस्वरूप तेज ही है और तदरिक्त कुछ नहीं है। इस प्रकार एकमात्र ब्रह्म की सत्ता, संसार का मिथ्यात्व और ब्रह्म का संसार तथा जीवादि रूप में भासित होना यह संक्षेप में बताए गए 'सत्यं ब्रह्म, जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैवनापर:' का ही प्रतिपादन है।

इस नाटक में अद्वैत वेदान्त के तत्त्वों का ही प्रतिपादन किया गया है। इसके नाम से ही स्पष्ट है कि इसका लक्ष्य 'प्रबोधचन्द्र का उदय होना' है। इस प्रबोधरूपी चन्द्र के उदय की स्थिति अथवा प्रबोधोत्पत्ति विवेक के

---

१. मध्याह्नार्कमरीचिकास्विव पय:पूरो यदज्ञानत:
खं वायुर्ज्वलनो जलं क्षितिरिति त्रैलोक्यमुन्मीलति।
यत्तत्त्वं विदुषां निमीलति पुन: स्रग्भोगिभोगोपमं
सान्द्रानन्दमुपास्महे तदमलं स्वात्मावबोधं मह:॥

— प्रबोधचन्द्रोदय, अङ्क १, श्लोक १

२. माण्डूक्यकारिका।

द्वारा उपनिषद्देवी से होती है।[१] इससे सिद्ध यह है कि इस ग्रन्थ का दार्शनिक आधार 'उपनिषद्' है। इतने मात्र से 'उपनिषदरूपी प्रमाण' वाले वेदान्त दर्शन की प्रतिपाद्यता स्फुट हो जाती है। और त्रैलोक्योन्मीलन के मूल में अज्ञान तथा तत्वज्ञान में उसके मालासर्पफणावत्निमीलन की प्रतिपादन-प्रणाली को देखते ही लगता है कि यह वेदान्त भी अद्वैत वेदान्त ही है। जिसके मूल द्रष्टा एवं व्याख्याता के रूप में आचार्य गौडपाद एवं शंकर आदि प्रथित हैं। आइए देखें कि नाटककार ने इस 'अद्वैतवेदान्त' का क्या स्वरूप निर्धारित किया है?

तत्त्व विचार—

नाटककार के मत में अन्तिम तत्त्व एक है, वह स्वात्मावबोध रूप एवं तेजोमात्र है, चिदानन्दमय एवं निरंजन है[२]। वह सदा एक रस अज

---

१. .... सा खलु विवेकेनोपनिषद्देव्यां प्रबोधचन्द्रेण भ्रात्रा समं जनयितव्या।

—प्रबोधचन्द्रोदयम्, अङ्क १, पृ० २६

२.

< < <

< < <

चिरं चिदानन्दमयो निरंजनो

जगत्प्रमुदीनदशामनीयत।।

— प्रबोधचन्द्रोदयम्, अङ्क १, श्लोक २४

एवं अविकारी है, निष्कल है निर्मल है और अनुदितानस्तप्रकाश है।[१] वही आत्मतत्त्व है। इस तत्त्व के सम्यग्ज्ञान के अतिरिक्त मुक्ति का कोई मार्ग नहीं है। यही ब्रह्म ईश्वर कहलाता है जब यह भासमान संसार इसके ईक्षण से माया के द्वारा सृष्ट जैसा होने लगता है।[२] इसी महेश्वर की माया से मन की उत्पत्ति और उसी से यह सारा त्रैलोक्य उत्पन्न होता है[३]। यह माया अनादि है। इसकी यह सारी सृष्टि सच्ची नहीं है केवल स्वप्नवत् है[४] इसी माया के संघ से यह तत्त्व "पुमान्" या जीव कहलाने लगता है

---

१. शान्तं ज्योतिः कथमनुदितानस्तनित्यप्रकाशं
  विश्वोत्पत्तौ व्रजति विकृतिं निष्कलं निर्मलं च।
शश्वन्नीलोत्पलदलरुचामम्बुवाहावलीनां
  प्रादुर्भावे भवति नभसः कीदृशो वा विकारः ॥
   —प्रबोधचन्द्रोदयम्, अङ्क ६, श्लोक २४

२. अथः स्वभावादचलं बलाच्चल-
  त्यचेतनं चुम्बकसंनिधाविव।
तनोति विश्वेक्षितुरीक्षितेरिता
  जगन्ति मायेश्वरतेयमीशितुः ॥
   — प्रबोधचन्द्रोदयम्, अङ्क ६, श्लोक १६

३. पुंसः सङ्गसमुज्झितस्य गृहिणी मायेति तेनाप्यसा-
  वस्पृष्टापि मनः प्रसूय तनयं लोकानसूत क्रमात्।
तस्मादेव जनिष्यते पुनरसौ विद्येति कन्या यया
  तातस्ते च सहोदराश्च जननी सर्वं च भक्ष्यं कुलम् ॥
   —प्रबोधचन्द्रोदयम्, अङ्क १, श्लोक १६

४. जातोऽहं जनको ममैष जननी क्षेत्रं कलत्रं कुलं
  पुत्रा मित्रमरातयो वसु बलं विद्याः सुहृद्बान्धवाः।
चित्तस्पन्दितकल्पनामनुभवन्विद्वानविद्यामयीं
  निद्रामेत्य विघूर्णितो बहुविधान् स्वप्नानिमान्पश्यति ॥
   —प्रबोधचन्द्रोदयम्, अंक १, श्लोक २८

और माया के ही प्रभाव से अपने आपको उत्पन्न और सांसारिक पिता, पुत्र, मित्र शत्रु आदि स्वरूपों में बंधा हुआ समझता है जबकि वह न कभी उत्पन्न हुआ और न कभी किसी प्रकार बंधा हुआ है तथा न ही ब्रह्मतत्त्व से किसी तरह भिन्न ही है।[१] उसकी ब्रह्म से भिन्नता केवल अनादि माया के कारण प्रतीत होती है। जीव ब्रह्म से प्रतिबिम्ब की भांति अलग प्रतीत होता है। उससे अलग वह है ही नहीं। 'यह उसका अंश है' यह भी नहीं कहा जा सकता। प्रथम अङ्क में सूत्रधार के द्वारा चेदिपति की स्तुति परम्परा के समय कुछ पुरुषों को 'भगवन्नारायणांश समुद्भूत'[२] कहने पर भी यह न समझ लेना चाहिए कि जीव और ब्रह्म का सम्बन्ध अंशांशिभाव का है। इस प्रकार के सम्बन्ध को अद्वैतवेदान्त में नहीं स्वीकार किया गया है। नटी को समझाने के लिए प्रारम्भ में कहे गए शब्द को नाटककार का अभिमत न समझ बैठना चाहिए क्योंकि षष्ट अङ्क में पुरुष, विवेक और उपनिषद् के संलाप के बीच 'तत्त्वविचार' का प्रतिपादन करते हुए प्रतिबिम्ब के माध्यम से दोनों को एक ही तत्त्वविचार कहा गया है।[३] प्रबोधोदय होने पर पुरुष स्वयं अनुभव करता

---

१. एकोऽपि बहुधा तेषु विच्छिन्नेव निवेशितः।
स्वचेष्टितमथो तस्मिन्विदधाति मणाविव ।।
—प्रबोधचन्द्रोदयम् , अंक १, श्लोक २८

२. प्रबोधचन्द्रोदय, अंक १, पृ० ११

३. असौ त्वदन्यो न सनातनः पुमान्
भवान्न देवात्पुरुषोत्तमात्परः।
स एष भिन्नस्त्वदनादिमायया
द्विधेव बिम्बं सलिले विवस्वतः ।।
—प्रबोधचन्द्रोदयम्, अंक ६, श्लोक २५

हुआ कहता है कि 'विश्वात्मा स्फुरतिविष्णु रहं स एष: ।'[1] अंशांशिभाव मानने वाले विशिष्टाद्वैत आदि सिद्धान्त वाले जीव ही विष्णु हैं यह कभी स्वीकार नहीं कर सकते ।

आत्मतत्त्व के माया सम्पर्क से मन और संसार की जो उत्पत्ति कही गयी है भले ही वह मिथ्या हो, तुच्छ हो जैसा कि सिद्ध किया जा चुका है किन्तु उस तत्त्व का माया से सम्पर्क होने पर उस तत्त्व की असंगता कहां रही ? इस प्रश्न को शान्त करने के लिए नाटककार जागरूक है इसीलिए उसने प्रथम अङ्क के उन्नीसवें श्लोक में ही 'पुंस: सङ्गसमुज्झितस्य गृहिणी मायेति तेनाप्यसौ' कह रखा है। मोक्ष साधनरूप में 'प्रबोधचन्द्रोदय' ही स्वीकृत हुआ है। उपासना पद्धति का विनियोग विद्या और प्रबोधचन्द्रोदय को उत्पन्न कराने मात्र में है । उपनिषद् में विवेक से ये दोनों उत्पन्न हो सकते हैं । विष्णुभक्ति से आदिष्ट निदिध्यासन यही स्थिति उत्पन्न कराने में सहायक बनता है।[2] विद्या को मन के हवाले किया गया जो सपरिवार मोह को ग्रस्त करती हुई अन्तर्हित हो जाती है और पुरुष को 'प्रबोधोदय' प्राप्त होता है।[3] जोकि आत्मतत्त्व का निर्विकल्पक साक्षात्कार रूप है। बस अब क्या है, पुरुष को विघटित तिमिर पटल प्रभात की अनुभूति होने लगी वह

---

१. मोहान्धकारमवधूय विकल्पनिद्रा-
    मुन्मथ्य कोऽप्यजनि बोधतुषाररश्मि: ।
  श्रद्धाविवेकमतिशान्तियमादिकेन
    विश्वात्मक: स्फुरति विष्णुरहं स एष: ।।
      — प्रबोधचन्द्रोदयम् , अंक ६, श्लोक ३०

२. प्रबोधचन्द्रोदय, अंक ६, पृ० २३६

३. उद्दामद्युतिदामभिस्तडिदिव प्रद्योतयन्ती दिश:
    प्रत्यग्रस्फुटदुत्कटास्थि मनसो निर्भिद्य वक्षःस्थलम् ।
  कन्येयं सहसा समं परिकरैर्मोहं ग्रसन्ती भज-
    त्यन्तर्धानमुपैति चैकपुरुषं श्रीमान्प्रबोधोदय: ।।९
      — प्रबोधचन्द्रोदय, अंक ६, श्लोक

जीवन्मुक्त हो गया । " स्वायंभुव मुनि " हो गया[1] वह नीरजस्क सदानन्द पद में निवेशित हो गया । विशिष्टाद्वैतादि वेदान्तीदर्शन जीवन्मुक्ति नहीं स्वीकार करते । शांकर वेदान्त में यह स्पृहणीय स्थिति सर्वथा स्वीकृत हुई है । यहां पुरुष " शान्तं ज्योतिरनन्तमन्तरदितानन्द: समुद्योतते "[2] पद को प्राप्त हो जाता है ।

साधनक्रम—

अद्वैतमतानुसारिणी तत्त्व व्याख्या प्रस्तुत करने के साथ साथ आचार्य कृष्ण मिश्र ने साधना मार्ग की प्रशस्त प्रस्तावना भक्ति के द्वारा वर्णित की है । तत्त्वज्ञान के लिए भक्ति मार्ग का ही अवलम्बन करना चाहिए । इस मत की पुष्टि करते हुए उन्होंने विष्णुभक्ति का अवलम्बन लिया है । मोक्ष-साधनाक्रम में विष्णुभक्ति का प्रबल संयोग है । यह विष्णुभक्ति श्रद्धा और धर्म की रक्षा करती है ।[3] इस साधनाक्रम के प्रथम स्तर को अभिव्यक्त करते हुए

---

१. सङ्गे न केनचिदुपेत्य किमप्यपृच्छन्
गच्छन्नतर्कितफलं विदिशं दिशं वा ।
कान्तो व्यपेतभयशोककषायमोह:
स्वायंभुवो मुनिरहं भवितास्मि सद्य:

—प्रबोधचन्द्रोदयम्, अङ्क ६, श्लोक ३१

२. प्रबोधचन्द्रोदयम्, अङ्क ६, श्लोक ३०

३. मैत्री — श्रुतं मया मुदितायाः सकाशाद्यथा महाभैरवीसङ्गसंभ्रमाद्भगवत्या विष्णुभक्त्या परित्राता प्रियसखी श्रद्धेति । तदुत्कण्ठितेन हृदयेन प्रियसखीं श्रद्धां कदा प्रेक्षिष्ये ।

—प्रबोधचन्द्रोदय, पृ० १३१

नाटककार यह प्रदर्शित करता है कि मानव के जो मोहादि दुर्गुण उसे आध्यात्मिक उन्नति की ओर अग्रसर नहीं होने देते उन्हें पराजित करने के लिए भक्ति से अनुप्राणित श्रद्धा और विवेक तथा शान्ति, मैत्री, मुदिता एवं उपेक्षा आदि वृत्तियाँ कार्यरत होती हैं। द्वितीय स्तर पर अनिश्चित एवं भ्रान्ति की संभावना वाले मन को कल्याणमार्ग पर स्थिर रखने के लिए विष्णुभक्ति वैयासिकी सरस्वती के अमृतोपम उपदेशों की व्यवस्था करती है।[१] इससे मननिवृत्ति की ओर अग्रसर होता है साधनक्रम के तीसरे स्तर पर निवृत्तिप्राप्तमन ब्रह्म पुरुष तत्त्वज्ञान के योग्य बनता है। विष्णुभक्ति उपनिषद् को पुरुष के समीप लाकर विवेक के साथ तत्त्वमसिका उपदेश देने की अनुमति देती है।[२] उपदेश ग्रहण के पश्चात् वह मनन करना प्रारम्भ करता है। चौथे एवं अन्तिम स्तर पर निदिध्यासन की कार्यवाही होती है। वह भी विष्णुभक्ति से आदिष्ट होकर पुरुष में विद्या के द्वारा अज्ञानान्धकार का नाश तथा प्रबोध के उदय से अलौकिक ज्योति रूप ब्रह्मानन्द का अनुभव कराता है।[३] साधकों को आत्मसाक्षा-

---

१. सरस्वती — प्रेषितास्मि भगवत्या विष्णुभक्त्या। यथा 'सखि सरस्वती, गच्छापत्यव्यसनखिलस्य मनःप्रबोधनाय। यथा च तस्य.... ।

— प्रबोधचन्द्रोदय, अंक ४, पृ० १८३-८४

२. विवेकः — अयमुच्यते —

एषोऽस्मीति विविच्य नेतिपदतश्चित्तेन सार्धं कृते
तत्वानां विलये चिदात्मनि परिज्ञाते त्वमर्थे पुनः।
श्रुत्वा तत्त्वमसीति बाधितभवध्वान्तं तदात्मप्रभं
शान्तं ज्योतिरनन्तमन्तरुदितानन्दः समुद्द्योतते।।

—प्रबोधचन्द्रोदय, अंक ६, पृष्ठ२३५, श्लोक २७

३. मोहान्धकारमवधूय विकल्पनिद्रा-
मुन्मथ्य कोऽप्यजनि बोधतुषाररश्मिः।
श्रद्धाविवेकमतिशान्तियमादिकेन
विश्वात्मकः स्फुरति विष्णुरहं स एषः।।

— प्रबोधचन्द्रोदयम, अंक ६, श्लोक ३०

त्कार होता है वह कृतकृत्य होता है और विष्णु-भक्ति के प्रति अपनी कृतज्ञता का प्रकाशन करता है।[१]

इस प्रकार नाटककार ने तत्त्वज्ञान एवं विष्णुभक्ति का सुन्दर समन्वय नाटकीय ढंग से प्रस्तुत किया है। इस नि:श्रेयस साधना में विष्णुभक्ति के अतिरिक्त वैयासिकी सरस्वती एवं उपनिषद् आदि भी उच्चकोटि के सहयोग देने वाले व्यक्तितत्त्व (अमूर्त) हैं। ब्रह्मानन्द की अनुभूति ही प्रबोधोदय है, यही साध्य है, यही मानव की आध्यात्मिक सिद्धि है ।

विरोधी मतवाद—

वेद विरोधी अर्थात् अवैदिक दार्शनिक सिद्धान्तों के आचार्य कृष्ण मिश्र कट्टर विरोधी थे। इस नाटक में इसीलिए उन्होंने चार्वाक, जैन, बौद्ध और सोमसिद्धान्त को महामोह का किंकर कहा है।[२] और दिखाया है कि किस प्रकार वे विवेक का विरोध करने में प्रयत्नशील रहते हैं। इसीलिए महामोह के पराजित एवं विनष्ट हो जाने पर उन्हें देश देशान्तर में निर्वासित करने का वर्णन किया गया है।[३]

---

१. देव्या विष्णुभक्तेः प्रसादात्किं नाम दुष्करम्। (इति पादयोः पतति)

—प्रबोधचन्द्रोदय, पृ० २५० अंक ६

२. भो इदं मया गणितेन ज्ञातम्। यत् सर्वेऽपि वयं महामोहस्य किंकराः ।

—प्रबोधचन्द्रोदय, अंक ३, पृ० १२७

३. तस्मिन्नेवातिमहति महादारुणे सङ्ग्रामे परापरपक्षविरोधतया पाषण्डागमैरग्रेसरीकृतं लोकायतं तन्त्रमन्योन्यसैन्यविमर्दैर्नष्टम्। अन्ये तु पाषण्डागमा मूलनिर्मूलतया सदागमार्णवप्रवाहेण पर्यस्ताः। सौगतास्तावत्सिन्धुगान्धारपारसिकमागधान्ध्रहूणवङ्गकलिङ्गादीन्म्लेच्छप्रायान्प्रविष्टाः। पाषण्डदिगम्बरकापालिकादयस्तु पामरबहुलेषु पांचालमालवाभीरावर्त वर्त्तसागरानूपेषु सागरोपान्ते निगूढं संचरन्ति। न्यायाद्यनुगतमीमांसयावगाढप्रहारजर्जरीकृता नास्तिकतर्कास्तेषामेवागमानामनुपथ प्रयाताः

— प्रबोधचन्द्रोदयम्, अंक ५, पृ० १७७-७८

तर्क-विद्या एवं मीमांसादि पक्षों को भी बहुत यथार्थ रूप से अंकित करने की चेष्टा की गयी है। पहले तो सम्मिलित रूप से ये मतवाद भी महामोह को पराजित करने में एकमत रहते हैं । तदनन्तर उपनिषद् की यात्रा के प्रसंग में इनकी भी आवश्यक एवं वांछनीय भर्त्सना करके निराकृति करा दी जाती है।[१] इस प्रकार अद्वैत वेदान्तसिद्धान्त की प्राण-प्रतिष्ठा इस नाटक में कराई गई है।

मोहराजपराजय—

यह नाटक जैन धर्म की प्रशस्ति परम्पराओं का अभिव्यंजक है। इसमें दार्शनिकता के निर्वचन का उतना प्रयास नहीं है जितना कि जैन धर्म के आधारभूत सिद्धान्तों के ग्रहण से प्राप्त लौकिक एवं पारलौकिक अभ्युत्थान वर्णन का उपक्रम है। राजा कुमारपाल कोई प्रतीकात्मक व्यक्तित्व नहीं है। वे चौलुक्यवंशीय अणाहिलपुरपत्तनाधिपति हैं। जैनधर्म के वे अनन्य अनुयायी हैं किस प्रकार उनकी आध्यात्मिक उन्नति होती है ? और वे आध्यात्मिक-वैरी मोहराज को उसके अनुचरों सहित परास्त करके विवेक को प्रतिष्ठित करता है जनमनोवृत्ति नामक राजधानी में यह सब इस नाटक के वर्ण्यविषय हैं। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि अन्य शुद्ध प्रतीक नाटकों की भाँति न तो यह एकान्तत: प्रतीकात्मक ही है, और न दार्शनिक व्याख्यान इसके एकान्तिक विषय हैं। इसमें प्रतीक एवं प्रारूप पात्रों के साथ ही लौकिक पात्र कुमारपाल स्वीकृत हुए हैं। नायक होने के कारण कथानक उन्हीं पर केन्द्रित है फलत:

---

१. आ बाचाले, परमाणुभ्यो विश्वमुत्पद्यते। निमित्तकारणमीश्वर: ।
अन्यथा तु .... ननु रे प्रधानाद्विश्वोत्पत्ति:

प्रबोधचन्द्रोदय, अंक ६, पृ० २२६

कथा का वृत्त पूर्णतया लौकिक तथा बोधगम्य धरातल पर है। इस नाटक में जटिल दार्शनिक गुत्थियों को नहीं व्याख्यात किया गया है। केवल नैतिकपक्ष पर ही प्रकाश डाला गया है। जैन शासन के नैतिक पक्ष को उभार कर उससे आत्मोन्नति का मार्ग प्रशस्त किया गया है। अत: न तो इस नाटक से हमें जैन दर्शन की प्रमाण मीमांसा, न सृष्टि मीमांसा और न तत्त्व-मीमांसा का संकेत मिलता है और न मोक्ष के स्वरूप का ही बोध होता है। दर्शन के स्थान पर धर्म ही यहां का वर्ण्यविषय है।

जैन धर्म की परम्पराओं का भी यहां विशद स्वरूपांकन नहीं किया गया। जैन-धर्म-साधना जैसा कि हम जानते हैं दो प्रकार की होती है :

(१) जैनभिक्षुओं की आध्यात्मिक साधना।
(२) जैनमतावलम्बी गृहस्थों की आध्यात्मिक साधना।

इस विभाजन की दृष्टि से कुमारपाल एक गृहस्थ राजा है। इसलिए दूसरी प्रकार की आध्यात्मिक साधना के स्वरूप को यहां प्रकाशित किया गया है। हां, इस सीमित परिधि में अवश्य नाटककार यश:पाल ने सूक्ष्मेक्षिका से सर्वाङ्गीण गृहस्थ जैन की साधना-पद्धति का क्रम निरूपित करने में सफलता प्राप्त की है। साधना-पद्धति भले ही दर्शन जगत् का एक मात्र अंश हो किन्तु व्यावहारिक दृष्टि से उसका महत्वकम नहीं है। इस प्रकार यहां पर पूर्ण दर्शन का आकलन न होने पर भी दर्शन के एक अंश का पूर्ण आकलन अवश्य हुआ है।

साधनपद्धति का विचार—

मंगलाचरण के श्लोकों में परमवीरजिनों को नमस्कार किया गया है।[1] जैनधर्म में 'जिनों' का बड़ा माहात्म्य है। ये तीर्थंकर कहलाते हैं।-

---

१. अमरविसरशीर्षक्रीडदापीडरत्न-
प्रचुररुचिररोचिश्चामरैश्चुम्व्यपादम्।
रमयति शिवलक्ष्मीर्निर्मलं चिन्मयं यं
स जयति वृषलक्ष्मा नाभिजन्मा जिनेन्द्र:॥
— मोहराजपराजयम्, अंक १, श्लोक १

दूसरे श्लोक में जैन परम्परा के तेईसवें तीर्थङ्०कर श्री पार्श्वस्वामी की वन्दना है।[१] कमाल की बात है कि वैदिक मतावलम्बियों की बहुदेववाद परम्परा की कटु आलोचना करने पर भी जैनलोग अपने जिनों को देवताओं के रूप में ही प्रतिष्ठित करते हैं। उनके लिए चैत्य बनाये जाते हैं, जिनमें उनकी मूर्त्तियां स्थापित की जाती हैं।[२] उनको देवताओं की भांति अजर अमर मानते हैं, उनकी स्तुति और वन्दना होती है जिस पर कि वे कृपा करते हैं। जिनों के पश्चात् संघ की महत्ता का सूचक वाक्य भी यहां उपस्थित है[३]। इससे पता

---

१. उत्तंसयति मुक्तिं यः सूक्तिमर्थ इवोज्ज्वलः ।
नतोऽस्मि तस्मै श्रीपार्श्वस्वामिने परमात्मने ।।

— मोहराजपराज्यम्, अंक १, श्लोक २

२(अ)थारापद्रपुरं निसर्गचतुरं चैत्येषु सर्वोत्तमं
किंचैतज्जिनमन्दिरं रसमयं चौलुक्यवृत्तं स्वयम् ।
जङ्०घालः कविराजवर्त्मसु यशःपालः प्रवीणः कवि-
र्मद्गृह्याः कुशलाः कलासु तदहो ! दिगत्या प्रसन्नो विधिः ।।

—मोहराजपराज्यम्, अंक १, श्लोक ५

(ब) पर्यायस्तुहिनाचलस्य यमकं पीयूषकुण्डस्य च
क्षीराब्धेरभिधान्तरं प्रतिकृतिः शीतांशुलोकस्य च ।
वीप्सा चन्दनकाननोदरभुवोऽभ्यासश्च धारागृह-
स्यार्हश्चैत्यमिदं प्रपंचयति नः शैत्यं वपुश्चेतसोः ।।१

—मोहराजपरायजयम्, अंक १, श्लोक २७

३. सूत्रधार : आर्ये !-श्रूयतामिदमादिशन्ति-स्म-तत्रभवान्-श्रीसङ्०घः-यदथ-मरु-मण्डल-
आर्ये ! अथाहं सबहुमानमाहूय समादिष्टोऽस्मि सकलसुरासुराधिराज -
निव्याजनिर्वर्तितपादपद्मसेवदेवाधिदेवप्रणामप्रण्यप्रणवनर्तिताति शय-
संपदा त्रिभुवनवनविहारियशःसिंहेन भगवता श्रीसङ्०घेन ? ।

—मोहराजपरायजम्, अंक १, पृ० २

चलता है कि बौद्धधर्म की भांति जैनधर्म में भी संघों का माहात्म्य अक्षुण्ण है।[०]

इस पूजनीयता की परम्परा में श्री गुरुओं को भी कम आदर नहीं प्राप्त है। राजाकुमारपाल ने श्री हेमचन्द्र गुरु से जैनधर्म की दीक्षा ली थी।[१] गुरु से ही ज्ञानचक्षु की प्राप्ति मानी जाती है।[२] गुरु की पूजा के सामने राज्य की भी कोई हैसियत नहीं मानी जाती।[३]

रात्रि में भोजन नहीं करना चाहिए वह जिनानुशासन में निषिद्ध है।[४] इस मत की व्यवस्था में वर्ण-विचार गर्हित है, ब्राह्मण और शूद्र एक समान

---

१. श्रीहेमचन्द्रप्रभुपादपद्मं वन्दे भवाब्धेस्तरणैकपोतम्।
ललाटपट्टान्नरकान्तराज्याक्षरावली येन मम व्यलोपि ।।

— मोहराजपराजयम्, अंक १, श्लोक ८

२. मिथ्यात्वतिमिरच्छन्नमुपदेशशलाकया।
ज्ञानचक्षुर्गुरुर्दिष्ट्या ममेदमुदघाटयत् ।।

— मोहराजपराजयम्, अंक १, श्लोक १०

३. किं राज्येन गुरोरुपास्तिरनिशं चेल्लभ्यते निर्भरा....

— मोहराजपराजयम्, अंक १, श्लोक ११

४. उच्छिष्टं क्रियते चरद्भिरभितो यत्प्रेतभूतादिभि-
ध्वान्तिक्लान्तदृशो न यत्र पततः पश्यन्ति जन्तूनणून्।
बाधन्ते स्मृतयो यदाहुरधमं यद्वेदविद्याविद-
स्तन्निःशङ्कमनाः करोति नृपशुः कश्चिन्निशाभोजनम् ।।

— मोहराजपराजयम्, अंक १, श्लोक १२

हैं।[१] [१क] विदूषक ब्राह्मण की शिखासूत्र को छुड़वाने का प्रयास भी किया गया है। और उसे ज्ञानदर्पण के पैरों पर गिरवाकर वर्ण व्यवस्था पर चोट की गयी है। विरोधी महामोह ने विवेक नामक एक अन्य राजा को परास्त करके जन मनोवृत्ति पर कब्जा कर लिया है[२]। सभी दार्शनिकों को ग्रस्त कर लिया है। राजा कुमारपाल ज्ञानदर्पण नामक प्रणिधि की सहायता से मोह शिविर की जानकारी की है और अन्ततोगत्वा उसे पराजित किया है। योगरूप जल सदागम नामक कूपों में सुरक्षित रहता है, रजोगुण से वह ढका रहता है। बहुश्रुत गुरुओं की कृपा से ये कूप खुलते हैं तब योग सलिलामृत का पान मनुष्य कर सकता है।[३] जैन दर्शन में बौद्ध धर्म की भांति स्त्रियों को समानता नहीं प्रदान की गयी है। उनके दिगम्बर सम्प्रदाय तो स्त्रियों को मोक्ष का अधिकारी भी नहीं मानते हैं। राजा कुमारपाल इसी आशय को प्रकाशित

---

१. योगी- ब्राह्मण: शूद्र इति न किंचिदेतत्। यत:-

सप्तधातुमये देहे समाने सर्वदेहिनाम्।
ब्राह्मणो यमयं शूद्र इति कैयं विचारणा ? ।।

—मोहराजपराजयम्, अंक १, श्लोक १७

१क. योगी :- भो: ! समुत्खन शिखाम्, अपनय कण्ठाद्यज्ञोपवीतं, येन योगमुद्रामारोपयामि।

....

राजा- वयस्य ! निरुपचरितं हि वो ब्राह्मण्यं न खलु यज्ञोपवीतादिबाह्य-लिङ्गसव्यपेक्षं, तदलमस्थानसंरम्भेण।

— मोहराजपराजयम्, अंक १, पृ० ११

२. .... दुरात्मा मोहेन विजित्य स्वचरणसेवाव्रतदानेन दीक्षिता: सर्वे पि दर्शनिन:।

— मोहराजपराजयम्, पृ० १२

३. .... बहुश्रुतैर्गुरुभि: पुरुषैरुदघाट्यन्त सदागमनामान: प्रयत्नपरिपालिता गुप्तकूपा:। तेभ्य: स्वप्रवणाश्रवणाश्रवणप्रणालद्वयद्वारेणान्त:प्रावेश्यत योगसलिलम्।

--मोहराजपराजयम्, पृ० १४

करता है।[1] जैन शासन में कृपा का बड़ा माहात्म्य है। यहां पर कृपा को विवेक की कन्या बताया गया है। राजा कुमारपाल ने कृपा सुन्दरी से विवाह किया है तभी जाकर वह मोह को जीत सका है।[2] बिना कृपा के आध्यात्मिक उन्नति इस धर्म में असम्भव है।

गुरु के समक्ष 'अपरिग्रह' और 'सप्तव्यसनों' के निर्वासन की[3] प्रतिज्ञा राजा कुमारपाल ने कर रखी है। आचार शास्त्र की आधारशिला के रूप में ये ही दो वस्तुएं जैनधर्म में प्राधान्येन स्वीकृत हुई हैं। कृपासुन्दरी उसी को प्राप्त हो सकती है जिसने इस प्रकार के पापैकमूलभूतधन का 'अपरिग्रह' किया हो और 'प्रमुखव्यसनसप्तचक्र' को निर्वासित कर दिया हो।[4] इन दोनों मौलिक आचारों का पालन करने के लिए समुचित वैराग्य का उदय होना आवश्यक है। वैराग्य कारक भावना राजा में उदित होती है :—

---

१. कलीनामालयो मूलं वैराणां पदमापदाम्।
सत्यं रक्ता विरक्ताश्च विषमेव स्त्रियो नृणाम्॥
—मोहराजपराजयम्, अंक १, श्लोक ३३

२. विवेकराजतनयां परिणीय कृपां नृप:।
भूर्भुव:स्वस्त्रयीशत्रुं मोहराजं विजेष्यते॥
—मोहराजपराजयम्, अंक २, श्लोक ३

३. शुक:— राजवयस्य! तव मम च स्वामिना गुरुश्रीहेमचन्द्रपादाम्बुजप्रत्यक्षं निर्वीराधनमोक्षणो सप्तव्यसननिर्वासने च प्रतिज्ञातमित्यस्या: साक्षी भव।
— मोहराजपराजयम्, अंक २, पृ० ३३

४. रौद्रता — .... पुत्ति! एस वच्छाए पणो।
जधा—

इह भरहनिवाओ जं न केणावि चत्तं
मुयइ मयधणं जो तं पि पाविक्कमूलं।
नियजणवयसीमं मोयए जो य जूय-
प्पमुहवसणचक्कं सो वरो मज्झ होउ॥
—मोहराजपराजयम्, अंक ३, पृ० ४५

अहोईदृश एवायमसार: संसार:, क्षणभङ्गुरमायु: अनित्यं यौवनं, चपलं जीवितव्यम् , विनश्वरं शरीरं , अस्खलितगतयो व्याधय:,दुर्निवारा जरा । अपि च .... लंकेश .... कस्यचित् ।[१]

दान का भी जैनधर्म में बड़ा माहात्म्य है । वैराग्य की पराकाष्ठा पर आरूढ़ राजा दान की सर्वातिशायिनी महत्ता को स्वीकार करता हुआ राजा कहता है —

धर्मस्य मूलं पदवी महिम्न:
पदं विवेकस्य फलं विभूते: ।
प्राणा: प्रसिद्धे: प्रतिभूश्च सिद्धे -
र्दानं गुणानामिदमेकमोक: ।।[२]

जैन धर्म के ये नियम स्पष्टत: राजा उद्घोषित करता हुआ पढ़ता है :—

जन्तून् हन्मि न वच्मि नानृतमहं स्तेयं न कुर्वे पर-
स्त्रीर्नो यामि तथा त्यजामि मदिरां मांसं मधु प्रक्षणाम्
नक्तं नाद्मि परिग्रहे मम पुन: स्वर्णस्य षट् कोट्य-
स्तारस्याष्ट तुलाशतानि च महार्हाणां मणीनां दश॥[३]

मांस और शिकार का त्याग भी इस धर्म का महत्त्वपूर्ण अंग है ।[४] तीर्थयात्रा भी एक धार्मिक कृत्य स्वीकार किया गया

---

१. मोहराजपराजयम्, अंक ३, पृ० ५१

२. वही, पृ० ५४, श्लोक २५

३. वही, श्लोक ३६

४ नगरश्री...... इमं पि न मुणेसि । णं संपदं गुरूवदेसलद्धजिणधम्माणुरत्तेण देवेण चत्तं मंसं आहेडओ य संवुत्तो परमसावगो । जहा राया तहा पय त्ति अहं पि साविगा जाय म्हि ।

—मोहराजपराजयम्, अंक ४, पृ० ७३

है।[१] राजा के द्वारा निर्वासनीय सातों व्यसन ये हैं[२]:— १. द्यूत, २. मांस, ३. मद्य, ४. मारि (हत्या) ५. चोरी, ६. परदाराभिगमन, ७. वेश्याव्यसन। ये सातों बड़े भयंकर और हेय हैं। काम, राग, द्वेष, क्रोध, गर्व, दम्भ, लोभ आदि महामोह के पुत्रमित्रादि हैं, मिथ्यात्वराशि उसका राजगुरु है, स्पर्श,रूप रस, गन्ध और शब्द उसके योद्धा हैं, पापकेतु उसका अमात्य है, शोक पुरोहित शृंगारहासादि आठरस उसके सेनापति हैं।[३]

जैन गुरु हेमचन्द्र के द्वारा दिये गए योगशास्त्र रूपी वज्र, कवच एवं वीतरागों की स्तुति रूपी बीस गोलियों से सुसज्जित राजा इस शक्तिशाली महामोह को परास्त करने में सफल होता है। इस प्रकार व्यक्तिगत आचार-परिपालन के द्वारा विवेक की प्रतिष्ठा जनमानस में होती है। जैन लोग जिनों का अवतार भी स्वीकार करते हैं।[४]

---

१. नगरश्री— अज्ज राएसिणो सत्तुंजयरेवयपमुहमहातित्थजत्तं कदुय पडिनियत्तस्स पवेसमंगलं संवुत्तं ति।

— मोहराजपराजयम्, पृ० ७४

२. राजा— .... तद्गच्छ द्यूतमांसमद्यमारिनामानि चत्वारि व्यसनानि निपुणमन्विष्य सुगृहीतानि विधाय नगरान्निर्वासय। चौर्यपारदारिकत्वे च पूर्वमेव निर्वासिते स्तः। वेश्याव्यसनं तु वराकमुपेक्षणीयम्। न तेन किंचिद्गतेन स्थितेन वा।

— मोहराजपराजयम्, पृ० ८३

३. ज्ञानदर्पण— अपरेऽपि हि रिपुकामिनीकुचकलशपत्राङ्कुरलिपिदस्यवः पृथिव्यामेकवीराः सन्त्यशान्ताः शृङ्गारादिरसनामानः सैनापत्यः।

— मोहराजपराजयम्, पृ०१२१

४. आतरद्धरापीठे जनस्य सुकृतोदयात्।
भावितीर्थंकरः कोऽपि रूपेणास्य महीपतेः।।

— मोहराजपराजयम्, श्लोक ४८, अंक ५

हिन्दू देवताओं की कामक्रोधादिपरायणता पर आक्षेप भी इस नाटक में दर्शनीय है।[1] कर्मकाण्ड की जमकर निन्दा की गई है। कौल, कापालिक, रहमाण तथा घटचटक आदि सिद्धान्तों को भी ठोस भर्त्सना का विषय बनाया गया है।[2] इस प्रकार हम देखते हैं कि जैनदर्शन की तात्त्विक व्याख्या प्रस्तावित न होने पर भी इस नाटक में जैनधर्म की आचार प्रणाली का सुन्दर काव्यात्मक स्वरूप इसमें प्रस्तुत किया गया है। जैन धर्म का प्रसार और धर्मविलम्बन से संसार सागर से उद्धार ही इस नाटक में उद्देश्य

---

१. क. अर्द्धाङ्गे गिरिजां बिभर्त्ति गिरिशो विष्णुर्वहत्यन्वहं
शस्त्रश्रेणिमथाऽक्षसूत्रवलयं धत्ते च पद्मासनः।
पौलोमीचरणाहतिं च सहते हृष्टः सहस्रेक्षणा-
स्तद्देवः किमु मन्त्रमण्डपमलंचक्रे न जानीमहे ? ।।
— मोहराजपराजयम्, अंक ५, श्लोक ५६

ख. सीतासङ्गवियोगविह्वलमना बभ्राम रामो वनं
राज्यश्रीरमणेच्छया यमपुरं प्रापुः पुरा कौरवाः।
जीवातुः किल नाकिनां हिमरुचिर्यल्लक्ष्म धत्तेऽधुना-
प्येतद्विद्धि विरुद्धबुद्धिजलधेर्लीलायितं मे स्फुटम् ।।
— मोहराजपराजयम, अंक ५, श्लोक २४

ग. अन्ये ते पुरुषा ये स्युस्तवाज्ञावशवर्तिनः।
महात्मनां मौलिरत्नमन्योऽयं मनुजेश्वरः ।।
— वही, श्लोक २५

२. दाण्डपाशिकः— इत्थ एयं पेक्खं पिचुमंदपत्तमालाविहूसियमोलिकंठकंदलं मसीविलित्तवयणकं खडियाधवलीकयसरीरकं रासहारोवियं काऊण वज्जंतविरसडिंडिमसद्दपिसुणियदोसं तियच्चउक्केसु नयरमज्झम्मि भामिय निव्वासेदव्वं ति सासणं देवस्स। ता तं संपाडिज्जइ।
— मोहराजपराजयम्, पृ० १०३

है। सम्यग्दर्शन की व्याख्या नहीं।[१]

संकल्पसूर्योदय—

यह नाटक पूर्णतः दार्शनिक एवम् आध्यात्मिक है। भगवान् रामानुजाचार्य के द्वारा प्रवर्तित विशिष्टाद्वैत सम्प्रदाय का सम्यग्विवेचन इसमें नाटकीय शैली में किया गया है। दैही के विवेक सुमति और व्यवसायादि सद्गुण एवं मोहदुर्मति लोभादि दुर्गुण पात्र रूप में कल्पित हुए हैं। इसमें विवेक धीरोदात्त नायक है। उसका प्रयोजन पुरुष को संसार से मुक्त कराना है। मोहादि, पुरुष को संसृति के गर्त में ही डाले रखना चाहते हैं। अंततः सपरिवार मोह को पराजित करके, पुरुष को परब्रह्म समाज में लीन कराके उससे प्रसन्न भगवान् की कृपा से प्राप्त तत्संकल्प के द्वारा संसार से छुड़ाकर परब्रह्मानुभव रूप साम्राज्य विवेक प्रदान करता है। बीच बीच में पुरुष किस प्रकार से काम, दर्प, दम्भ आदि से प्रतारित होकर सतपथ से पतित होकर विषण्णहोता है और फिर सद्गुणों के प्रभाव से आगे बढ़ता है और आत्यान्तिक सिद्धि प्राप्त करता है। इस सब का बड़ा ही बोधगम्य विवरण प्रस्तुत होता है इस नाटक से प्रकटित दर्शन का स्वरूप-विवेचन इस प्रकार किया जा सकता है।

तत्त्वविचार—

नाटककार की दृष्टि से वेदान्त अर्थात् उपनिषद् का तात्पर्य विशिष्ट— अद्वैत तत्त्व के प्रतिपादन में है। चित् एवं अचित् विशिष्टब्रह्म ही एकमात्र अन्तिम तत्त्व है। यह ब्रह्म, ईश्वर, परमेश्वर, परब्रह्म या परमात्मा भी कहा जाता है। चित् और अचित् प्रकार या विशेषण हैं ईश्वर प्रकरी

---

१. निर्वीराधनमुज्झितं विदलितं द्यूतादिलीलायितं
देवानामपि दुर्लभाप्रियतमा प्राप्ता कृपासुन्दरी।
ध्वस्तो मोहरिपुः कृता जिनमयी पृथ्वी भवत्सङ्गमा-
-त्तीर्णः सङ्गरसागरः किमपरं न स्याद्यदाशास्महे।।

— मोहराजपराजय — अंक ५, श्लोक ७६

अर्थात् चिदचिद्विशिष्ट है[१]। यह प्रकारता क्या है ? अपृथक् (अथवा अविभक्त) सम्बन्ध से शरीर होना ही चिदचित् की प्रकारता है। अर्थात् चिदचित् शरीर है और ब्रह्म शरीरी। इस प्रकार 'विशिष्टस्य (चिद्चिद्विशिष्टस्य) ब्रह्मणः अद्वैतम्' यह विशिष्टाद्वैत शब्द का अर्थ हुआ। प्रकारभूत चित् और अचित् प्रकारीभूत ब्रह्म से अत्यन्त विलक्षण होने के कारण ब्रह्म से भिन्न भी हैं। चित् और अचित् भी परस्पर भिन्न स्वरूप हैं। चित् भी आपस में भिन्न होते हैं। वैसे ही अचित् भी ।

जीव चेतन है, अणु है । वह 'अहमिति' प्रतीति से सिद्ध होता है। वह स्वयं प्रकाश है।[२] वह पाप पुण्यादि का कर्ता होता है[३] उसका कर्तृत्व परम पुरुष ईश्वर के अधीन है। जीव प्रतिशरीर भिन्न और

---

१. मिथो भेदं तत्त्वेष्वभिलपति भेदश्रुतिरतो
विशिष्टैक्यादैक्यश्रुतिरपि च सार्था भवति ।
इमावर्थौ गोप्तुं निखिलजगन्तर्यमयिता
निरीशो लक्ष्मीश: श्रुतिभिरपराभि: प्रणिदधे ।।
— संकल्पसूर्योदय, अंक २, श्लोक ६४

२. नित्यनिर्मलमहानन्ददशान्तस्वयंप्रकाशसर्वजनदर्शनयोग्यस्वभाव:पुरुष:
— संकल्पसूर्योदय, पृ० १३५

३. बहुलदुरितद्वारे ब्राह्मे पुरे परसंमत-
स्वमतिघटितस्वातन्त्र्यत्वादयन्त्रितचेष्टित: ।
विषमसचिवै:स्वैस्वै कार्ये विगृह्य विकृष्यते
नरपतिरिव क्षीबो नानाविधैरयमिन्द्रियै:
— संकल्पसूर्योदय, अंक १, श्लोक ७२

नित्य है। नित्य होने पर भी देह के सम्बन्ध से उत्पत्ति विनाश शील कहा जाता है । जीव तीन प्रकार के होते हैं। बद्ध, मुक्त और नित्य । कर्म-परवश संसारी जीव बद्ध कहलाते हैं[१] कुछ दिन तक संसारी रहकर भक्ति और प्रपत्ति के द्वारा समाराधित भगवान् के संकल्प से संसार से निवृत्त जीव मुक्त कहलाते हैं । कुछ ऐसे अनन्त और गरुड आदि जीव भी हैं जो सदा भगवद्-नुभव और भगवत्कैङ्कर्य परायण रहते हैं। कभी संसारी नहीं बनते वे नित्य कहलाते हैं।

ईश्वर विभु और चेतन है। वही परपुरुष, नाथ, ब्रह्म, विष्णु, केशव है।[२] वह सर्वशरीरी है[३] सम्पूर्ण चिद्चिदात्मकजगत् में अन्तर्यामी होकर व्याप्त है।[४] यह चिदचिद्विशिष्ट वेश से जगत् का उपादान है कालादिरूप से सहकारि कारण है। स्वयं अविकारी है। प्रकारभूत चिदचिदन्स

---

१. 'अनादिनिजकर्मरूपाविद्यापराधीनदोत्रज्ञोऽयमीश्वरेणाधिप्तसंसरन्नवसरे तेनैव समुद्ध्रियत इति।

— संकल्पसूर्योदय, पृ० १३८

२. शास्त्राण्यालोड्य सर्वाण्यशिथिलगतिभिर्युक्तिवर्गैर्विचार्य
' स्वान्तर्निधार्य तत्त्वं स्वभुजमपि महत्युद्धरन् सूरिसंघे।
सत्यं सत्यं च सत्यं पुनरिति कथयन् सादरं वेदवादी
पाराशर्यः प्रमाणं यदि क इह परः केशवादाविरस्ति ।।

—संकल्पसूर्योदय, प्रथम अङ्क, श्लोक ८६

३. अथवासौ निखिलजगदेकदेहिना नित्यनिलयेन देवेन निजनगरपर्यन्तमनघमपुनरावृत्ति-मध्वानं निनीषितः। तेन च,

— संकल्पसूर्योदय , पृ० ८८१

४. अस्तिखलु सर्वधुरीणः कश्चित्सर्वजगदन्तर्यामीपुरुषः।

— संकल्पसूर्योदय, पृ० ७७४

में परिणाम होता है । उनमें भी अचिदन्श में स्वरूपविकार होता है और चिदन्श में धर्मभूत ज्ञानांश में परिणाम होता है धर्मीभूत ज्ञानांश में नहीं । उसकी निमित्त कारणता स्वरूपत: है । यह ईश्वर अद्वितीय है । इसप्रकार निमित्तान्तर राहित्य है । इसलिए यह जगत् का अभिन्न निमित्तोपादान कारण है ।[१] 'सत्यम् ज्ञान मनन्त ब्रह्म' इत्यादि श्रुतियों से सिद्ध है कि ब्रह्म सत्यत्वादि विशिष्ट है । अत: ब्रह्म सविशेष ही है निर्विशेष नहीं । वह अनन्त कल्याण-गुणनिधि है और अस्पृष्टदोषगन्ध भी । श्रुति स्मृति आदि में जहां कहीं उसे निर्गुण कहा गया है उसका तात्पर्य हेयगुण निषेधपरक लगाना चाहिए । जहां सगुण कहा गया है उसका अर्थ है स्वाभाविक ज्ञान , शक्ति इत्यादि कल्याणमय-गुण-वैशिष्ट्यपरक ही है ।

यह ईश्वर पर, व्यूह, विभव, अर्चा और अन्तर्यामी रूप से पांच प्रकार से प्रतिपन्न है । श्रीवैकुण्ठ में श्रीभूमि नीला सहित परब्रह्म , पर-वासुदेव और नारायण शब्द से वाच्य 'पर' रूपक ईश्वर है । वही उपासनादि के लिए वासुदेव , संकर्षणप्रद्युम्न और अनिरुद्ध के भेद से चार व्यूहों में अवस्थित होकर 'व्यूह' रूप कहलाता है । केशवादिव्यूह के ही अवान्तर भेद हैं । मत्स्यादि अवतारविशेष उसके 'विभवरूप' हैं । स्वयं दैव सैद्ध एवं मानुष्यादि भेद से देवा-लयादि में पूजित होने वाले मूर्ति विशेष के रूप में वह 'ऊर्चा' है । समस्त चिदचिदन्तव्याप्ति होने वाला सदा सन्निहित स्वरूपविशेष में वह अन्तर्यामी कहलाता है । अणु रूप जीव में वह कैसे व्याप्त है ? इसका समाधान उसकी अघटित घटना शक्ति में है[२] या फिर उससे अप्रविष्ट भाग का जीव में न होना

---

१. स्वसंकल्पोपघ्नत्रिविधचिदचिद्वस्तुविततिः

पुमर्थानामेक: स्वयमिह चतुर्णां प्रसवभू: ।
शुभस्रोतोभाजां श्रुतिपरिषदां श्रीपतिरसा-
वनन्त: सिन्धूनामुदधिरिव विश्रान्तिविषय: ।।

—संकल्पसूर्योदय, अंक १, श्लोक ६२

२. अचिन्तनीयमहात्म्यस्येश्वरस्यैव तवशक्त्यैतरदुर्घटं सर्वं संघट्यत इतिकिमाश्चर्यम् ।

—संकल्पसूर्योदय, पृ० ६१६

ही या दर्शनिक सम्बन्ध ही उसका अन्त:प्रवेश है। रजस्तम से असंसृष्ट शुद्धसत्त्वा उसकी नित्यविभूति है जोकि अचेतन होने पर भी स्वयंप्रकाश होने के कारण ज्ञानात्मिका है। यह नित्यमुक्त और ईश्वर के इच्छानुरूप शरीरादिरूप से रहती है। वह सबका स्वामी है सब उसका शरीर है।[1]

शुद्धसत्त्वमयश्रीवैकुण्ठको प्राप्त जीव का निदु:खनिरतिशय आनन्द-रूपभगवान् के अनुभव एवं भगवत्कैङ्कर्यरूप मोक्ष होता है। वह स्वात्मानुभव कैवल्य नहीं है क्योंकि इसमें तो केवल परिमित आनन्द ही प्राप्त होता है। यह दशा जीवित दशामें प्राप्त ही नहीं हो सकती इसलिए 'जीवन्मुक्ति' नामकी कोई दशा नहीं मानी जा सकती है। ब्रह्मसायुज्य[2]लक्षण मोक्ष की मान्यता की गई है।

महदादिअवस्थाओं वाला त्रिगुण होता है। परस्परमिश्रित सत्त्वरजस्तमस्कत्वेन इसे त्रिगुण कहते हैं।[3] विचित्र सृष्टि में उपकारक होने के

---

१. अप्यन्तैरेककण्ठैस्तदनुगुणमनुव्यासमुख्योक्तिभिश्च ।
श्रीमन्नारायणो न: पतिरखिलतनुर्मुक्तिदो मुक्तिभोग्य: ।।
—संकल्पसूर्योदय, पृ०५६२, श्लोक ७१

२. किं तत्प्रियं परमत: प्रतिपादनीयं
पद्मासहायपदपद्मजुषा भवत्या ।
पश्यामि यत्पुरुषमेवमपास्तपङ्क
राकाशशांकमिवमपास्तपङ्क राहुमुखाद्विमुक्तम् ।।
— संकल्पसूर्योदय, अंक १०, पृ०८८६, श्लोक६५

३. त्रिगुणगुणाशिल्पिना त्रिगुणतूलिकाधारिणा
विविच्य विनिवेशितं वहति चित्रमत्यद्भुतम् ।।
—संकल्पसूर्योदय, अंक १, श्लोक ७३

कारण इसे `माया`[१] महदादि विकारों की प्रकृति होने के कारण इसे `मूल-प्रकृति`, विद्या विरोधी होने के कारण `अविद्या`, भगवल्लीला का उपकरण होने के कारण` लीलाविभूति` सर्वप्रपंच का प्रधान कारण होने से `प्रधान` और अतिसूक्ष्म तथा गुणों की साम्यावस्था के अस्फुट होने के कारण इसे `अव्यक्त` भी कहते हैं। अवस्था भेद से यह प्रकृति, महान्, अहङ्कार, एकादशेन्द्रिय, पंचतन्मात्रा और पंचमहाभूत रूप में २४ प्रकार का होता है। इसकी प्रारम्भिक अवस्था में भी मात्राभेद से चार भेद किए जाते हैं :—
(१) अव्यक्त, (२) अक्षर, (३) विभक्ततम और (४) अविभक्त तम ।
गुणत्रय की साम्यावस्था `अव्यक्त` है। इसी अवस्था में चेतनसमष्टि गर्भत्वअविवेच्य रहता है तो `विभक्त तम` और उसके भी पूर्व चेतनसमष्टिगर्भत्वान्मुख्यरहिता-दशा अविभक्त `तम` है। `बुद्धितत्व महान्` है ऐसी सांख्योक्ति अनुचित है। अहङ्कार ाव्यवहितपूर्वावस्थाविशिष्ट त्रिगुण है। महान् है। `अभिमान - अहङ्कार है यह सांख्योक्ति भी पूर्ववत भ्रान्त है। इन्द्रियशब्दतन्मात्राइत्यादि की अव्यवहित पूर्वावस्थो गत त्रिगुण ही अहङ्कार है।

आकाश, वायु, तेज, जल और पृथिवी पांच भूत हैं। उनका सृष्टिक्रम जानने योग्य है। शब्दतन्मात्र से आकाश उत्पन्न होता है। आकाश से स्पर्श तन्मात्र, उससे वायु, वायु से रूपतन्मात्र, रूपतन्मात्र से तेज, तेज से रसतन्मात्र, रसतन्मात्र से जल, जल से गन्धतन्मात्र और गन्धतन्मात्र से पृथिवी उत्पन्न होते हैं। सिद्धान्त यह है कि उत्तरोत्तर भूत में पूर्वभूतगुण अनुवृत रहते हैं। इनका पंचीकरण और अष्टीकरणादि होता है।

---

१. मायायोगान्मलिनितरुचौ वल्लभे तुल्यशीला
राहुग्रस्ते तुहिनकिरणे निष्प्रभा यामिनीव ।।

—संकल्पसूर्योदय, अंक १, श्लोक ७४

काल— अचिद्विशेष, गुणात्रयरहित विभु और नित्य है। निमेश काष्ठाकला-मुहूर्त दिवसादि रूपों में यह परिणत होकर भूतादि के व्यवहार का हेतु बनता है। विभु होने पर भी इसका परिणामित सम्भव होता है 'वर्तमानों घटः' इत्यादिप्रतीति के कारण।

इस दर्शन में अर्थप्रकाशन को मति कहते हैं। यह जीव और ईश्वर दोनों में रहती है। नित्य जीव और ईश्वर में रहने वाली मति अविकार, नित्य और विभु होती है। बद्धजीवों में तिरोहित रहती है। मुक्त जीवों में पहले तिरोहित और बाद में आविर्भूत रहती है। इस सिद्धान्त में ईश्वर, जीव, त्रिगुण, काल, नित्यविभूति और मति नामक ये छः द्रव्य और दस अद्रव्य — इस प्रकार से दो तरह के पदार्थ स्वीकृत हुए हैं। जो संयोग रहित हो वह अद्रव्य है। सत्त्व, रजस्, तमस्, शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, संयोग और शक्ति नामक दस प्रकार के अद्रव्य होते हैं।

साधनाक्रम—

मोक्ष साधन रूप से भक्ति[1] और प्रपत्ति[2] स्वीकृत की गई है।

---

१. संसाराख्यज्वलनभसितीभूतसंजीवनार्हा
धर्मोत्पत्तिप्रथितविभवा धार्यमाणा गिरीशैः।
गम्भीरत्वादकलुषगतिर्गम्यतीर्थोपपन्ना
गङ्गेवान्या पुरुषजलधिं गाहते विष्णुभक्तिः॥
—संकल्पसूर्योदय, अंक ८, पृ० ७६४, श्लोक २२

२. संसारावर्तवेगप्रशमनशुभदृग्देशिकप्रेक्षितोऽहं
संत्यक्तोऽन्यैरुपायैरनुचितचरितेष्वद्य शान्ताभिसंधिः।
निःशङ्कस्तत्त्वदृष्ट्या निरवधिकदयं प्रार्थ्य संरक्षकं त्वां
न्यस्य त्वत्पादपद्मे वरद निजभरं निर्भरो निर्भयोऽस्मि॥
— संकल्पसूर्योदय, अंक ६, श्लोक ७४

भक्ति और प्रपत्ति से भगवान विष्णु प्रसन्न होते हैं और प्रसन्न होकर पुरुष को मुक्त करने का संकल्प करते हैं, यही भगवत् संकल्प[1] ही पुरुष को संसार से मुक्त कराने में समर्थ होता है। मुक्ति के साधनभूत इन उपायों के प्रयोग से मुक्ति की प्राप्ति तथा अवान्तर विघ्नबाधाओं का शमन ही इस नाटक का वर्ण्य विषय बनता है। पुरुष, सुमति सहित विवेक के द्वारा प्राकृत तथा वैषयिक सुखों से विमुख होकर समाधि में लीन होने का यत्न करता है। समाधि प्राप्ति के लिए त्रैगुण्यनिरास करने में ईश्वर प्रपत्ति उसकी सहायता करती है। विरक्ति और विष्णुभक्ति भी उसकी सहायक होती है, नित्य और नैमित्तिक कर्मों को करता हुआ निषिद्ध तथा काम्यकर्मों को छोड़ता हुआ योग का अभ्यास करता है। उसकी परासिद्धि के विरोधी अन्तराय बीच-बीच में आते हैं उनमें वह नहीं फंसता। उसका विवेक, काम, क्रोध, लोभ, दम्भ, दर्प, इत्यादि को परास्त करता है[2]। समाधि साधना के लिए उपयुक्त स्थल हृदयगुहा ही है। इसलिए

---

१. यस्मिन्विस्मयनीयभूमनि मनागुन्मीलिते नैकधा
सिध्यन्त्यस्य सितासितस्य जगतः स्वर्गापवर्गोदयः।
ऐशः सोऽहमवासरात्ययभवन्मायामहायामिनी-
सताशेषसुषुप्तबोधनपटुः संकल्पसूर्योदयः ।।

— संकल्पसूर्योदय, अंक १०, श्लोक २०

२. सुमतिबहुमतेन स्वात्मना सत्त्वधाम्ना
बहिरबहिरुदीर्णे वारिते वैरिवर्गे।
जयति पुरुषस्य ज्यायसीं चित्तवृत्तिं
समविषमविभेदी सार्वभौमो विवेकः ।।
— संकल्पसूर्योदय, अंक ६, श्लोक ३४

तीर्थादि की उपयोगिता उसमें नहीं है ।[१] धीरे-धीरे भगवान विष्णु के दशावतारों में से किसी एक को आलम्बन बनाकर उसका निदिध्यासन सिद्ध होता है ।[२] सालम्बन समाधि पर आरूढ़ साधक का विवेक काम, क्रोध , मोहादि का ध्वंस कर डालता है ।[३] फलत: साधक का भक्ति प्रावण्य और अधिक बढ़ता है । कर्म, नाम की अविद्या विनष्ट कामादि को फिर से उभाड़ने की चेष्टा करती है । किन्तु साधक भगवान् की शरण में जाकर वर्णाश्रम धर्म के अनुकूल उपासना करता रहता है । विनिष्पन्न समाधि साधक की इस उपासना से प्रसन्न भगवान इसको मुक्त करने का संकल्प करते हैं । इस संकल्प रूपी सूर्य के उदय होने से योगी को परमपद की प्राप्ति अर्चिरादि मार्ग से होती है ।[४] यह मोक्ष ब्रह्म सायुज्य

---

१. सा काशीति न चाकशीति भुवि सायोध्येति नाध्यास्यते
सावन्तीनि न कल्मषादवन्ति सा कांचीति नोदंचति ।
धत्ते सा मधुरेति नाग्रिमधुरां नान्यापि मान्या पुरी
या वैकुण्ठकथासुधारसभुजां रोचेत नो चेतसे ।।
— संकल्पसूर्योदय, अंक ६, श्लोक ३८

२. तेषु चैतेषु भगवदवतारेषु निराशिष: पुरुषस्य यथाभिमतमेकमालम्बनं निर्धारणीयं महाराजेन ।   —संकल्पसूर्योदय, पृ० ६६१

३. जितं कार्तयुगैर्धर्मैर्जितं शमदमादिभि: ।
महता यद्विवेकेन महामोह: पराहत: ।।
—संकल्पसूर्योदय, अंक ८, श्लोक १००

४. दिव्य: संप्रति दुन्दुभिर्दिशि दिशि ध्वानैर्मुहु: श्रूयते
देवानामपि हाहुहाहुलहरी विद्याभ्यत्यम्बरम् ।
आरब्धप्रतिसंस्कृतै: कृतमुखैरर्चिर्मुखै: श्रीपते-
राज्ञाधारिभिरातिवाहिकगणैरादिश्यते पद्धति: ।।
—संकल्पसूर्योदय, अंक १०, श्लोक ८२

रूप का होता है।[१] इसमें निरतिशय ब्रह्मानन्द का अनुभव होता रहता है। मोक्षदशा में ब्रह्मानन्दानुभव एवं तत्कैंकर्य उभयरूप मुक्ति होती है।

परमत खण्डन—

आचार्य वेंकटनाथ ने इस नाटक में विशिष्टाद्वैतमत की न केवल सरणि समझायी है प्रत्युत विविध तर्कों, शास्त्रार्थों एवं प्रमाण पद्धतियों के द्वारा प्राण-प्रतिष्ठा भी की है।[२] सांख्य की ईश्वर हीनता[३] अथवा

---

१. गृहस्वप्ननिमित्तादिमोघचिन्तापराङ्मुखः।
प्राप्तं प्राप्तमुपासीनः प्रवेक्ष्यामि परं पदम्॥
—संकल्पसूर्योदय, अंक १०, श्लोक ८४

२. दृष्टेऽपह्नुत्यभावादनुमितिविषये लाघवस्यानुसारा-
च्छास्त्रेणैवावसेये विहतिविरहिते नास्तिकत्वप्रहाणात्।
नाथोपज्ञं प्रवृत्तं बहुभिरुपचितं यामुनेयप्रबन्धै-
स्त्रातं सम्यग्यतीन्द्रैरिदमखिलतमःकर्शनं दर्शनं नः॥
— संकल्पसूर्योदय, अंक २, श्लोक ४६

३ (अ) कपिलासुरिपंचशिखादिमुनिप्रतिपादित सांख्यमतप्रवणाः
प्रकृतिं पुरुषं च विभज्य परं पुरुषं न पठन्त्यघरुद्धधियः॥
— संकल्पसूर्योदय, अंक २, श्लोक ६४

(ब) प्रधानपुरुषौ यदि प्रकृतियन्त्रितैरादृतौ
परः किमपराध्यति श्रुतिसहस्रचूडामणिः।
कुतर्कशतकर्कशैर्यदि विभुः प्रतिक्षिप्यते
भवत्परिगृहीतमप्यपहरन्तु पाटच्चराः॥
—संकल्पसूर्योदय, अंक २, श्लोक ६६

योग की[१] प्रकृति की जगत्कारणता पर चोट की है। वैशेषिक दर्शन के असत्कार्यवाद[२] तथा श्रुतिविरोध की चुटकी ली है। वैशेषिकी मुक्ति को तो उन्होंने पाषाण साधर्म्य[३] एवं कुम्भकर्ण निद्रा का नाम लेकर खिल्ली उड़ाई है। वैभाषिक, सौत्रांतिक, योगाचार तथा माध्यमिकों के क्षण - भंगवाद पर कटाक्ष किया है।[४] शंकराचार्य को तो योगाचार बौद्धों का

---

१. य एते योगाख्ये क्वचिदपतन्त्रे पठितिन:
प्रजल्पन्त्यैश्वर्यं प्रतिफलनकल्पं भगवत:।
स्वत: सिद्धान् बोधप्रशमनबलादीन् गुणगणान्
गृणन्तस्त्र्य्यन्ता: प्रतिभणितिरेषामवितथा ।।

—संकल्पसूर्योदय, अंक २, श्लोक ६८

२. असद्द्रव्यसृष्टिप्रभृत्यर्थक्लृप्त्या श्रुतिप्रक्रियाणामधिक्षेपतश्च ।
उलूकोपदेशापदेशप्रवृत्त: कथाशेषितोऽसौ कणादप्रणाद: ।।

—संकल्पसूर्योदय, अंक २, श्लोक ७०

३. ..... एते किल कणाचरणमतानुवर्तिन: ....
पाषाणसाधर्म्यलक्षणं मोक्षमाचक्षते। तथाच कुम्भकर्ण एव विजयेत।
शाप एव तस्यानुग्रह: स्यात्।

—संकल्पसूर्योदय, पृ० २८६

४. (अ) कथयति जडो विश्वं वैभाषिक: क्षणभङ्गुरं
परमनुमितं बाह्यं सौत्रान्तिको मतिवैत्र्यत:।
तदिदमनृतं योगाचारस्तथा निखिलं पर:
स्ववचनहता: सर्वे गर्वं त्यजन्ति ममाग्रत: ।।

— संकल्पसूर्योदय, अंक २, पृ० २५० श्लोक १

(ब) दन्तादन्तिविधानलम्पटधियो दिङ्नागमुख्या बुधा:
शृण्वन्त्वथ विपक्षते परमियं शिक्षा भवत्पक्षत:।
बुद्ध्वा बोध्यमुदाहरन्ति विशदं बुद्धादयश्चेज्जितं
नो चेद्धन्त जितं पुनस्तदिह नस्तूर्यं तु जोघुष्यते ।।

— संकल्पसूर्योदय, अंक २, श्लोक ७३

केशलुञ्चन इत्यादि को मूर्खता का स्वाभाविक दण्ड बताया है। पाशुपत मत को दुराचार कहा है।[१]

पांचरात्र मत की अलबत्ता बड़ी प्रशंसा की है[२] और यह बताया है कि वेद में और पांचरात्र में न तो परस्पर बाधा है, न विरोध है उसके प्रति महान सम्मान प्रकट किया है।

प्रभाकर और कुमारिल इत्यादि मीमांसकों की भी उन्होंने खबर ली है।[३] ये कहते हैं कि वस्तुत: ये वेद के परित्यागी हैं। उन्हें कबन्ध-मीमांसक[४] कहा है। उन्हें महामोह सौविस्तिकों में अग्रणी, पृथ्वी पर अवतीर्ण हिरण्यासु पुरोहित[५] बताया है। उनके स्वर्ग को ही अपवर्ग मानने की निन्दा की है और इस प्रकार अन्ततोगत्वा यतिपति श्री रामानुजाचार्य के विशिष्टाद्वैत मत का जयघोष करते हुए नाटककार का कथन है :—

> गाथा ताथागतानां गलति गमनिका कापिली क्वापि लीना
> क्षीणा काणादवाणी द्रुहिणहरगिर: सौरभं नारभन्ते।
> क्षामा कौमारिलोक्तिर्जगति गुरुमतं गौरवाद् दूरवान्तं
> का शङ्का शंकरादेर्भजति यतिपतौ भद्रवेदीं त्रिवेदीम्[६]।।

---

१. 'पशुपतिना यदुक्तमपयान्त्यथ तत्प्रवणा:।'
—संकल्पसूर्योदय, पृ० २६८

२. न बाध: प्रतिरोधो वा वेदसात्त्वतयोर्मिथ:।
कुदृशां तद्भ्रमो वार्य: श्रुत्योरिव परीक्षकै:।।
— संकल्पसूर्योदय, अंक २, श्लोक ८४

३. द्रष्टव्य--संकल्पसूर्योदय, पृ० ३०६

४. 'कथं सदसि मीमांसाकबन्धमनुरुन्धते'। —वही, अंक २, श्लोक ८७

५. .... महामोहसौविस्तिकानामग्रण्यो हिरण्यासुरपुरोहिता... वही, पृ० ३३६

६. संकल्पसूर्योदय, अंक २, श्लोक ८६

यतिराजविजय अथवा (वेदान्त विलास)—

यह नाटक भी श्री रामानुजाचार्य की विशिष्टाद्वैत मत पर आधारित है। संकल्पसूर्योदय विशाल, विपुल तथा बृहत् कलेवर का नाटक है जबकि यह नाटक उसकी तुलना में पर्याप्त छोटा है। संकल्पसूर्योदय में दस अङ्क हैं इसमें छः ही अङ्क हैं और ये छः अङ्क भी बहुत छोटे हैं। संकल्पसूर्योदय में विवेक के द्वारा साधक को मुक्ति दिलाने के लिए संकल्पसूर्य के उदय तक की क्रमिक साधन परम्परा का विवरण प्रस्तुत किया गया है। इसलिए संकल्पसूर्योदय में सैद्धान्तिक तत्त्वों का वर्णन गौण रूप से ही हुआ। यतिराजविजय में वर्ण्यविषय साधन की परम्परा नहीं है प्रत्युत विशिष्टाद्वैत मत की स्थापना है। इसलिए विवेक अथवा काम, क्रोध, मोहादि का इसमें स्थान नहीं है। उनके स्थान पर विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त के विरोधी सिद्धान्त ही इसमें पात्र बने हुए हैं। इसलिए अनेक मतवादों की सैद्धान्तिक समीक्षा इस नाटक में जमकर हुई है।

इस नाटक का नायक वेदमौलि अर्थात् वेदान्त है। इस प्रकार इस नाटक का क्षेत्र मनोविज्ञान या भावजगत् सम्बन्धी नहीं है। बल्कि विभिन्न वेदान्त शाखाओं तथा तत्समकक्ष अन्य दर्शनों की तुलनात्मक समीक्षा विषयक है। स्वामी रामानुजाचार्य के द्वारा किस प्रकार वेदान्त का विशिष्टाद्वैतात्मक स्वरूप प्रतिष्ठित किया जाता है — इसी का खण्डन-मण्डनात्मक चित्रण यहाँ प्रस्तुत है।[१] अतः यह नाटक भले ही अनेक दार्शनिक सिद्धान्तों के तत्त्व विचार

---

१. सर्वैर्विलुप्तविषयः सचिवैः पुरस्तात्
सम्यग्विचिन्त्य सचिवेन यतीश्वरेण।
सम्प्रापितः स्वपदवैभवमद्वितीयं
सम्राडसौ खलु भविष्यति वेदमौलिः।।
—यतिराजविजयम्, अङ्क १, श्लोक २२

को प्रस्तुत करें किन्तु इसकी प्रेरणा आध्यात्मिक न होकर ऐतिहासिक ही माननी चाहिए । अन्य प्रसिद्ध नाटकों का लक्ष्य मोक्ष साधक ही मोक्ष प्राप्ति है । जबकि इस नाटक का लक्ष्य यतिराज के द्वारा की गई विशिष्टाद्वैत की स्थापना तथा तत्परक वेदान्त की प्रतिष्ठा ही है ।[१]

तत्त्वविचार—

विशिष्टाद्वैतात्मक होने के कारण इस नाटक में भी वही तत्त्व अभिव्यक्त हुए हैं जो संकल्पसूर्योदय में बताये गए हैं । वही चिद्चिद्-विशिष्ट[२] ईश्वर, उसकी लीला[३] जीव का भोग और मोक्ष , ईश्वर की

---

१. राजा—

मायावी सचिवो निरासि महितो मानार्थसत्त्वैरहं
सम्राडस्मि समृद्धसम्पदयथावादो न वेदे क्वचित् ।
भग्नानि प्रतिदर्शनानि च ततः प्राप्ते च रामानुजे
मन्त्रित्वं मम नास्ति किंचिदधुना सम्प्रार्थनीयं मया ।

—यतिराजविजयम् ,अंक ६,पृ० ६५

२. त्रिविधचिदचित्तदीश्वर--तल्लीलाभोगमोक्षतदुपायाः ।
उपबृंहिता युवाभ्यामुपभुज्यन्ते हि सद्भिरस्यार्थाः ।।

वही, अंक ६, पृ० ८२

३. तमो यत्प्रागासीत्त्रिगुणमयमस्माच्च यदभूत्
ततो यत्त्रेधाऽऽसीद्बहुविधमतो यत्समजनि ।
ततः पंचभ्यो यत्पवनगगनाद्यात्मकमभूत्
तदेवतत्सर्वं ते भवति खलु लीलापरिकरः ।।

वही, अंक ६, पृ० ८३

अभिन्ननिमित्तोपादानरूपेणाजगत्कारणता,[१] ज्ञानक स्थूलचिद्चिद्विशिष्ट ईश्वर की संसारस्वरूपता, [illegible] भक्ति[२] से अथवा प्रपत्ति[३] से ब्रह्मानन्दानुभव[४] तथा तत्पदसेवारूप सायुज्यमुक्ति,[५] शुद्ध सत्त्वमयवैकुण्ठलोकप्राप्ति[६] इत्यादि

---

१ अ. सत्याशेषजडाजडात्मकजगद्देही बहुस्याऽमिति

स्वेच्छातो बहुधा भवन्नपि न तद्दोषेणा लिप्येत स: ।

तत्तच्छब्दधियामयं तदपृथक्सिद्धयैव विश्रान्तिभू:

देहात्मादिनयेन येन सुपथा भेदैक्यावाचोगता: ।।

—यतिराजविजयम् , अंक ६, पृ० ८८

१ ब. य: प्रत्यंचि सृजन् परांचि च महाभूतानि रक्षान् हरन्

< < <

व्याजं किंचिदपेक्ष्य रक्षाति जगद्विश्वव्यवस्थापक: ।।

— यतिराजविजयम्, अंक ६, पृ० ८८

२. अतिभूमिं गतस्स्त्रीणामनुरागो हरौ तु य: ।
स एव भक्तिरूपेण पच्यते मोक्षाकारणम् ।।

—यतिराजविजयम् , अंक ६, पृ० ६४

३. द्विजेभ्यो दीयन्तां कनकखुरशृङ्गास्सुरभय:

प्रवर्त्त्यन्तां यागा: परमपुरुषार्थप्रणयिन: ।

प्रपत्तिर्भक्तिर्वा भगवति विधीयेत मनुजै:

प्रमुच्यन्तां सर्वे प्रबलभवकारागृहगता: ।।

— यतिराजविजयम् , अंक ६, पृ० ६०-६१

४. विष्णोस्तत्पदमेत्य तत्र परमे व्योम्नि स्वयंचित् स्वराड्

भुङ्क्ते तेन विपश्चिता सह महानन्दाननन्तान् बुध: ।।

— यतिराजविजयम् , अंक ६, पृ० ८७

५. गीता—वासुदेवप्रसादपात्रं भूया: । वत्स । खाण्डिक्याय मुक्तौ किमुक्तं त्वया, परजीवयोरभेदलक्षाणां स्वरूपैक्यम् ?

जनक— न हि न हि, स्वभावैक्यम्— यतिराजविजयम् , अंक ४, पृ० ४७

दृष्टव्य , वही, अंक ४, पृ० ४६ श्लोक २

६. क्षोत्रेऽस्मिन् न कोऽपि वेत्ति पिहितं धर्मादिमार्गं तृणै:
याम्यं, किं पुनर्चिरादिम्, अमुना वैकुण्ठवर्त्मन्यपि ।

— वही, अंक ६, पृ० ८२

का वर्णन हुआ है।

वरदराज ने परपक्षसिद्धान्तोल्लेख पूर्वक उन मतों का खण्डन कराया है। केवल नाम निर्देशपूर्वक उन्हें खण्डित हो जाने पर मजबूर नहीं किया। उन मतों का युक्तिपूर्वक उत्थापन करके तब विशिष्टाद्वैतानुकूल तर्कों से उन्हें काटा गया है। इन खण्डनीय मतों में चार्वाक, माध्यमिक मीमांसक,मायावाद, योगाचार यादवप्रकाशसिद्धान्त और भास्कर मत प्रमुख हैं। इनमें भी प्रबल प्रतिपक्षता शाङ्करसिद्धान्त अर्थात् मायावाद की ही है। इनका पृथक् -पृथक् स्वरूप इस प्रकार है —

चार्वाक मत–

देह के अतिरिक्त आत्मा नहीं है। देह नष्ट हो जाने पर सारी कथा समाप्त हो जाती है। पृथिव्यादिभूतचतुष्टयके संघात में हीचैतन्य उत्पन्न हो जाता है। इनका सुखदु:ख ही स्वर्ग और नरक है। परलोकादि कुछ नहीं है। प्रत्यक्ष के अतिरिक्त कोई प्रमाण नहीं है।[१]

माध्यमिक मत–

बाह्य और आभ्यान्तर सभी वस्तुएं यहां तक कि ज्ञान भी

---

१. भुङ्क्ते वेत्ति च देह एव समहाभूतानि तेष्वेव धी:
किण्वादौ मदशक्तिवत् कृतुफलम् भोक्ता न कोऽपि स्थित:।
दग्ध: किं पुनरभ्युपैति नियमो न क्वापि जीवेत्सुखं
यावज्जीवति दैवतम् नरपति: न्यायो बलं केवलम्॥

—यतिराजविजयम्, अंक २, पृ० १६, श्लोक १

असत् एवं तुच्छ है। सब कुछ शून्य है। सारा संसार कुछ नहीं है।[१]

<u>मीमांसक मत</u>-

शब्द ही परम प्रमाण है। सारा संसार सत्य है। ईश्वर नाम की कोई चीज़ नहीं है। अन्यलोक भी नहीं है केवल स्वर्ग, नरक और मृत्युलोक है। कर्म ही सर्वफलदाता है।[२]

<u>मायावाद</u>-

जीव और ब्रह्म एक हैं। वही आत्मा है। सारा संसार मिथ्या प्रपंचमात्र प्रपंच मात्र है। सकल दृश्य मान वस्तु असत् एवं अध्यस्त है। ज्ञेय कुछ नहीं है। ज्ञान या संविद ही सत्य है वही ब्रह्म है। उसके अतिरिक्त सब

---

१. यद्वैभाषिकभाषितं यदपि वा सौत्रान्तिकैस्सूत्रितं
योगाचारविचारणा च सरणि: सिद्धान्तसौधस्य न:
तद्ज्ञानं च मृषैव विश्ववदिति व्यक्तं ब्रुवन्निर्भयो
मत्पार्श्वे भव नान्यथा तव गति र्विश्वापलापार्थिन: ।।

-यतिराजविजयम् , अंक ५, पृ० ७२, श्लोक ३२

२. शब्दैकशेषवपुषस्सकलाश्च वेदा:
विश्वं निरीश्वरमिदं न परे च लोका: ।
कर्मैव सर्वफलदं कृषिवन्नराणा-
मित्यादि चिन्तयति वैदविचार एष: ।।

-यतिराजविजयम्, अंक २, पृ० १८, श्लोक ४

केवल मिथ्या है।[१]

योगाचार मत—

यह बौद्ध मत भी मायावाद के ही सदृश है। अन्तर केवल यह है कि मायावाद का चित् या आत्मतत्त्व नित्य है जबकि योगाचार मत का चित् तत्त्व क्षणिक है।[२]

यादवप्रकाश मत—

ब्रह्म सत्यचिदचिदीश्वरात्मक है। तत्च्छक्ति से वह परिणत होता है जैसे जल फेन रूप से परिणत होता है। उसके इस भिन्न रूपत्व का ज्ञान ही

---

१. अ. तत्त्वमसीति ब्रुवती श्रुतिरेव श्वेतकेतुमुद्दिश्य।
परजीवयोरभेदं ब्रुवतस्ते भवति विक्रमपताका ।।

—यतिराजविजयम्, अंक २, श्लोक १६,पृ०२२

ब. यस्मिन्नध्यस्तमेतत्त्रिभुवनमखिलं यच्च पश्यत्यविद्या-
मुग्धं स्वाध्यस्तमेतद्यदपि निजवपुर्वीक्षणे मुच्यते यत्।
ज्ञानं ज्ञेयादिहीनं भवति यदपदं संविदां निर्विशेषं
सत्यं तद्ब्रह्म मिथ्या, तदितरदखिलं कोऽन्यथा वक्तुमीशः ।।

— यतिराजविजयम्, अंक ५, पृ०, ६७

२. चिन्मात्रमावयोस्तत्त्वं मिथ्यैवऽऽविद्यकं जगत्।
तत्तु मित्रस्य मे नित्यं चिन्मात्रं क्षणिकं मम ।।

—यतिराजविजयम्, पंचम अंक, पृ० ७

संसार है। ज्ञान कर्मसमुच्चय से भेदज्ञान का नाश मोक्ष है। चैतन्य अप्रकाश है[१]।

भास्करमत—

ब्रह्म एक है। उपाधिभेद से भिन्न रूप में जीव होकर प्रकाशित होता है। यह उपाधि सच्ची होती है। जीवदशा में विपत्तियाँ रहती हैं और ब्रह्मदशा में आनन्द रहता है। ब्रह्म के साथ जीव का ऐक्य ही मुक्ति है। यह ऐक्य उपाधिक्षय होने पर ही सम्भव है। यह उपाधिक्षय कर्मज्ञानसमुच्चय से ही होता है।[२]

खण्डन—

इन मतों का खण्डन भी युक्तियुक्त ढङ्ग से कराया गया है। सारे संसार को शून्य कहना वदतोव्याघात है। अगर सब कुछ झूठ ही है तो सं-

---

१. ब्रह्मैकं तत्त्वमेतद्बहुविधचिदचितन्नियन्तृप्रभेदात्
तत्तच्छक्तिस्वरूपं परिणमति यथा वारिफेनादिरूपम्।
सत्त्वं सर्वानुवृत्तं मणिषु परिमलन्यायतो चित्पदार्थे
चैतन्यं त्वप्रकाशं श्रुतिरिह विषये स्थापिता यादवेन ।।

—यतिराजविजयम्, अंक ५, पृ० ७३

२. ब्रह्मैकं सदुपाधिभेदमिदुरं जीवत्वमभ्येति तत्
जीवत्वे च विपत्त्यनुपहितं ब्रह्मैव शान्तं शिवम्।
ब्रह्मैक्यं खलु मुक्तिरेतदखिलोपाधिक्षये देहिनां
कर्मज्ञानसमुच्चयादियमिति त्र्यन्तराज्यस्थितिः ।।

—यतिराजविजयम्, अंक ५, पृ० ७५

तो सांप में विष क्यों होता है ? इस प्रकार शून्यवाद[१] का खण्डन किया गया है। मायावाद का खण्डन करते हुए ये तर्क दिए गए हैं कि जैसे सूर्य में अन्धकार अध्यस्त नहीं हो सकता वैसे ज्ञानरूप ब्रह्म में अज्ञान कैसे अध्यस्त हो सकता है।[२] निर्विशेषवाद भी स्ववचोव्याघात है। तत्त्व को एक ओर निर्विशेष कहना दूसरी ओर इदमित्थम्रूप से उसका निरूपण करना — अपनी मां को वन्ध्या करने के समान व्यर्थ का तर्क है।[३] इस प्रकार शांकरमत का खण्डन किया गया है।

यादव मत के ब्रह्म परिणामवाद को वेदविरुद्ध कहा गया है त ब्रह्म परिणामवाद और जीवनित्यत्ववाद की असंगति भी स्फुट की गई है

---

१. स्वाग्विरोधस्सत्या चेत् सर्वं शून्यं मृषेति वाक्।
सर्वं जीवत्यसत्या चेत् मृषासर्वेऽस्ति किं विषम् ।।
--यतिराजविजयम् , अंक ५, पृ० ७२

२. नाध्यासः स्वप्रकाशे तिमिरमिव रवौ ज्ञानबाध्या च माया
न ब्रह्मज्ञानरूपं स्थगयति न ततो बन्धमोक्षौ च तस्य।
न ज्ञानं ज्ञेयहीनं न सदमतिपदं निर्विशेषं न किंचित्
सत्यं स्यान्मानसिद्धं जगदपि न यदि स्वोक्तिबाधादयस्स्युः ।।
— यतिराजविजयम् , अंक, ५, पृ ६८

३. इदमित्थमिति ज्ञेयं निर्विशेषमिति ब्रुवन्।
माता बन्ध्या ममेत्यत्र हन्त लज्जेत किं भवान् ।।
— यतिराजविजयम् , अंक ५, पृ०६६

४. निर्विकारश्रुतिर्ब्रह्म सविकारं न मृष्यति।
जीवनित्यत्ववादोऽपि तत्कार्यत्वे प्रकुप्यति ।।
—यतिराजविजयम् , अंक ५, पृ० ७३

भास्कराचार्य के मत पर आनन्दस्वरूप ब्रह्म को जीवरूप से वास्तविक दु:ख भोक्ता मानने के कारण जोरदार कटाक्ष किया गया है।[१] इतिहास, पुराण, इत्यादि को वेदान्त का समर्थक कहा गया है। मायावाद ही विशिष्टाद्वैत का प्रबलतम विरोधी है उसका खण्डन हो जाने पर वेदान्त सम्राटवत् समृद्ध होता है। अन्य विरोधी दर्शन आपसे आप शान्त हो जाते हैं।[२]

चैतन्यचन्द्रोदय—

कवि कर्णपूर परमानन्ददास विरचित चैतन्यचन्द्रोदय महाप्रभु चैतन्य को ईश्वरावतार के रूप में प्रतिष्ठित करता है। साथ ही उनके द्वारा प्रवर्तित 'अचिन्त्यभेदाभेदवाद' नाम से विख्यात वेदान्त सम्प्रदाय के सिद्धान्तों का प्रकाशन भी करता है। इस मत में अन्तिम तत्त्व परब्रह्म है जो निर्विशेष है। अद्वैत है। सविशेष रूप में स्थित यही तत्त्व सच्चिदानन्दघन है, नित्यलीला युक्त है। इस सविशेष रूप का नाम है, भगवान श्रीकृष्ण है।[३] इस तत्त्व

---

१. बहुधा जीवरूपेण दु:ख्यतीति पर: पुमान्।
जल्पन्ती तव जिह्वेयं शतधा किं न शीर्यते ?॥

-- यतिराजविजयम्, अंक ५, पृ० ७५

२. मायावीसचिवोनिरास ..... इत्यादि

--द्रष्टव्य, वही, पृ० ६५, अंक ६

३. सच्चिदानन्द घनविग्रहो नित्यालीलोल्लसिभगवान्भगवांश्रीकृष्ण एव सविशेषं .... तत्त्व तस्योपासनं सनन्दनाद्युपगीतमविगीत मविकल: पुरुषार्थ: ।

—चैतन्यचन्द्रोदयम्, पृ० ४, अंक १

की उपासना भक्तियोग, जिसमें नाम संकीर्तन प्रधान है[१] के द्वारा सम्भव है। इस भक्तियोग से पार्षद भाव प्राप्त होता है यही मोक्ष है।[२] इस मत के अनुसार चैतन्य के रूप में भगवान श्रीकृष्ण का अवतार हुआ है। वैसे तो इस मत में परब्रह्म के अनेक अवतार स्वीकार किए गए हैं।[३] परन्तु भगवान श्रीकृष्ण का स्वरूप इसमें सर्वप्रधान स्वीकृत किया गया है। यद्यपि ज्ञान इत्यादि के मार्ग भी मोक्ष के लिए स्वीकार किए गए हैं तथापि भक्ति ही भगवान को अधिक प्रिय है।[४] श्रीकृष्ण के साथ साथ राधा को भी परब्रह्म के रूप में स्वीकार किया गया है। वस्तुतः राधाकृष्ण दोनों रूप में परब्रह्म प्रकट होता है। भक्ति दो

---

१. तस्य ब्रह्म नाम संकीर्तनप्रधानं विविधभक्तियोगमाविर्भावयितुं भगवांश्चै ... . चैतन्यरूपीभगवन्नाविरासीत्।

— चैतन्यचन्द्रोदयम्, पृ० ४, अंक १

अ. अतः खलु कलौ नाम नामसंकीर्तनमेव पुरुषार्थाभासकतातिरस्कारि पुरस्कारि रत्याख्यभावस्य।

— वही, अंक १, पृ० ५

२. सूत्रधारः— (विहस्य) मुक्तिशब्दोऽत्र पार्षदस्वरूपपरः। यतस्तत्रैव सद्यः स्वरूपं जगृहे भगवत्पार्श्ववर्तिनाम्।

— वही, पृ० ५, अंक १

३. भक्तिदेवी —एवं बुद्धवराहनारसिंहमुक्ततरावदाराणामारं क्रमेण कदुग्र गदे दिग्रहे अहेतुकरुणा णिच्चाणन्दरस्स कुलभुग्रं रूअं तेण दंसिदम्।

— वही, अंक २, पृ० ३३

४. भगवान् —अथ किम्। सत्सु ज्ञानादिमार्गेषु भक्तिरेव विष्णोः प्रिया।

वही, अंक २, पृ० ३७

प्रकार की है – पहली शास्त्रीय भक्ति और दूसरी अनुराग भक्ति । पहिली में विधि इत्यादि शास्त्रीय नियम स्वीकार किए जाते हैं, दूसरी में स्वतंत्र नियमहीन प्रेम का बाहुल्य होता है ।[1] सविशेष ब्रह्म कृष्ण का नित्यधाम वृन्दावन स्वीकार किया गया है । नित्य, चिन्मय, निर्विशेष ब्रह्म अपने सविशेष रूप में वृन्दावन में उपस्थित होते हैं । यद्यपि प्रमाणरूप से प्रत्यक्ष, उपमान , अनुमान, शब्द, अर्थापत्ति और ऐतिह्य आदि प्रमाण स्वीकृत किए जाते हैं । तथापि भगवान के वास्तविक स्वरूप और पूर्ण लीला को बिना भगवान् की कृपासे उत्पन्न ज्ञान के नहीं जाना जा सकता ।[2] भक्तियोग के लिए सर्वत्याग आवश्यक है ।[3] इस भक्ति योग को प्रतिस्थापित करने के लिए ही कृष्णचैतन्य

---

१. शास्त्रीय: खलु मार्ग: पृथगनुरागस्य मार्गोऽन्य: ।
प्रथमोऽर्हति सनियमतामनियमतामन्तिमो भजते ।।

–चैतन्यचन्द्रोदय, अंक ३, पृ० ४६, श्लोक

२. .... वस्तुतस्तु कोटिकोटिजगदण्डघटघटनविघटननाटकपरिपाटी-पाटवस्य निजचरितललितकीर्तिसुधाधाविततजगज्जनहृदयावटघटमानतम:काटवस्य भगवतस्तस्यैव लीलायितं खलु प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दार्थापत्त्यैतिह्यादि-प्रमाणनिवहैरपि न प्रमातुं शक्यते विना तस्यैवानुग्रहजन्यज्ञानविशेषम् ।

–वही, अंक ४, पृ० ७३

३....... विना सर्वत्यागं भवति भजनं न ह्यसुपते-
रिति त्यागोऽस्माभि: कृत इह किमद्वैतकथया ।
अयं दण्डो भूयान्प्रबलतरसो मानसपशो-
रितीवाहं दण्डग्रहणमविशेषादकरवम् ।।

–वही, अंक ५, पृ०९६, श्लोक २२

का आविर्भाव हुआ है। इस मत में निर्विशेष ब्रह्म और सविशेष ब्रह्म के दोनों रूप स्वीकार किए गए हैं। केवल निर्विशेष ब्रह्म मानने में शून्यवाद का अवसर आ जाता है।[1] इसलिए ब्रह्म का उभयविध रूप स्वीकार किया गया है।[2] उनमें से ब्रह्म का सविशेष रूप बलीयान माना गया है।[3] यही मूर्तानन्द या मूर्तब्रह्म है, यही कृष्ण हैं।[4] इसी से जीव की सृष्टि होती है।[5] जीव और

---

१. केवलनिर्विशेषत्वे शून्यवादान्तर: प्रसज्येत। तेन ब्रह्मशब्दो मुख्य एव मुख्यत्वेन भगवान्‌श्लिष्टम्। तथा च ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते स्वपक्षारण्यग्रहग्राहिलास्तु मुख्यार्थाभावाभावेऽपि लक्षणाया निरूपयितुमशक्य-मपि निर्विशेषत्वं ये प्रतिपादयन्ति तेषां दुराग्रहमात्रम्।

—चैतन्यचन्द्रोदय, अंक ६, पृ० १२१

२. ‘द्वे ब्रह्मणी तु विज्ञेये मूर्तं चामूर्तमेव च।
मूर्तामूर्तस्वभावो यं ध्येयो नारायणो विभु: ।।

—वही, अंक ७, श्लोक ४१, पृ० १२२

इतिपांचरात्रिकमतमेव निर्मत्सरम्। केवलनिर्विशेषब्रह्मवादिनस्तु ‘अमूर्तानन्दमेव ब्रह्म’ इति निरूपयन्त: स्ववासनापारुष्यमेव प्रकटयन्ति। न तु ते निर्विशेषत्वं स्थापयितुं शक्नुवन्ति। पांचरात्रिकमतस्वीकारे तु ‘आनन्दं ब्रह्मणो रूपम्’, ‘एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म’ इत्यादि च सिद्ध्यति।

--वही, अंक ७, पृ०१२२

३. याया श्रुतिर्जल्पतिनिर्विशेषं सा साभिधत्ते सविशेषमेव।
विचारयोगे सति हन्त तासां प्रायो बलीय: सविशेषमेव ।।

वही—अंक ६, श्लोक ३७, पृ० १२१

४. तस्मादेव जीवसृष्टिरित्यर्थ:। अतो मूर्तानन्द एव कृष्ण इति शास्त्रार्थ:

वही, अंक ७, पृ० १२२

५. द्रष्टव्य, वही, अंक ७, पृ० १२२

ब्रह्म में भेद भी है और अभेद भी है।[1] यह भेदाभेद तर्क से पर है इसीलिए इसको 'अचिन्त्यभेदाभेद' कहते हैं। लोकव्यवहार में यह सिद्धान्त कट्टरवादिता के विरुद्ध है।जो लोग स्त्रीजन अथवा विषयीजनों के विरोधी हैं श्रीकृष्णचैतन्य उनको वैसा करने से रोकते हैं।[2] नीच जातियों को भी इस भक्तिमार्ग में वही उत्कृष्ट स्थान है जो उत्कृष्ट जातियों को।[3] श्रीकृष्ण के वृन्दावनधाम में नित्य रूप से निवास और नित्यप्रमोद ही इस मत के अनुयायियों का अन्तिम लक्ष्य है।[4] यहीं उनका मोक्ष है। इससे भिन्न धर्म, अर्थ, काम अथवा मोक्ष की उनको चाह नहीं होती।[5]

---

१. खण्डानन्दा रसा: सर्वे सोऽखण्डानन्द उच्यते।
अखण्डे खण्डधर्मा हि पृथक्पृथग्विवासते।।

—चैतन्यचन्द्रोदय, अंक, ३, पृ० ४४

२. आकारादपि भेतव्यं स्त्रीणां विषयिणामपि।
यथाहेर्मनस: क्षोभस्तथा तस्याकृतेरपि।।

यद्येवं पुनरुच्यते तदात्र न पुनरहं द्रष्टव्य:।

—वही, अंक ८, पृ० १४५-४६

३. अदर्शनीयानपि नीचजातीन्स वीक्षते चारु तथापि नो माम्।
मदेकवर्जं कृपयिष्यतीति निर्णीय किं सोऽवततार देव:।।

— वही, अंक ८, पृ० १४७

४. वृन्दारण्यान्तरस्थ: सरसविलसितेनात्मनात्मानुमुच्चै-
रानन्दस्यन्दबन्दीकृतमनसमुरीकृत्य नित्यप्रमोद:।
वृन्दारण्यैकनिष्ठान्स्वरुचिसमतनून्कारयिष्यामि युष्मा-
नित्येवास्तेऽवशिष्टं किमपि मम महत्कर्म तच्चातनिष्ये।।

—वही, अंक १०, पृ० २०६, श्लोक ७२

५. अस्माकं तु— धर्मार्थकामेषु पुरैव कुत्सा लिप्सा न मोक्षस्य च कर्हिचिन्न:
एभि: समस्तैस्तव दैव लोकैर्लोकान्तरेऽप्यस्तु सहैव वास:।।

—वही, अंक १०, श्लोक ७१

अमृतोदय —

आचार्य गोकुलनाथ कृत अमृतोदय नाटक पूर्ण रूप से दार्शनिक नाटक है। नाटकीयता इसमें नाम मात्र की है। अन्य दार्शनिक प्रतीक नाटकों में जहां भक्ति या लगाव है वहां फिर भी कुछ आध्यात्मिकता का दर्शन हो जाता है किन्तु इस नाटक में जो न्यायशास्त्र के आधार पर लिखा गया है, केवल शास्त्रीय सिद्धान्तों का अक्षरानुकूल प्रतिपादनमात्र हुआ है। नव्य न्याय के प्रसार से प्रमाणों पर विपुल चिन्तन हुआ। और न्यायशास्त्र केवल तर्कशास्त्र अथवा प्रमाणशास्त्र के रूप में ही प्रकट होने लगा। प्रमेय तत्त्व-विचार तथा मोक्ष नामक पुरुषार्थ की प्राप्ति उसके दृष्टि से ओझल हो चले। इन्हीं लुप्यमान तत्त्वों के साथ न्यायशास्त्र का सम्बन्ध प्रतिपादित करने के लिए तथा न्यायशास्त्र की आध्यात्मिकता को भी अक्षुण्ण रखने के लिए कदाचित् यह नाटक लिखा गया है। न्यायशास्त्र वैदिक होने पर भी वेद के साथ अपनी अन्विति नहीं कर सका था। इस अन्विति का प्रदर्शन भी इस नाटक का एक मुख्य लक्ष्य प्रतीत होता है।

इस नाटक के अंकों का विभाजन श्रवणसम्पत्ति, मननसिद्धि, निदिध्यासन, धर्मसम्पत्ति, आत्मदर्शन और अपवर्ग प्रतिष्ठा नाम के पांच अंकों में किया गया है जिसके मूल में श्रुति की यह पंक्ति उपस्थित प्रतीत होती है — "आत्मावारे द्रष्टव्य:, श्रोतव्य: , मन्तव्य: निदिध्यासितव्यश्च।" प्रस्तावना का नाम साधनचतुष्टयसम्पत्ति है। जिससे सिद्ध होता है कि —

१— नित्यानित्यवस्तुविवेक [1]

---

१. प्रसरति विषयेषु येषु राग:
परिणमते विरतेषु तेषु शोक:।
त्वयि रुचिरुचिता नितान्तकान्ते
रुचिपरिपाक शुभाग्गोचरोऽसि ।।
— अमृतोदय, अंक १, श्लोक-६

२. इहामुत्रफलभोगविराग ।[१]

३. शमदमादि साधनसम्पत्ति[२] और

४. मुमुक्षुत्व[३]

इन चार साधनों के होने पर ही श्रवणआदि का अधिकार होता है। ये चारों साधन मोक्ष मार्ग की श्रवणादि साधना के भी पूर्ववर्ती तथा मूलाधार।

प्रथम अष्टक में तत्त्वों का संक्षिप्त कथन तथा विरोधी शास्त्रों के विरोध तथा अविरोध का संक्षिप्त प्रदर्शन किया गया। और द्वि० अष्टक में न्यायशास्त्र आचार्यों के नाम से विरोधी विचार तथा मतवाद शान्त कराये गए हैं। तृतीय अष्टक में श्रद्धा, निर्वेद तथा विविदिषा इत्यादि से युक्त साधक के पतंजलि निर्दिष्ट पथ से निदिध्यासन की प्राप्ति करायी गई

---

१. मुहुर्मिहिरतप्तेन सोमपात्रेण संभृतम् ।
न लिप्से राहुमार्जारपीतोच्छिष्टां सुधादधि ।।

— अमृतोदय, अंक १, श्लोक १८

२. .... शममाश्रित्येह बधान धृतिमुपजापदु:स्थितो देवे महामोहे ।
विरागाक्रान्तेषु भोगविषयेषु निभृतनिवास एव भावस्य शोभते ।

— अमृतोदय, अंक १, पृ० १५

३. जननि तव पुमर्था एव पादा: प्रथन्ते
प्रथमचरणलब्धो निर्भरं रोमि वत्स: ।
चरमचरणमूलप्रस्नुतां स्तन्यधारा-
ममरगवि कदा ते मुक्तावन्ध: पिबेयम् ।।

— अमृतोदय, अंक १, श्लोक ११

है। चतुर्थ अङ्क में साधक को पुरुषोत्तम का साक्षात्कार अर्थात् ब्रह्म का पूर्ण साक्षात्कार होता है। पंचम अङ्क 'अपवर्ग प्रतिष्ठा' का है जिसमें भारतीय दर्शन के अपवर्ग विषयक विविध सिद्धान्तों की आलोचना-प्रत्यालोचना के साथ न्यायमतानुसारी अपवर्ग प्रतिपादित किया गया है। इस प्रकार से पूरे ग्रन्थ का परिशीलन करने पर नाटककाराभिमत ये सिद्धान्त प्रकाश में आते हैं।—

तत्त्वविचार—

यद्यपि यह संसार प्रवाह अनादि है तथापि वर्तमान सकल संसार की सृष्टि, उसका पालन और प्रलय करने वाला, अज्ञान को उत्पन्न करने वाला और स्वयं अपने ज्ञान के द्वारा उस अज्ञान को मिटा सकने वाला[1] वेदों का रचयिता[2] चरम तत्त्व है। वह पुरुषोत्तम है, वाणी तथा मन से अगोचर है है प्राणियों के हृदय में अन्तर्यामी रूप से रहता है।[3] वह असंख्य ब्रह्माण्डरूपी

---

१. ब्रह्माण्डबिन्दुगणवर्षणवारिवाह
वज्रं च मुंचसि निषिंचसि जीवनं च।
सृष्टं त्वया स्वपरदृष्टिविलोपकष्ट
निमार्ष्टुमर्हति तवैव विवेकविद्युत् ॥
— अमृतोदय, अंक १, श्लोक १

२. " " "
निगमकवेस्तव नाटकप्रबन्धः ॥
— अमृतोदयम, अंक १, श्लोक २

३. सूत्रधारः— नन्वेष वाङ्मनसयोरगोचरोऽपि
ब्रह्माण्डबिन्दुतिलजालवहो विहीनः
सर्वेन्द्रियैर्विकलकर्मशरीरबन्धः।
दृश्यो मे प्रविशति श्रुतिदर्शितेन
मार्गेण कोऽपि जगतीप्रपितामहोऽसौ ॥
—अमृतोदय, अंक १, श्लोक १४, पृ० २६-२७

उदुम्बरफलों को उत्पन्न करता है। अन्त में वे सभी ब्रह्माण्ड उसी में लीन हो जाते हैं।[१] सृष्टि के आदिकाल में परमाणुओं को परस्पर मिलने के लिए उसी पुरुषोत्तम की चेष्टा ही प्रेरित करती है। वेदवचनों के निर्माता उसी पुरुषोत्तम की आज्ञा ही मनुष्यों को यज्ञादि में प्रवृत्त करती है।[२] जिससे उसकी सत्ता कार्य, वाक्य, संख्या, श्रुति, पद, धृति, प्रत्यय और आयजन हेतुओं से सिद्ध होती है। वह सकल कार्यों का आदि कर्ता, संसार तथा वेद का धर्ता, संसार का आश्रय, तथा चैतन्य की राशि है।[३] उसे ईश्वर या परमेश्वर भी कहते हैं। वह स्वामी है बाकी सब जीव पराधीन हैं। जीव नाना शरीरों में भ्रमण करता रहता है और नाना भोगों को प्राप्त करता है।[४]

---

१. निगमवनवनस्पते प्रसूते
 कति जगदण्डमयान्युदुम्बराणि ।
 दधति सकलजन्तुजालमन्त:
 पुनरपि तानि लयं त्वयि प्रयान्ति ।।
 — अमृतोदय, अंक १, श्लोक २१

२. भुवनघटनभङ्गौ निर्मिमाणस्य यस्य
 प्रभवति परमाणुप्रेरणाय प्रयत्न: ।
 परिणतिहितहेतो विश्ववृत्तिं विधत्ते
 विधिवचनविधातुस्तस्य पुंसो नियोग: ।।
 — अमृतोदय, अंक ३, श्लोक ६

३. यस्य त्रैगुण्यशक्तिप्रढिमभरवत: सिद्धिलिङ्गानि कार्यं
 वाक्यं संख्याविशेषश्रुतिपदधृतय: प्रत्ययायोजने च ।
 कर्ता कार्यस्य धर्ता भुवननिगमयो: संप्रदायप्रवक्ता
 विश्वस्याश्वासमूलं स जयति पुरुषश्चैतनाराशिरेक: ।।
 — अमृतोदय, अंक ३, श्लोक १०

४. पुरि पुरि विहरामहे भ्रमन्त: पुरहर पश्यसि भोगवंचितोऽस्मान् ।
 किमिति न विहरेम नाथवन्तो वयमितरे त्वमनाथ एक एव ।।
 — अमृतोदय, अंक ४, पृ० १५५ श्लोक ६

ईश्वर की चेतना का कोश अक्षय्य है।[१] वह नित्य ज्ञानवान है, साक्षी है। माया उसकी अनुवर्तिनी है, वह प्रकृति चपला है उसके विकारों द्वारा जीव नाना मूर्तियों में वशीकृत होता रहता है।[२] यह प्रकृति भी अनश्वर है, सकल विकारों को उत्पन्न करने वाली है। ईश्वर उसका स्वामी है अतः उससे अविकृत रहता है। जीव उस प्रकृति का भोग कर्ता है।[३] अपनी लीला से परिगृहीतशरीर वाले ये ईश्वर शिव रूप हैं।[४] वह संसार का आधार है उसका कोई अधिकरण नहीं।[५] वह संसार का आधार है उसको धारण करने वाला कोई नहीं। ईश्वर संसार का निमित्त कारण है उपादान कारण

---

१. प्रतिजनमितरै सुदीर्घनिद्राप्रवणाधियस्त्वयि नित्यजागरूकेऽतन्द्रे।
तदपहरणसंचितो न जातु व्ययमुपगच्छति चेतनानिधिस्ते॥
— अमृतोदय, अंक ४, श्लोक १३

२. विगतविपरिलोपदृष्टि पश्यन्वशयसि यं पुरुषप्रकाण्ड मायाम्।
प्रकृतिचपलया तया विकारैर्बहुविधकारिकया वशीकृताः स्मः॥
— अमृतोदय, अंक ४, श्लोक २०

३. प्रकृतिरियमनश्वरस्वभावा सृजति नितान्तमसौ यतो विकारम्।
अविकृतमभिपश्यतः सतस्ते सह रमते ह्यनया सखा त्वदीयः॥
— अमृतोदय, अंक ४, पृ० १६६, श्लोक २१

४. तेन हि लीलापरिगृहीतगिरिशविग्रह राजखण्डचूडामणौ।

— अमृतोदय, पृ० १७४ अंक ४

५. पुरुषोत्तमः—वत्स, विश्वाधारस्य किमधिकरणम्। ऐश्वर्यसहायस्य किमुपकरणमन्विष्यसि। परिभावय तावत्सर्गलीलाम्।
— अमृतोदयम्, अंक ४, पृ० १६०

६.

परमेश्वर में विलय नहीं होता बल्कि ईश्वर के साथ जीव का भेदाभेद टाटस्थ से एकात्म भाव ही रहता है।[1] अपवर्ग दशा में वैषयिक तथा स्वर्ग आदि सुखों से की यह ईश्वराभेदरूपी परमानन्द भी बाधक है[2]। अत: इस आनन्द कक्षा को पार करके कैवल्यभूमि में अपवर्ग की प्रतिष्ठा है।[3] यही न्याय शास्त्र की अपवर्ग स्थिति है। इस स्थिति में बुद्धि, शरीर, विषय, इन्द्रिय सभी प्रकार के सुख इत्यादि दु:ख को पार करके विवेकीपुरुष केवल आत्मविद्या से विद्योतित स्वरूप वाले अपवर्ग में प्रतिष्ठित होता है —

बुद्धि: शरीरं विषयेन्द्रियाणि सुखं च दु:खैकनिकेतनानि ।
विवेकिने केवलमात्मविद्याविद्योतितात्मा स्वदतेऽपवर्ग: ।।[4]

इस नाटक में पक्षता और परामर्श के मिलन से अनुमिति का जन्म दिखाया गया है। यह पक्षता संसय, और अनुमित्सा की कृत्रिम कन्या कही गयी है। परामर्श न्याय का प्रथम पुत्र बताया गया है।[5] पक्षता को

---

१. पुरुषोत्तम: — न संभवति नित्ययोरावयोरेकतरस्यापि विलय: । तन्मया सह भेदाभेदताटस्थ्येन निखिलेतरविषयपरिहारेण च स्वमात्मानमनुशीलय । अहमपि तत्त्वतो ज्ञात: स्वात्मसाक्षात्कारस्योपकरोमि पुरुषाणामिति । — अमृतोदय, अंक ४, पृ० २२१

२. अयमानन्दसमुदोऽनुषङ्गलभ्यो हेय एव दृष्टान्तविकानन्दवदपवर्गपान्थानाम् ।
सुखकाम: परानन्दमप्राप्यैकिमिच्छति ।
अभावे मतकाङ्क्षिण्या दृष्टा तिर्यक्षु कामिता ।। वही, श्लोक८२,अं

३. तदिमानन्दकक्षामतिक्रम्य कैवल्यभूमौ निर्वाणं नामापवारकमाश्रित्य विश्राम्यतु भवान् । — वही, पृ० २२७, अंक ४

४. वही, अंक ५, श्लोक १२पृ २४६

५. कथा .... स्वीकृतप्रमाणसमवायस्य न्यायस्य प्रथमपुत्राय गौतमगोत्राय तुभ्यमयोनिजन्मा संशयानुमित्सयोरपत्यकृतिका पक्षता नाम कन्यका प्रतिपाद्यते ।

— वही, अंक २, पृ० ८०

न स्वीकार करने वाले तथा परामर्श के दो खण्ड मानने वाले कुमारिल तथा प्रभाकर के मत को उदयन के द्वारा अपमानित कराया गया है[1]। पूरे द्वितीय अंक में अनुमानविषयक न्यायानुकूल प्रमाण मीमांसा की गयी है। नानाप्रकार के कटाक्ष वैशेषिक दर्शन, सांख्य दर्शन और मीमांसा इत्यादि पर किये गये हैं। चार्वाक दर्शन, बौद्ध दर्शन, सोम-सिद्धान्त आदि की दुर्दशा, गौतम, वात्स्यायन, उद्योतकर, वाचस्पति, उदयन तथा वर्धमान के हाथों करायी गयी है। कापालिक, नीललोहित, महाभैरव, भूतडामर और उमामहेश्वर इत्यादि सिद्धान्त बिना संघर्ष के ही युद्ध से भागते हुए बताये गये हैं[2]। योगदर्शन की सहायता निदिध्यासन के प्रसंग में ली गयी है।

---

१. कथा— इमौ किल कुमारिलप्रभाकरौ परान्पराभवन्तमुदयनमनुसृत्य मन्त्रयेते 'भ्रातरुदयन, किमात्मानमायासयसि। हरन्तु पक्षतां किल खण्डयन्तु परे परामर्शम्। ननु द्विधाविभक्ततनुरप्यासौ पक्षतया धर्मदारैविनापि प्रभवति जनयितुमयौनिजां निजामनुमितिम्' इति।

परामर्शः— इमौ कुमारिलप्रभाकरौ स्मितपूर्वमुदयनेनावधीरितौ कोपकपिलाननौ भूत्वा मां सदारं शपतः —

—अमृतोदय, अंक २, पृ० ६०-६१

२. अ. आन्वीक्षिकी —ततः प्रावर्तत तुमुलमायोधनम्। केऽपि तातगौतमप्रयुक्तसूत्रपाशबद्धाः केचन वत्सवात्स्यायनभाषणतर्जिताः, केचिदुद्द्योतकरवचोविवरणात्रस्ताः, कतिचन वाचस्पतिना प्रसह्य पराभूताः परे परितः पलायन्त समरभूमेः उन्मोचिता चाखण्डकलेवरा प्रमितिः। इतः परमादिशतु भवती किमनेन जनेनोपपादनीयमिति।

ब. कथा— दृढासिप्रहारपतिते सोमसिद्धान्ते कापालिकनीललोहितमहाभैरवभूतडामरोमामहेश्वरादयो रणादपक्रान्ताः।

पूरे तृतीय अङ्क में योगसूत्रकार पतंजलि छाये हुए हैं। बौद्ध, जैनदर्शनों को आन्वीक्षिकी के द्वारा दौवारिक दर्शन कहा गया है।[१] शैव तथा वैष्णव के मोक्ष विषयक सिद्धान्तों को असामयिक और भ्रान्त बताय गया है[२]। मोक्ष के सम्बन्ध में मीमांसक मत के लिए भी कोई अवकाश नहीं दिया गया है।[३] ज्ञान कर्मसमुच्चय के द्वारा मोक्ष मानने वाले यादवप्रकाश और भास्कर के सिद्धान्त तथा ज्ञानमात्र से स्वरूपलाभरूपी मोक्ष को मानने वाले शांकर वेदान्त के अपवर्ग को वास्तविक मोक्ष से भिन्न बताया गया है किन्तु अधिक तिरस्कार नहीं किया गया है।[४] सांख्ययोगाभिमत कैवल्य को आत्मा का निष्प्रकारक आलोचन कहकर वास्तविक अपवर्ग नहीं माना गया[५]

---

१. आन्वीक्षिकी—(सक्रोधम्) अरे दौवारिकदर्शनानि, निरुध्यन्तामभी पाखण्डाः। ।

—अमृतोदय, अंक ५, पृ० २३७

२. आन्वीक्षिकी—अरे, स्वर्गप्रभेदेष्वपवर्गाभिमानिनोरुपासना भक्तिश्च निःश्रेयसोपाय इत्यापतितौ भ्राम्यतोर्भवतोर्भविष्यति काले विज्ञानाधिकारः।

—वही, अंक ५, पृ० २४१

३. पाशुपतवैष्णावसिद्धान्तकर्मकाण्डाः—नास्त्यवकाशोऽस्माकमिह।

वही, अंक ५, पृ० २४१

४. तदयं जीवन्मोक्षा पवर्गस्य द्वारि तिष्ठतु। (वत्से बादरायणि), त्वमेनमेकं दण्डं गृहीत्वा प्रतिपालय।

—वही, अंक ५, पृ० २४६

५. श्रुतिः—नन्वयं कैवलस्यात्मनो निष्प्रकारकमालोचनं नाम ब्रह्मबोधो पवर्गस्य पितापि चपलप्राणतया नाभिषिच्यते।

—वही, अंक ५, पृ० २४८

एकविंशतिप्रभेददु:ख निर्वाणरूपी विवेकपुत्र अपवर्ग जोकि न्यायाभिमत है — अपवर्ग के सिंहासन पर अभिषिक्त किया जाता है।[१]

धर्मविजय नाटक—

यह नाटक दार्शनिक सिद्धान्तों से शून्य है। इसके नायक तथा प्रतिनायक धर्म तथा अधर्म हैं। जिनके सकलक्रियाकलापों के माध्यम से देश की धार्मिक दुर्दशा वर्णन किया गया है। यह धार्मिक दुर्दशा सामाजिक और राजनीतिक दुर्व्यवस्थाओं को भी आत्मसात् करती हुई चलती है। सदाचार और दुराचार अथवा पुण्य अथवा पाप का प्रसंग आता है। व्यभिचार और अनाचार इत्यादि पात्र बनकरके भी उपस्थित हुए हैं किन्तु इन सबकी समस्याओं का हल पुराण और धर्मशास्त्र के आदेशानुसार कराया गया है। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, शौच, इन्द्रियनिग्रह, दान, दम, दया, शान्ति अपना-अपना स्वरूप एक-एक श्लोक में बताते हुए अवतरित होते हैं। प्राय:श्चित्त और गंगा-स्नान भी धर्म के सहायरूप में उपस्थित होते हैं। किन्तु इतने सबसे कोई दार्शनिक सन्देश अथवा आध्यात्मिक ज्ञान नहीं प्राप्त होता।

हां, पंचम अंक में राजा धर्म और विद्या का जो संलाप

---

१. आन्वीक्षिकी— आयुष्मन् निर्वाणनामन अपवर्ग, इत इत:।
श्रुति :— वत्स अपवर्ग, इह सिंहासने तावदुपविश। त्वामभिषेक्ष्याम: दौत्रज्ञनगराधिराज्ये।

अमृतोदय, अङ्क ५, पृ० २४८-२४९

होता है उसमें कुछ नाटककार की दार्शनिक चेतना प्रस्फुटित होती है ।[१] पताचलता है कि नाटककार न्यायमत का भक्त है । राजा विद्या के विषय में कहता है - ` हे मात: गौतम ने तुम्हारा आदर किया है`[२] । विद्या ने भी जिस ईश्वर से राजा के लिए श्रेय की कामना की है वह क्षित्यङ्कुरादि अनुमित महेश्वर न्यायाभिमतस्वरूप ही है ।[३] इसी बीच में कविता पात्र के द्वारा योगविद्या का स्वीकरण भी सूचित किया गया है ।[४] वही विद्या

---

१. द्रष्टव्य--`धर्मविजय ` ६६ से ७७ पृष्ठ तक ।

२.

पातिव्रत्ये । प्रणामं चरणसरसिजं भर्तुरेव प्रमेयं
जल्प: स्वल्प: सुजातैरवयवकलना नो परेषां कदाचित् ।
नो दृष्ट: क्वापि वादश्छलगतिरहितं किंच यस्याश्चरित्रं
दृष्टान्तो न्यायभाजामिति जननि भवत्यादृता गौतमेन ।।

— धर्मविजय , अंक ५, श्लोक ३०

३.

प्रारब्धयोगपरमाणुगुणक्रियाभि-
ज्ञनिषणाकृतिविडम्बितकार्यकर्ता ।
क्षित्यङ्कुराद्यनुमित: समुपास्यते य:
श्रेय: स ते दिशतु विश्वगुरुर्महेश: ।।

—वही, अंक ५, श्लोक ३१

४.

मैत्र्यादिशुद्धहृदया श्रितसमस्तसमाधि-
र्नासाग्रदृष्टिनयना विमलासनास्था ।।
क्लेशासहेश्वरपरा विधुतादामाला
हृद्याऽनवद्यचरिता नृप योगविद्या ।।

— वही, अंक, ५, श्लोक ३६

काव्य रसात्मक आनन्दरूप में,सांख्यशास्त्र रूप में, मीमांसाशास्त्र के रूप में , ब्रह्म विद्या के रूप में, राजा के द्वारा सम्मानित की गयी है ।[१] इसी प्रसंग में सांख्यसम्मत चेतन का निर्लेप [२] तथा निष्क्रिय स्वरूप , योगसम्मत षोडश पत्र-हृतसरसिज[३] में विद्यमान पुराणपुरुष ईश्वर का रूप और अद्वैतवेदान्त सम्मत सकल शरीरेन्द्रिय बुद्धि आदि धर्मों से रहित असंग, कूटस्थ, साक्षी एवं मायिक के रूप में ब्रह्म का स्वरूप भी प्रस्तुत किया गया है किन्तु दार्शनिक विवेचन इस ईश्वर तत्व के विषय में भी नहीं हुआ । केवल एक अनिवार्यस्वरूप प्रस्तावना-मात्र की गयी है ।

१.-द्रष्टव्य `धर्मविजय नाटक` , अंक ५, पृ० ७०-७१

२. संस्कारकृत्यविमुख: किल चेतनोऽपि
निर्लेप इव समुपाश्रितभोगबुद्धि : ।
नो वा महान्न गुणवानपि यस्तथापि
विश्वैकवन्द्यचरण: शरणं स तेऽस्तु ।।

— धर्मविजय नाटक, , अंक ५, श्लोक ३५

३. नोलीकर्मविशुद्धसर्वविवरान्मन्दोच्छ्वसन्मारुते-
मूलाधारविलीनकुण्डलिनिकामाकृष्य मूर्ध्नि स्थिते ।
ध्येय: पड्०क्शतारभाजि जलजे भव्याय भूयाद्गुरु-
र्यै : षोडशपत्रहृत्सरसिजे पायात्पुराण: पुमान् ।।

—वही, अंक ५, श्लोक ३७

४. श्रोत्रघ्राणादिकरणैर्विकलोऽपि बुद्ध्या
शून्योऽपि धर्मरहितोऽपि न सड्०गतोऽपि ।।
कूटस्थतामपि भजन्नपि मायिको य:
साक्ष्येक एव जगत: सुखद: स तेऽस्तु ।।
— वही, अंक ५, श्लोक ४३

जीवानन्दनम् —

जीवानन्दनम् नाम का प्रतीक नाटक मुख्यतया आयुर्वेद शास्त्र का नाटक है। इसमें मंगलाचरण में भी सर्वप्रथम धन्वन्तरि की बंदना की गयी है। पूरे सातों अङ्कों में नाटक के नायक राजा जीव का प्रतिनायक यक्ष्मा नामक महारोग के सैनिक एवं सेनापति-भूत अन्य शारीरिकरोगरूपी अनुचरों से घात-प्रतिघात प्रदर्शित किया गया है। काल, कर्म इत्यादि भी इसके पात्र हैं। विविधप्रकार के रोगों के विरोध के लिए विविध प्रकार की दवावों की उद्भावना की गयी है। मद, मत्सर इत्यादि आन्तरिक दोष किस प्रकार कुष्ट इत्यादि भयंकर रोगों को पनपाते हैं इसका भी अच्छा चित्रण किया गया है। कुष्ट, मत्सर को अपना साक्षात्सखा मानता है।[१]

चतुर्थ अंक में शिवभक्ति राजाजीव को प्रभावित करती है और जीव को आश्वासन देती है कि विज्ञानशर्मा नामक मन्त्री के साहाय्य से रोगरूपी शत्रुओं को समाप्त करके रोग-रहित शरीर-रूपी मन्दिर में जब तुम रहने लगोगे तब मैं आकर तुम्हें परमानन्दयुक्त तथा आप्तकाम बनाऊंगी।[२] इससे यह पता चलता है कि नाटककार 'शरीरमाद्यम् खलुधर्म साधनम्' के लौकिक अथवा 'नायमात्मा बलहीनेन लभ्य:' के वैदिक सिद्धान्त को स्वीकार करता

---

१. भवतु। एनं सम्बोधयामि। सखे, कीदृशीयमवस्था ते संप्राप्ता।

....

कुष्ठ:—भद्र, सखायं मे मत्सर:। तन्मुंचैनम्। —

—जीवानन्दनम्, पृ० १८७, अंक ५

२. निर्जितनिखिलविपक्षं नीरुजपुरसुस्थमपगतातङ्कम्।
अहमागत्य विधास्ये परमानन्दाब्धिमाप्तकामं त्वाम्।।

वही—अंक, ४, श्लोक २४

हुआ आगे बढ़ता है ।

इस नाटक का छठां अंक दार्शनिक चेतना से अनुप्राणित है । नाटककार आनन्दराय मखी पक्के शंकरानुयायी अद्वैत वेदान्ती थे । अत: जीव को अद्वैतवेदान्त साधना में ज्ञानशर्मा नामक अन्य मन्त्री के माध्यम से लगाते हैं । एकमात्र अखण्डानन्द परब्रह्म निराकार तत्त्व है और "तुम वही हो"— इस प्रकार का सिद्धान्त का प्रतिपादित करते हैं[1]। ज्ञानशर्मा के मुख से इस तत्त्व की अद्वितीयता को सिद्ध करते हैं ।[2]

इसके पश्चात् सप्तम अंक के आधे भाग तक जीव का रोगों से कलह चलता है । फिर जीव ईश्वर की उपासना में लग जाता है । वह ईश्वर शाम्भशिव है और अद्वैतवेदान्त प्रतिपादित ब्रह्मतत्त्व है ।[3] अन्त में जीवराजा

---

१. जगत्प्रोतं यस्मिन्विविध इव सूत्रे मणिगणा:
समस्तं यद्भासा तदपि च विभाति स्फुटमिदम् ।
अखण्डानन्दं यन्निरवधिकसच्चित्सुखमयं
निराकारं यत्तत्त्वमसि परमं ब्रह्म न पर: ।।

—जीवानन्दन, अंक ६, श्लोक १४

२. मायया बहुरूपत्वे सत्यद्वैतं न नश्यति ।
मायिकानां हि रूपाणां द्वितीयत्वमसंभवि ।।

—वही, अंक ६, श्लोक ३३

ज्वलज्ज्वालमग्निं कराभ्यां वहन्दृश्यसे सद्भिरामृश्यसे ।
कलशभवमहर्षिवातापिनिर्वापणादक्षिणाशीर्भिरापोहने-
विन्ध्यसंस्तम्भनैसिन्धुनाथाम्बुनि:शेषपानैच शक्तिप्रदायिस्व-
पादाम्बुजध्यानमहात्म्य शंभो नमस्ते नमस्ते ।।
— वही , अंक ७, श्लोक २१

दृढ़ निर्बीज समाधि को प्राप्त करता है। वह नीरोग, नित्यमुक्त और निराबाध होने का आशीर्वाद पाता है। परमेश्वर उसे यह भी बता देते हैं कि अब तुम ज्ञानशर्मा नामक पुरातन मन्त्री का सम्मान करो। वही तुम्हारे श्रेयस की सिद्धि करेगा। तुम्हारे प्रेयस को सिद्ध करने के लिए यह विज्ञानशर्मा नामक मन्त्री है। इस प्रकार ज्ञानशर्मा, विज्ञानशर्मा दोनों मन्त्रियों की सहायता से जीवराजा के हाथ से मुक्ति और दूसरे हाथ से भुक्ति प्राप्त करने में सर्वथा समर्थ होता है। इन दार्शनिक कथनोपकथनों के होने पर भी यह नाटक मूलत: आयुर्वेद के तथ्यों को ही प्रकाशित करता है। दार्शनिक ग्रन्थियों का उन्मोचन नहीं होता।

विद्यापरिणायन-

कदाचित् ज्ञानशर्मा नामक मन्त्री के द्वारा जीवराज को प्राप्त होने वाली सम्पूर्ण दार्शनिक चेतना तथा आध्यात्मिक सिद्धि के अधूरे कार्य को पूरा करने के लिए ही आनन्दरायमखी ने विद्यापरिणायन नामका नाटक लिखा है। यह नाटक भी सात अङ्कों का है।

इस नाटक में शांकरवेदान्त द्वारा प्रतिपादित दार्शनिक तत्त्वों का समावेश हुआ है। जगह-जगह पर आत्मतत्त्व, माया, जीव, ब्रह्म इत्यादि का स्पष्ट स्वरूप प्रतिपादित किया गया है। इन वर्णनों में वे सभी तत्त्व समाविष्ट हो गये हैं जो प्रबोधचन्द्रोदय में वर्णित किए जा चुके हैं। उससे अधिक जो बातें बतायी गयी हैं उसका निर्वचन इस प्रकार है ---

प्रबोधचन्द्रोदय में विष्णु भक्ति के माध्यम से ज्ञानोदय तथा मोक्ष प्रक्रिया दिखायी गयी है जबकि इस नाटक में यह कार्य शिव-भक्ति के द्वारा सम्पन्न कराया जाता है। शिवभक्ति के बिना मोक्ष मार्ग की ओर ~~सफल--प्रगति-होनी~~

सफल प्रगति होनी असम्भव है।[1] जो बातें प्रबोध चन्द्रोदय में बहुत अधिक स्पष्ट नहीं हुई थीं उनको भी आनन्दरायमखी ने स्पष्ट करके वर्णन किया है। जीव का स्वरूप देते समय वे स्पष्ट कर देते हैं — जीव ईश्वर का प्रतिबिम्ब है[2]। वह परमेश्वर से भिन्न नहीं है। अविद्या— जिसको अद्वैत वेदान्त क्षेत्र में सदसद्भ्यामअनिर्वचनीय कहा जाता है - को इस नाटक में असत् या तुच्छ बताया गया है।[3] शिवभक्ति और विष्णुभक्ति में कोई विरोध नहीं दोनों एक ही हैं।[4] यह सारा प्रपंच स्वप्न और इन्द्रजाल के समान है। असत्य है एकमात्र अद्वैत ही सत्य है।[5]

---

१. कर्माणि सन्तु विविधानि करोतु तानि
क्लिष्टश्चिरेण तपसा नियमैश्च घोरैः।
त्वत्संनिधानविरहे तु भवन्ति तानि
पांचालिकाभिनयवत्फलवंचितानि ॥

— विद्यापरिणयन, अंक १, श्लोक २२

२. .... परमेश्वरस्य प्रतिबिम्बभूतं जीवराजं संघटयितुमेव विरचितोत्साहा भवामि।

—वही, अंक १, पृ० ५

३. 'विख्यात : पुरुषः स तावदसतीं पश्यन्नविद्यामिमाम्।'

—वही, अंक १, पृ० ८

४. राजा—एतादृशी विष्णुभक्तिरिति हि तत्र तत्र श्रूयते। शिवभक्तिरिति किममुष्यानामान्तरम्।

निवृत्ति :— —वही

विष्णुर्न शिवादन्यः शिवशक्तेः स खलु पौरुषं रूपम्।
शक्तिश्च नातिरिक्ता शक्तिमतो तः शिवात्परं नान्यत् ॥

—वही, अंक २, पृ० १४

५. विश्वं दर्शयन्ते यथार्थमिदिदं स्वप्नेन्दजालोपमं
धीरः कः पुनराद्रियेत तदिहासत्ये प्रपंचे सुखम् ॥ वही, अंक ३, श्लोक ८

चौथे अङ्क में प्रदर्शित विविधमतों का उत्थापन और उनमें आंशिक सत्य की दृष्टि रखना यह नाटककार का वैशिष्ट्य है। अन्य प्रतीक नाटकों में अपने से अतिरिक्त विभिन्न मतवादों को अभद्र भर्त्सना का विषय बनाया गया है। सच्ची समालोचना नहीं की गयी किन्तु इस नाटक के पूरे चौथे अंक में सभी मतवादों का स्वरूप ठीक से प्रस्तुत किया गया है, उनके अवांशिक सत्य को स्वीकारा गया है और उनकी भ्रान्तियों का समुचित निर्देश किया गया है। उदाहरणार्थ चार्वाक मत में परलोक न माने जाने पर यह कहा गया है कि नास्तिपरलोक: इत्यादि वाक्य ब्रह्मव्यतिरिक्त सभी पदार्थों के अभाव का उपलक्षण है। उनका देहात्मवाद भी अन्नमय-कोश-रूप से आत्मा का उपलक्षक है। इस प्रकार यह दर्शन भी अद्वैतमत में परिवशित होता है।[1] बौद्धों के शून्यवाद, जगन्मिथ्यात्व विषयक ग्रहण किया गया है[2]। जैनों के सप्तभंगीनय जगदनिर्वचनीयत्व तात्पर्यक ग्रहण किया गया है।[3]

यह पहला प्रतीक नाटक है जिसमें रामानुज और माध्व के मतों की प्रस्तावना की गयी है और बताया गया है कि ये बेचारे सगुणोपासना

---

१. नास्ति परलोक: इत्यादीनि च ब्रह्मव्यतिरिक्तस्य सर्वस्याप्यभावोपलक्षकाणि। तस्य देहात्मत्ववादोऽप्यन्नमयकोशस्यात्मोपलक्षकत्वनिबन्धन इति सर्वमद्वैतपर्यवसाय्येव।

— विद्यापरिणयनम्, अङ्क,४, पृ०

२. अतएवामुष्य जगन्मिथ्यात्वाभिप्राय:शून्यवाद:। क्षणिकतावादस्तु विशेषणीभूततत्तल्लक्षणानित्यत्वाभिप्रायक:। स चायमपवर्ग:।

— विद्यापरिणयन, अंक४, पृ०३६

३. अत: 'स्यादस्ति' इत्यादिसप्तभङ्गीप्रतिपादनं जगदनिर्वचनीयत्वतात्पर्यकम्। देहशौचाद्यभावप्रतिपादनं चात्मन: स्वतो निर्मलत्वाभिप्रायकम्।

—वही, अंक ४, पृ० ४१

के फलीभूत तत्त्व तक ही पहुंच पाते हैं और उसी को सर्वस्व मानते हैं। इतने अंश में अद्वैत वेदान्त की साधना के अवतार ही को गृहीत कर लिया जाता है।[1] मधुविद्या,[2] दहरविद्या,[3] इत्यादि उपासनाओं का भी प्रयोग जीवराज के द्वारा किया जाता है। अन्त में शिवभक्ति के प्रसाद से जीवराज समाधिसाधना भी करता है। उसकी निदिध्यासन सिद्धि पर और अहंब्रह्मास्मि का अनुभव करता है।[4] उसे साम्बशिव का दर्शन होता है, यही ब्रह्मसाक्षात्कार है। और अद्वैत विद्या से उसका परिणयन हो जाता है। और वह "सब कुछ आत्मा है" और "आत्मा मैं हूं" —इस बोध को प्राप्त करता है।[5] चित्त और

---

१. अये चित्तशर्मन्, एवमेव भेदवादिनः सर्वेऽप्यस्मदीयसगुणोपासनफलीभूतेषु तत्तदुपासनतरतमतानुगुण्येन सालोक्यसामीप्यसारूप्यरूपेषु पदेषु रममाणास्तदेव परमममृतं मन्यन्ते।

—विद्यापरिणयनम्, पृ० ४३, अंक ४

२. दिव्यमधुमूर्तेरादित्यस्यान्तराम्नायरसरूपममृतमग्न्यादिमुखेन वस्वादयो देवा दृष्ट्वैवाभिनन्दन्ति तदेव रूपं प्रतिपद्यन्ते, तत एव चोद्यन्ति, यस्तावदेतदमृतमेवं वेद स वस्वाद्यन्यतमो भूत्वा तत्साम्राज्यमविनाशित्वमपि पर्यैति।

वही, पृ० ५६

३. इयमपहतपाप्मा सत्यसंकल्पकामा
जयति दहरविद्या सद्गुणैः श्लाघनीया।।

—वही, अंक ५, पृ० ५७

४. सत्यं ज्ञानमनन्तमस्मि तदहं ब्रह्मेति जानाति चे-
त्तस्येदं तपनोदये तम इव स्फीतं जगल्लीयते।।

वही, अंक ७, पृ० ८३, श्लोक २०

५. सुप्तप्रबुद्ध इव सुभ्रु तव प्रसादा-
दात्मा किलायमहमित्यवधारयामि।।

वही, अंक ७, श्लोक ३१, पृ० ८७

जीव के सम्बन्ध को नाटककार ने आविधिक दशा तथा बोध प्राप्ति की दशा में विभाजित करके बड़े ही अच्छे ढंग से प्रकट किया है कि अविद्या की दशा में जीवात्मा चिद्रूप बना रहता है और बोध हो जाने पर चित्त जीवात्मा में पर्यवसित हो जाता है।[१]

जीवन्मुक्तिकल्याण—

नल्लाध्वरी विरचित जीवन्मुक्ति-कल्याण नाम के प्रतीक नाटक में जीवात्मा और जीवनमुक्ति के मिलन में पर्यवसित होता है। यह नाटक भी अद्वैत वेदान्त पर आधारित है। पांच अंकों के इस नाटक में अद्वैत वेदान्त की प्रक्रिया ही निभायी गयी है। जीवन्मुक्ति — जोकि निरवधिपरानंदकन्दाय-माना है - अन्त में जीवराज की प्राप्ति होती है। तत्त्व निर्वचन में नाटककार का सम्बन्ध अत्यन्त दीर्ण है। संसार के सारे विकल्प आभासमात्र हैं। शिव-प्रसाद जो शिवभक्ति से प्राप्त होता है वह जीव को जीवन्मुक्ति करने में सहायक होता है। तत्त्वचिन्तन तथा तत्त्वप्रकाशन दोनों दृष्टियों से यह नाटक सामान्य और संविधान वाला है।

---

१. राजा—

त्वयेदं निर्व्यूढं ननु परममीदृङ्०मम सुखं
ब्रुवे किं कुर्वे किं भवदुचितमेवं व्यवसितम्।
अविद्याशक्त्याहं भवदनितरो ह्यस्मि सुचिरा-
दितो विद्याशक्त्या मदनितरभूतो भव सुखी ॥

—विद्यापरिणयन, अंक ७, श्लोक ३४, पृ०

पुरंजनचरितम्—

पांच अंकों के इस प्रतीक नाटक में पुरंजन और पुरंजनी का आख्यान श्रीमद्भागवत की पुरंजन कथा के आधार पर पल्लवित किया गया है । नव-लक्षणाविष्णुभक्ति का महत्व इसमें गाया गया है। वृन्दावन धाम की अतिशायिनी महिमा बतायी गयी है[1]। आराध्यदेव कृष्ण हैं।[2]

पंचम अंक में गीतगोविन्द की शैली से भगवान् विष्णु के अवतारों का वर्णन कराया गया है। भगवान् कृष्ण के साथ पुरंजन का अभेद ठीक उसी रूप में किया गया है ।[3] जैसा कि चैतन्य महाप्रभु के 'अचिन्त्यभेदाभेद' मत में किया जाता है । इस प्रकार से भक्तिभावना से भरे हुए होने पर भी यह नाटक दार्शनिक चेतना से शून्य ही कहा जायेगा ।

---

१. अविज्ञात— वसुन्धराया रत्नगर्भाभिधाननिदानं हि तत् स्थलं ततस्तद्गुण-
जटितो वृन्दावनमपहाय नाहं पदमपि गन्तुं प्रभवामि ।
ततस्ततः ।

—पुरंजनचरितम्, अंक ४, पृ० २७

२. ध्यायन्तः कृष्णमन्तर्मुकुलितकुसुमप्रेक्षणं सन्मरन्द-
स्पन्दानन्दाश्रुधारामिह धरणिरुहोऽपि स्फुरत्पल्लवोष्ठाः ।
स्वैरं व्यालोलयन्तः कुसुमकरतले भृङ्गपद्मादामालां
श्रीभर्तुर्नाममालामिव विहगरुतच्छद्मनाऽमी जपन्ति ।।

—वही, अंक ४, श्लोक १६, पृ० २६

३. सखे सत्यप्यस्मिन् मम तव च भेदव्यपगमे
त्वदीयोऽहं नाथ त्वमसि मदीयः क्वचिदपि
तरङ्गः सामुद्रो भवति न च तारङ्ग उदधिः
स्फुलिङ्गश्चाग्नेयो दहनकणकीयो न बहनः ।।

—वही, अंक ५, श्लोक २६

जीवसंजीविनी नाटकम्-

वेंकटरमणाचार्य कृत जीवसंजीविनी नाटक आयुर्वेद प्रधान है । इसमें ऋतुओं का गीतात्मक वर्णन है, कहीं औषधियों की प्रशंसा है । महामाया और परेश के वार्तालाप में यह सूचित होता है कि परेश अज है और माया-रूपिणी उपाधि से ही परेश कहलाता है । स्वयं निर्गुण है वह त्रिगुणात्मक माया के संसर्ग से सगुणक कहलाता है और इस प्रकार निरूप भी स्वरूप बनता है ।[1] वह सद्रूप है और एक है ।[2] महामाया उसकी इच्छा, ज्ञान और क्रिया-शक्ति है ।[3] जीव आत्मा का अंश है ।[4] यह संसार कर्मबन्धन वाला है । लोगों के पाप और पुण्यकर्म से बना हुआ है । जीव यहां पर अपने किए हुए फल को भोगता है ।[5] इस संसार के जन्ममृत्यु प्रवाह को पार करने के लिए

---

१. परेश: — अजोऽप्यहं मायाभूतत्वदुपाधिनैव परेशो जात: । निर्गुणोऽपि त्रिगुणात्मिकायास्तव संसर्गादहं सगुण: — नीरूपोऽपि सरूप: । अतस्त्वं मे माता ।

..... — जीवसंजीविनी नाटकम्, पृ० १७, अंक १

२. महामाया..... त्वं सद्रूपमेकमपि 'बहु स्याम्' इति सङ्कल्पितवान् तदैव तवेच्छाशक्तिरूपेण, यदा त्वं तपोतप्यस्तदा ज्ञानशक्तिरूपेण, यदा त्वं तदिद-मसृज: तदा क्रियाशक्तिरूपेण मम सृष्टिरभूत् ।

--वही, अंक १, पृ० १७

३. द्रष्टव्य—वही, पृ० १७, अंक १

४. स भगवान् तयो: प्रसन्न: स्वतेजोंश एव तदपत्यं भवतीति अनुजग्राह । ततो युक्तसमये जीवदेवो जात: संवर्धितश्च ।

—वही , पृ० १६, अंक १

तत्त्व शमन् के साथ-साथ ज्ञान और भक्ति भी आवश्यक है ।[१]

इन लोक प्रचलित सामान्य बातों के अतिरिक्त इस नाटक में अन्य कोई दार्शनिक सन्देश नहीं प्राप्त होता ।

प्रतीक नाटकों के सम्बन्ध में किये गए इस दार्शनिक विवेचन से स्पष्ट है कि इनका प्रधान प्रयोजन अपने -अपने दार्शनिक मतवाद की स्थापना करना तथा अन्य प्रचलित मतवादों की न्यूनता और अग्राह्यता सिद्ध करना ही है । गौण प्रयोजनों की दृष्टि से अनेक बातें सम्भव हो सकती हैं जैसे नाटक सरीखे सरस माध्यम से दार्शनिक सिद्धान्तों को मनोवैज्ञानिक धरातल पर उतारना तथा उनके मार्मिक स्थलों को प्रभाविष्णु रीति से सुव्यक्त करना ।

इस अध्ययन से यह निश्चित हो गया कि मनोवृत्तियों, मनोवि-- कारों एवं आध्यात्मिक सद्गुणों की इनमें मांसल एवं पुष्ट प्रस्तावना हुई है और उनके प्रभावों का भी एक विशाल पैमाने पर आकलन किया गया है । इस मनोवैज्ञानिक व्याख्यान में प्राय: सभी प्रतीकात्मक नाटक समान सरम्भ से प्रवृत्त हुए हैं । `प्रबोधचन्द्रोदय`, ` मोहराजपराजय` एवं `विद्यापरिणायन` इत्यादि प्रतीक नाटक इस दृष्टि से बहुत अधिक सफल भी रहे हैं ।धार्मिक एवं सामाजिक कुरीतियों का चमत्कारपूर्ण चित्रण करने में `धर्मविजय` नाटक को भी अद्भुत सफलता मिली है । दर्शनशास्त्रों को पात्र बनाकर उनके दोषों और उनके गूढ़ रहस्यों को प्रकाशित करने में `संकल्पसूर्योदय` और `अमृतोदय` भी `प्रबोधचन्द्रोदय` एवं `विद्यापरिणायनम्` की ही कोटि का साफल्य प्राप्त किया है । `जीवानन्दनम्` एवं `जीवसंजीविनी` नाटकों में शरीर एवं रोगों

---

१. स्वात्मोद्धारे जगति यतते प्रायशस्संजनो लं
शास्त्रज्ञोऽपि स्थिरमतिरपि स्वार्थता तत्र दृष्टा ।
तत्वज्ञाता भवतु भुवने मुक्तयोग्यो विदेही
ध्यानाद्भक्त्या तरतु जलधिं जन्ममृत्युप्रवाहम् ।।
—जीवसंजीविनी नाटकम् ,अंक५, श्लोक १६, पृ०२५

की पात्रता का विधान करके आयुर्वेदिक उपक्रम किया गया है और शारीरिक स्वास्थ्य की ही आधारशिला पर दार्शनिक चेतनाओं का पल्लवन प्रदर्शित किया गया है। रोचकता एवं विषय वैभिन्य के कारण इन नाटकों को भी मनोरंजक कहा जा सकता है किन्तु दार्शनिक ज्ञान परिपाटी की पूंजी का इनमें सर्वथा अभाव ही है। चैतन्यचन्द्रोदय नाटक में साहित्यिक चमत्कारों का बाहुल्य है। भक्ति भावना की तीव्रता ने - जोकि चैतन्यचन्द्रोदय में स्वाभाविक भी है - इस प्रतीक नाटक को नीरस एवं अकाव्यकोटि में गिने जाने से बचा लिया है जबकि 'संकल्पसूर्योदय', 'अमृतोदय', और 'जीवन्मुक्तिकल्याण' इत्यादि सरासर नीरस रूक्ष एवं कठोर दार्शनिक ग्रन्थमात्र ही सिद्ध होते हैं। 'पुरंजनचरित' की तो असफलता उभयविध है। न तो उसमें कोई दार्शनिक तथ्य उज्ज्वलता के साथ प्रकाश में आता है और न ही साहित्यिक कला प्रवणता का ही उसमें कोई सौष्ठव है। इन नाटकों के प्राणभूत अपने - अपने मतवाद ये हैं -

१. प्रबोधचन्द्रोदयम् - अद्वैतवेदान्त (आचार्य शंकरमतानुसारी

२. संकल्पसूर्योदयम् - विशिष्टाद्वैत(रामानुजाचार्यानुसारी)

३. मोहराजपराजयम् - जैनसिद्धान्त

४. यतिराजविजयम् - विशिष्टाद्वैत(रामानुजाचार्यानुसारी)

५. चैतन्य चन्द्रोदयम् - अचिन्त्याद्वैत(चैतन्यमतानुसारी)

६. अमृतोदयम् - न्यायसिद्धान्त

७. जीवानन्दनम् -
८. विद्यापरिणयनम् - } अद्वैतवेदान्त (आचार्यशंकरानुसारी विवरणप्रस्थानावलम्बी

षष्ठ अध्याय

प्रतीक नाटकों का महत्त्व

षष्ठ अध्याय

प्रतीक नाटक और सामान्य नाटक—

संस्कृत वाङ्मय में प्रतीक नाटकों का अपना विशिष्ट महत्व है। वाङ्मय के अन्तर्गत श्रव्य काव्य की अपेक्षा दृश्य काव्य की लोकप्रियता स्वीकार की गई है। वस्तुत: जनमानस के सबसे अधिक निकट प्रवेश करने वाली अगर कोई साहित्य-विधा है तो वह है – नाट्य विधा। इसमें लोगों को प्रत्यक्ष रूप से रसोपलब्धि का अवसर मिलता है। दर्शकों में शीघ्र ही प्रतिक्रिया भी होती है – ऐसा काव्य के किसी और रूप के साथ सम्भव नहीं। इतना ही क्यों साहित्य-इतिहास के प्रारम्भ में तो सम्पूर्ण वाङ्मय को ही नाटक माना गया। काव्य-सम्बन्धी अधिकांश चिन्तन-मनन नाटक को केन्द्र में रखकर किया गया है। आज भले ही उन मतों या सिद्धान्तों को सम्पूर्ण काव्य के विषय में माना जाय। किन्तु उनकी रचना के समय उनके आधाररूपमें नाटक साहित्य ही उभरता है। हमारे वाङ्मय के आदि तत्त्व-चिन्तक भरतमुनि ने अपने काव्य सम्बन्धी चिन्तन-मनन को नाटक तक ही सीमित रखा, अन्य साहित्य -रूपों की चर्चा तक नहीं की। अब तक के उपलब्ध प्रमाणों से यही पता चलता है कि भरतमुनि ने नाट्य-शास्त्र के अतिरिक्त कहीं भी कुछ नहीं लिखा। इससे स्पष्ट है कि उनकी दृष्टि में नाटक उस समय साहित्य का पर्याय बन गया।[१] नाटक कहने से सम्पूर्ण साहित्य का बोध होता था।

---

१. काव्य की परिभाषा :–

मृदुललितपदाढ्यं गूढशब्दार्थहीनं,
जनपद सुखबोध्यं युक्तिमन्नृत्ययोज्यम्।
बहुकृतरसमार्गं सन्धिसन्धानयुक्तं,
सभवति शुभकाव्यं नाटकप्रेक्षकाणाम्॥

— नाट्यशास्त्र, १६–१२८

इसीलिए केवल नाटक को केन्द्र में रखकर बनाए गए सिद्धान्तों को आज हम सम्पूर्ण साहित्य के अध्ययन में अच्छी तरह लागू कर सकते हैं ।

नाटक की इस महत्त्वपूर्ण भूमिका के सन्दर्भ में प्रतीक-नाटक अपने कुछ मुख्य आवश्यकता को लेकर अवतरित हुए । उन्हें इस महत्त्वपूर्ण भूमिका का भली-भांति ज्ञान था । वाड्०मय के परिप्रेक्ष्य में वे अपने इस गौरव से परिचित थे इसीलिए प्रतीक-नाटकों के प्रणेताओं ने समवेत रूप से अपनी मर्यादा और अपनी गौरवमयी परम्परा सजीवता के साथ विकसित करने का सफल प्रयास किया । लगभग सभी प्रतीक नाटक किसी न किसी रूप में अपनी यही भूमिका अदा करते हैं ।

यद्यपि इन प्रतीक नाटकों का वाह्यरूप साधारण नाटकों से भिन्न नहीं था फिर भी इनमें कथ्य का लम्बा अन्तराल अवश्य ही देखने को मिलता है । सामान्य नाटक जहां अपने कथ्य में लौकिक जीवनानुभूतियों से प्रेरणा ग्रहण करते रहे हैं वहां प्रतीक नाटकों का विषय मनुष्य के तार्किक और दार्शनिक सिद्धान्तों से सम्बन्धित है । साधारण नाटक जहां मनुष्य की रागात्मक वृत्ति का परितोष करके ही रह जाते हैं वहां प्रतीक नाटक मनुष्य की उच्च बौद्धिक तार्किक वृत्ति को भी सन्तुष्ट करने में सफल होता है । दर्शकों में राग, द्वेष, प्रेम, घृणा इत्यादि मनोभावों को उत्तेजित करके अलौकिक आनन्द में ही साधारण नाटकों की सफलता है । वे मनुष्य के मानसिक मनन-चिन्तन को प्रभावित नहीं कर सकते, वे बौद्धिक प्रतिभा को आन्दोलित नहीं कर पाते । लेकिन प्रतीक नाटक तत्त्व-चिन्तकों के मन पर भी खलबली मचा देता है । वह बड़े-बड़े तार्किकों और दार्शनिकों को पुनश्चिन्तन के लिए चुनौती देता है ।

साधारण नाटकों की अपेक्षा प्रतीक नाटकों का महत्त्व इस दृष्टि से भी है कि साधारण नाटक जहां लौकिक चरित्रों द्वारा मानसिक भावों को जागृत करता है वहां प्रतीक नाटक सभी तरह के मानसिक भावों को

पात्रों में रूपायित कर देता है। यह प्रतीक नाटकों की मनोवैज्ञानिक विशेषता है कि उसके पात्र मानसिक भावनाओं के प्रतीक बनकर अवतरित होते हैं। पात्रों का यह प्रतीकीकरण केवल मानसिक भावनाओं तक ही सीमित नहीं है बल्कि उसकी सीमा में शास्त्र, रोग, औषधि इत्यादि विविध विषय समाहित हो जाते हैं। इन सभी शास्त्रों, रोगों, औषधियों और भावनाओं के प्रतीकीकरण में प्रतीक नाटकों का सर्वाधिक महत्त्व है। क्योंकि लौकिक चरित्रों को चित्रित करना तो आसान है किन्तु अमूर्त भवनाओं या शास्त्रों को एक सुस्पष्ट आकार देना कठिन कार्य है। और फिर ऐसे सूक्ष्म भावों को तो, जिनके स्वरूप का भी कोई स्थिर निर्णय न हो सका हो, पात्ररूप में कल्पित कर देना बड़े मनोवैज्ञानिक सामर्थ्य की बात है।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि प्रतीक नाटकों ने संस्कृत वाङ्मय में अपनी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी है। साहित्य उपदेश का साधन माना जाता है और उपदेश भी कैसा, जो मधुर और प्रिय न हो। आचार्य मम्मट ने कहा है — " कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे "[१] तात्पर्य यह कि साहित्य अपनी स्त्री के सुमधुर सिखावे की प्रकृति का होता है। आज साहित्य के प्रयोजन सम्बन्धी बहुत विवाद के पश्चात् भी हमें इसे स्वीकार करने में कोई आपत्ति नहीं है कि साहित्य मनुष्य को सदुपदेश देता है। प्रतीक नाटकों के प्रणयन में हमारी समझ से साहित्य सम्बन्धी यही प्रयोजन प्रेरक तत्त्व के रूप में रहा होगा। वस्तुत: साधारण नाटकों में अधिक सुविधा रहती है। साधारण नाटकों में उपदेश जहां ध्वनित होकर रह जाता है वहां प्रतीक नाटकों में वह अभिधेय बनकर प्रकट हो गया है — " लौकिक राजा मोह में पड़कर पथभ्रष्ट हो गया "— इससे मोह के प्रति घृणा पैदा कर

---

१. काव्यप्रकाश — प्रथम उल्लास, कारिका २

की अपेक्षा " जीवराज अपने शत्रु मोहराज से परास्त हो गया और इस तरह पथभ्रष्ट हो गया " इससे 'मोहराज ' के प्रति घृणा पैदा करना अधिक स्वाभाविक , सरल और स्पष्ट है । साधारण नाटकों में सभी मनोभावों की अभिव्यक्ति और उससे दर्शकों का ज्ञान सम्भव नहीं किन्तु प्रतीक नाटकों में सभी मनोभावों को दर्शक पर्दे पर प्रत्यक्ष चलते-फिरते देख लेते हैं जिससे दर्शकों को एक विचित्र औत्सुक्य बना रहता है साथ ही उनका प्रभाव भी अधिक स्थायी होता है ।

प्रतीक नाटकों की कथावस्तु अपने आकार-प्रकार में कोई बहुत लम्बी चौड़ी नहीं होती उसका महत्त्व अपने अभीष्ट लक्ष्य की पूर्ति में होता है । उनमें किन्हीं विशेष दार्शनिक सिद्धान्तों को लेकर उनकी मनोरंजनीय विवेचना की जाती है । इसीलिए प्रतीक नाटकों में कथा का रूप बहुत सुदृढ़ नहीं होता किन्तु महत्त्वपूर्ण तो होता ही है । यही कारण है कि प्रतीक नाटकों की कथा योजना में नाटककार को काफी सतर्कता बरतनी पड़ती है । कथातन्तु को संयोजित और संघटित करना पड़ता है । यह सब अमूर्त कथानक के कारण ही कठिन होता है । प्रतीक नाटक अगर इन कथातन्तुओं को सफलता के साथ संघटित कर गया तब तो निश्चय ही उसका महत्त्व है अन्यथा वह साधारण नाटकों की तुलना में हेय और तुच्छ ही बना रहेगा ।

ठीक यही कठिनाई प्रतीक नाटकों की रसाभिव्यक्ति को लेकर है । रस काव्य की आत्मा माना गया है । इसलिए सभी काव्य कृतियों में रसों की स्थिति अनिवार्यरूप में स्वीकार की गई है । नाटकों में भी रस को सर्वातिशायी स्थान प्राप्त है । रसाभिव्यक्ति का यह सामान्य नियम है कि वह काव्य के भावों से पाठकों का साधारणीकरण होने पर ही पाठकों में रसाभिव्यक्ति हो सकती है । यह साधारणीकरण दर्शकों और नाटक के अभिनेताओं के स्थिति साम्य के आधार पर ही सम्भव है । इस साधारणीकरण के लिए आवश्यक है कि दर्शक अभिनेता में अपना प्रतिबिम्ब देखें , वह उसकी

भावनाओं से मेल खाय और वह उसकी मनोग्रन्थियों से परिचित हो । जब तक ऐसा नहीं होता, यानी , कि दर्शक और पाठक (सहृदय) में ऐक्यस्थापना नहीं होता, तब तक पूर्णत: रसाभिव्यक्ति नहीं हो सकती । साधारण नाटकों में यह रसाभिव्यक्ति सुविधा से चतुरनाटककारों द्वारा कराई जा सकती है क्योंकि उसमें दर्शकों की तरह के ही मांसल चरित्रों को लिया जाता है । उन चरित्रों का वैयक्तिक गठन भी दर्शकों की ही तरह का होता है किन्तु प्रतीक नाटक में यह सम्भव नहीं है । उसमें मानसिक भावनाओं , प्रवृत्तियों और आन्तरिक इच्छाओं जैसे अमूर्त पात्रों की सर्जना करनी पड़ती है । इसीलिए प्रतीक नाटकों के चरित्र साधारण नाटकों के चरित्रों की तुलना में अपने चारित्रिक वैशिष्ट्य की दृष्टि से कम ही ठहर पाते हैं । उनमें साधारण नाटकों के चरित्रों का स्वाभाविक विकास नहीं लक्षित होता । वे नाटककार के अभीष्ट दार्शनिक सिद्धान्तों की कठपुतली बन जाते हैं । नाटककार उन्हें जहां चाहता है मनमाने तौर पर मोड़ देता है । इस प्रकार, चूंकि, प्रतीक नाटक के चरित्र अमूर्त और भावनात्मक होते हैं इसीलिए उनके द्वारा दर्शकों में सार्वत्रिक रसाभिव्यक्ति नहीं हो पाती ।

लेकिन इसका मतलब यह कदापि नहीं है कि प्रतीक नाटकों में रस की अभिव्यक्ति कराई ही नहीं जा सकती । हां, यह कार्य दुरूह अवश्य है पर असम्भव नहीं । अगर नाटककार की कल्पना शक्ति और मनोवैज्ञानिक प्रतिभा जागरूक है तो वह अपने अमूर्त पात्र विषयक वर्णनों में भी सजीवता ला सकता है । इस प्रकार जब उसके चरित्र जीवन्त और सक्रिय चित्रित किए जायेंगे तो उन्हें दार्शनिक मतवादों की कठपुतली समझने का भ्रम नहीं होगा । उनमें फिर वही मांसल-सौन्दर्य अभिव्यंजित होने लगेगा जो साधारण नाटकों के चरित्रों में व्यंजित होता है । अब यह नाटककार की प्रतिभा पर ही आधारित है कि वह किस सीमा तक रसोपलब्धि करा सकता है । वह जितना ही सफल रसाभिव्यक्ति कर सकेगा उतना ही सफल नाटककार माना जायगा । इस दृष्टि से प्रतीक नाटकों का कार्य निश्चित रूप से साधारण नाटकों

के रचयिताओं की अपेक्षा विशेष महत्व रखता है ।

सामाजिक महत्त्व—

प्रतीक नाटकों के महत्त्व की बात तब तक पूरी नहीं हो पाती जब तक कि प्रतीक नाटकों की सामाजिक उपादेयता पर विचार न कर लिया जाय । इन नाटकों ने जनमानस पर कैसा प्रभाव छोड़ा है—इस दृष्टि से विचार करना अपेक्षित है । साहित्य समाज की अभिव्यक्ति होता है । मनुष्य के राग-द्वेष, और उसके मनोजगत् का उद्घाटन साहित्य में होता है । इस-लिए साहित्य का सम्बन्ध मानव-जीवन का पथप्रदर्शक माना जाता है । इसलिए प्रतीक नाटकों से भी साहित्य की इसी अभिव्यक्ति की अपेक्षा की जानी चाहिए । इस सन्दर्भ में हमें यह देखना होगा कि प्रतीक नाटक मनुष्य के सामाजिक धरातल को किस सीमा तक प्रभावित या अप्रभावित करते हैं ।

प्रतीक नाटक की इस भूमिका में यह तो मानना ही होगा कि इन नाटकों ने अपने ढंग से समाज के लोगों में जीवन की समरसता जगाने की जगह उनके चिन्तन पक्ष को कहीं अधिक प्रभावित किया है । जीवन की समरसता जगाना साधारण नाटकों का काम है और इसके चिन्तन पक्ष को प्रभावित करना दार्शनिक प्रतीक नाटकों का कार्य है । ये दोनों कार्य अपनी-अपनी जगह बराबर महत्व के हैं । समाज का राग-द्वेष जितना बड़ा सत्य है उतना ही बड़ा सत्य उसका चिन्तन-मनन भी है । हमें यह कहने में जरा भी हिचक नहीं है कि इन प्रतीक नाटकों में अपने समसामयिक समाज को दर्शन के क्षेत्र में बार- बार सोचने पर मजबूर किया होगा ।

प्रतीक-नाटकों के सामाजिक महत्त्व का एक दूसरा पहलू भी है जो प्रतीक नाटकों के उद्देश्य से सम्बन्धित है । प्राय: सभी नाटकों में

किसी न किसी रूप में दर्शन के प्रश्न उठाये गए हैं। अपने ढंग से उन्हें उत्तरित करने का प्रयास भी किया गया है। भले ही यह प्रयास एक प्रबुद्ध दर्शनवेत्ता के प्रयास की श्रेणी में नहीं आए किन्तु इससे सामान्य जनमानस दर्शन के क्लिष्ट विषयों में रुचि लेना तो सीखता ही है, दर्शन से अपना सम्बन्ध तो जोड़ता ही है और इस प्रकार तत्त्व चिन्तन की ओर अग्रसर तो होता ही है। प्रतीक - नाटकों की यही देन कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। इसी तत्त्वचिन्तन के आधार पर समाज अपने में गतिशीलता और जीवन्तता का अनुभव कर सकता है ।

प्रतीक नाटकों के उद्देश्य का एक और पक्षभी है — और वह है अपवर्ग की प्राप्ति। लगभग सभी नाटकों में प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप में अपवर्ग की प्राप्ति का लक्ष्य रखा गया है। वस्तुत: भारतीय तत्त्वचिन्तन का अधिकांश भाग अपवर्गान्वेषण में लगाया गया है। मनुष्य के चार श्रेय हमारे प्राचीनों ने बताये हैं — अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष । इनमें सर्वाधिक श्रेष्ठत्व मोक्ष को ही प्राप्त है, वही इन सभी श्रेयों का लक्ष्यत्व प्राप्त करता है। इसीलिए मोक्ष को ही मनुष्य का अन्तिम लक्ष्य माना गया है।

काव्य या साहित्य में भी मोक्ष को लक्ष्य के रूप में ग्रहण किया गया है। यद्यपि काव्य के उद्देश्य के रूप में केवल अर्थ, धर्म, काम को ही प्रतिष्ठा मिली है किन्तु मोक्ष सर्वथा उपेक्षित नहीं रहा है और फिर इन प्रतीक नाटकों के साथ तो मोक्ष की संगति इसलिए भी बैठ जाती है क्योंकि इनका विषय तत्त्वचिन्तन का विषय है। सभी प्रतीक नाटकों में किसी न किसी रूप से मोक्ष को ही अन्तिम उद्देश्य के रूप में स्वीकार किया गया है । उदाहरण के लिए 'अमृतोदय' तो 'अपवर्ग' की प्रतिष्ठा में ही सर्वाधिक प्रवृत्त हुआ है। जिन नाटकों में किसी भक्ति की प्रतिष्ठा है उनमें भी अप्रत्यक्ष रूप से इसी मोक्ष की बात स्वीकार की गई है। इन सभी नाटकों

की अन्तिम अवस्था में नायक ब्रह्म का साक्षात्कार करता है, अपनी चित्तवृत्तियों से मुक्त होता है, अपने कुप्रवृत्तियों से पिण्ड छुड़ाता है और इस प्रकार वह ऐसी अवस्था को प्राप्त होता है जो मोक्ष की ओर अग्रसर करता है — इस प्रकार जहां अन्य साधारण नाटकों में अर्थ, धर्म, काम को लक्ष्य की सिद्धि रूप में स्वीकृत मिली है वहां प्रतीक नाटकों में मोक्ष को उद्देश्य के रूप में ग्रहण करना एक सशक्त और महत्त्वपूर्ण कदम है।

राजनीतिक महत्त्व—

इन प्रतीक नाटकों में काव्य और दर्शन का आधिपत्य होते हुए भी इनमें अपनी प्रभान्विति में तत्कालीन जनमानस की राजनीतिक चेतना स्पष्टता के साथ लक्षित की जा सकती है। राजा और प्रजा का सम्बन्ध, राजा, मंत्री का सम्बन्ध और राज्य की प्रशासनिक व्यवस्था —इन सब की समवेत अभिव्यक्ति हुई है। लगभग अधिकांश नाटककार किसी न किसी राज्याश्रय में जीवनयापन करते रहे हैं। राज-दरबारी कवि होने के नाते उन्हें राज्य की अच्छी बुरी सभी बातों का ज्ञान तो रहा ही होगा। वे प्रशासनिक कार्यों में भले ही खुलकर सक्रिय न हुए हों किन्तु प्रशासन में व्यक्तित्व का प्रभाव तो रहा ही होगा। यही कारण है कि दर्शन के विषय पर भी लिखने के लिए इन सभी दरबारी राज्याश्रित नाटककारों ने नाटक विधा का आश्रय ग्रहण किया जिससे कि स्पष्टता के साथ वे राजाओं के जीवन-वृत्त को व्यंजित किया जा सके। और यही कारण है कि प्राय: सभी नाटकों में इतिवृत्त के चौखटे के रूप में राजाओं का उल्लेख है, उनके व्यक्तिगत ईर्ष्या-द्वेष का उल्लेख है, उनके अत्याचारों का उल्लेख है, उनकी धार्मिक सहिष्णुता और असहिष्णुता का उल्लेख है, उनकी घरेलू अव्यवस्थाओं का उल्लेख है और उनके संघर्षों और विजय-

विसङ्गतियां उभरती हैं और मनुष्य का दैनन्दिन जीवन खतरनाक बन जाता है। आज हम जिस संक्रमण की स्थिति से गुजर रहे हैं, जिस विभिन्नता और शैथिल्य का मुकाबला कर रहे हैं — वह एक खतरनाक स्थिति ही है। आज आदमी, आदमी का दुश्मन बन गया है भाई-भाई को कुछ नहीं समझता, पति पत्नी को कुछ नहीं समझता और बेटा, बाप का बिरोध करता है, भ्रष्टाचार और सामाजिक अत्याचार बढ़ते जा रहे हैं — ऐसी संकटपूर्ण घड़ी आखिर आई क्यों है ? इसका एक मात्र उत्तर है — धर्म के प्रति श्रद्धा का न होना। इस धार्मिक उदासीनता के कारण वह सूत्र ही हमारे हाथ से निकल गया था जो कि विभिन्नता में एकता लाने का प्रयास करता है।

कवि या साहित्यकार अपनी प्रज्ञा द्वारा इन तथ्यों को ग्रहण करके नये सिरे से लोगों में धार्मिकता के प्रति आस्था जगाता है, वह धर्म की युगानुरूप व्याख्या करता है और उसमें संशोधन - परिवर्द्धन भी करता है। इस प्रकार साहित्यकार या कवि की निश्चित धार्मिक भूमिका होती है।

लगभग सभी प्रतीक नाटकों में अपने-अपने ढंग से यह भूमिका निभाए जाने का प्रयास मिलता है। इनमें से कुछ तो सर्वाधिक रूप में धार्मिकता को महत्त्व देकर लिखे गए हैं। उदाहरण के लिए `धर्मविजयम्`, `पुरंजनचरितम्` आदि के नाम लिए जा सकते हैं। `धर्मविजय` में धर्म की प्रधानता मान कर सारी बात कही गई है। धर्म में आने वाली बाधाओं का उल्लेख है और उनके समाधान का उल्लेख है और अन्तत: धर्म की विजय का उल्लेख है। दूसरे शब्दों में `धर्मविजय` का उद्देश्य ही धर्म को प्रतिष्ठित करना है। नाटक विधा को तो साधनरूप में ही नाटककार ने अपनाया है। इसीलिए नाटक में नाट्यकला का अभाव मिल सकता है किन्तु धर्म की प्रतिष्ठा के प्रयास का अभाव नहीं है। इसके अतिरिक्त `पुरंजनचरितम्`, `जीवानन्दनम्`, आदि नाटकों में भी विभिन्न भक्ति सिद्धान्तों को उभाड़ा गया है। `जीवानन्दनम्` में शिवभक्ति का प्रति-

पादन है तो `पुरंजनचरितम्` में विष्णुभक्ति का । धर्म के इतिहास में इन विभिन्न भक्तिमार्ग ईश्वरोपासना के विभिन्न मार्ग निर्दिष्ट करते हैं जिनसे होकर भक्त भगवान् के शरण जाता है ।

कहने का तात्पर्य यह है कि इन प्रतीक नाटककारों ने न केवल साहित्यिक गतिविधियों का प्रतिनिधित्व किया है वरन् अपने समय के धार्मिक गतिविधियों का भी प्रतिनिधित्व करते दीखते हैं । वे अपनी प्रज्ञाशक्ति द्वारा धार्मिक उत्थान को नियोजित करने में सक्षम दीखते हैं । यहां तक कि वे कला के प्रति ईमानदारी नहीं बरत पाते किन्तु अपनी धार्मिक-निष्ठा के प्रति बड़े ईमानदार लगते हैं ।

दार्शनिक दृष्टि से इन नाटकों पर विचार करने पर ऐसा लगता है कि अब तक की कही गई सारी बातें गौण हैं और यही नाटक का प्रधान केन्द्रविन्दु है । वस्तुत: इन नाटकों में अगर किसी वर्ण्यविषय की प्रधानता है तो वह है --दार्शनिक विवेचन । पिछले अध्याय में इस पर विशेष व्याख्या प्रस्तुत की जा चुकी है । दार्शनिक विवेचन कहने का यह मतलब नहीं है कि इन नाटकों में दार्शनिक दृष्टिकोण से भारतीय संस्कृति का विश्लेषण किया गया । इसका मतलब सिर्फ यही है कि इन नाटकों में भारतीय संस्कृति के निर्माणात्मक तत्त्व अभिव्यंजित हैं । संस्कृति की वे मूल-भूत तत्त्व जिनसे किसी संस्कृति का निर्माण होता है -- प्राकृतिक प्रभावों और मानव की सहजात प्रवृत्तियों से ही उत्पन्न होते हैं । मनुष्य की आस्था, उसका विश्वास, आशा-निराशा , उत्थान-पतन -- इन सबके समवेत संघटन से ही किसी जातीय सांस्कृतिक इतिहास का प्रतिफलन होता है ।

मनुष्य स्वभाव से ही जिज्ञासु होता है । जब पहले-पहल इस धरती पर मनुष्य आया तो उसका सम्पर्क सबसे पहले अपने चारों तरफ के वातावरण से हुआ । इस वातावरण में अनेकानेक न जाने कितनी तरह की चीजें और विविध

तारं विद्यमान थीं । एक तरफ उसने आकाश में अग्नि सदृश सूर्य को देखा, शीतल मनोहारी चन्द्रमा को देखा, अपनी लघुता में खिल-खिलाते तारों को देखा, तो दूसरी ओर उसने बनप्रान्तों की हरियाली को देखा, निर्द्वन्द्व भाव से विचरण करने वाले जानवरों को देखा, रंग-विरंगे पुष्प देखे और जी भर कर देखी स्फटिक शिलाएं । निश्चित था कि इन विविधताओं के प्रति वह अपनी प्रतिक्रियायें व्यक्त करता, उसने यही किया भी । और यही प्रतिक्रियायों का ढंग मानव जीवन का इतिहास बन गया । वस्तुत: मनुष्य प्रारम्भ से आज तक इन प्राकृतिक विविधताओं के प्रति अपनी प्रतिक्रियायें ही व्यक्त करता है । हां, प्रति-क्रियायें व्यक्त करने के प्रकार में भिन्नता होती है और यही भिन्नता मनुष्य के सांस्कृतिक और बौद्धिक स्तरों का परिचय देती है । प्रारम्भ में मनुष्य कुछ और ही प्रतिक्रिया व्यक्त करता था और आज दूसरे ही प्रकार से व्यक्त करता है ।

प्रारम्भ में मनुष्य ने केवल प्रकृति का रमणीय स्वरूप ही नहीं देखा उसने प्रकृति के भयंकर रूप के भी दर्शन किए । उसने सामुद्रिक तूफानों को देखा, जंगलों की धधकती हुई दावाग्नि को देखा, भीषण जलप्रपातों को देखा, अतिवृष्टि और अनावृष्टि के कष्टों को देखा और खतरनाक रोग-व्याधियों को देखा । एक ओर जहां उसने प्राकृतिक रमणीयता से अपनी भाव-विह्वलता का सम्बन्ध जोड़ा तो दूसरी ओर प्रकृति की प्रचण्डता से भय भी अनुभव किया । इसीलिए उसने समस्त प्राकृतिक प्रचण्डताओं को देवी-देवताओं के रूप में स्थापित कर उनको खुश करने का प्रयास किया । इन स्थापित देवी-देवताओं की प्रार्थनाएं और आराधनाएं होने लगी । समस्त वैदिक साहित्य इसी दैवी प्रार्थना पत्र के रूप में लिखा गया । समस्त वैदिक साहित्य आज अपने जिस रूप में उपलब्ध है उसे एक बृहद् स्तुति ग्रन्थ ही की संज्ञा प्रदान की जा सकती है । कहीं उसं वर्षा के देव इन्द्र की स्तुति है , कहीं देव अग्नि की स्तुति, कहीं ताप के

देव सूर्य की स्तुति है तो कहीं प्रभात की देवी उषा की ।

वस्तुत: साहित्य मानव-जीवन की सांस्कृतिक विरासत होता है । वह जातियों के बौद्धिक उत्थान-पतन की यथार्थ कथा कहता है । इस स्थापना को साथ रखकर प्राय: सभी प्रतीक नाटकों को ओर देखा जाय तो उनमें तत्कालीन सांस्कृतिक चेतना ही सर्वाधिक रूप में वर्णित मिलेगी । चाहे वह 'प्रबोधचन्द्रोदय' हो या 'मोहराजपराज्य', 'धर्मविजय' हो या 'यतिराजविजय', 'विद्यापरिणयन' हो या 'जीवानन्दनम्' — सभी में दार्शनिक तत्त्व-चिन्तन की ही प्रधानता है । यह दार्शनिक चिन्तन तत्कालीन संस्कृति का अंग है । 'प्रबोधचन्द्रोदय' में अद्वैत दर्शन का प्रतिपादन किया गया है, तो 'संकल्पसूर्योदय' में विशिष्टाद्वैत की प्रतिष्ठा की गई है, 'पुरंजनचरितम्' में वैष्णव दर्शन का दिग्दर्शन कराया गया है तो 'विद्या-परिणयनम्' और 'जीवानन्दनम्' में शैवदर्शन वर्णित है ।

तात्पर्य यह कि इन सभी नाटकों में उस समय के बौद्धिक एवं दार्शनिक चिन्तन का निष्कर्ष भरा हुआ है । इसलिए दूसरे शब्दों में हम कह भी सकते हैं कि इन सब नाटककारों ने अपनी - अपनी सामर्थ्य के अनुसार भारती संस्कृति प्रचारित और प्रसारित करने का कार्य सम्पादित किया है । तत्का-लीन जनमानस में लोगों ने सांस्कृतिक चेतना उत्पन्न करने का यह जो प्रयास किया है, निश्चय ही वह अभूतपूर्व महत्त्व का है । दार्शनिक अवबोध की क्षमता सबमें होती है किन्तु दर्शन शास्त्र की विचारात्मक जटिलता एवं तार्किक नीरसता के कारण दार्शनिक अभिरुचि सर्वसाधारण को नहीं रह जाती । इन नाटकों को इस बात का असाधारण श्रेय है कि उन दुरूह दार्शनिक तत्त्वों को ये सर्वजन सुलभ बनाते हैं । तात्त्विक चिन्तन रूपी कटु किन्तु गुणकारी औषध को मधु या दुग्धरूपी ये नाटक सर्वथा ग्राह्य बना देते हैं ।
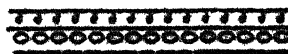
उपसंहार

अपने इस अध्ययन और विवेचन का समापन करते हुए हम स्पष्ट कर देना चाहते हैं कि प्रतीक-शैली के नाटकों के प्रणयन की संस्कृत वाङ्मय में एक सुदीर्घ परम्परा मिलती है। इस शैली को नाट्यकृति में रूपायित करने का सर्वप्रथम महत्त्वपूर्ण प्रयास महाकवि अश्वघोष ने किया था। यद्यपि अश्वघोष की वह नाट्यकृति समग्रता में नहीं प्राप्त होती लेकिन उसकी लघुकाय खण्डित प्रति जो उपलब्ध होती है उस पर विचार करने पर यह निश्चय पूर्वक कहा जा सकता है कि नाटकों में प्रतीक शैली के प्रथम प्रयोग का श्रेय महाकवि अश्वघोष को ही है।

यद्यपि नाटकों में प्रतीक-पद्धति के विकास का मूल स्रोत हमें वैदिक संहिताओं में मिलता है। परवर्ती ब्राह्मणग्रन्थों और उपनिषदों में भी इस प्रतीक शैली को कुछ विकसित रूप में ग्रहण किया गया है। इसके पश्चात् रामायण और महाभारत में भी इस शैली का प्रयोग पर्याप्त विकसित रूप में हुआ है।

भास और कालिदास के क्रमशः 'बालचरित' और 'अभिज्ञान् शाकुन्तल' में भी कुछ प्रतीक पात्रों का संघटन हुआ है किन्तु इन नाटकों में पूर्णप्रतीकात्मकता नहीं है जैसा कि द्वितीय अध्याय में दिखाया जा चुका है।

यद्यपि प्रतीक-नाटकों के प्रणयन का समारम्भ पहिली शताब्दी में ही अश्वघोष द्वारा हो चुका था किन्तु परवर्ती काल में लगभग एक सहस्र वर्षों

तक इस शैली के नाटक उपलब्ध नहीं होते ।

इस परम्परा का पूर्ण विकास ग्यारहवीं शताब्दी के मध्य में कृष्णामिश्र लिखित प्रबोधचन्द्रोदय प्रथम समुपलब्ध और पूर्ण कृति है । फिर तो प्रतीक नाटकों के प्रणयन की होड़-सी दिखायी पड़ती है, नाटककारों का एक पूरा वर्ग ही इस क्षेत्र में निरत दीख पड़ता है । परिणामस्वरूप संकल्पसूर्योदय अमृतोदय, चैतन्यचन्द्रोदय आदि महत्त्वपूर्ण कृतियां इस काल में प्रणीत हुई हैं जैसा कि कहा जा चुका है ये सभी प्रतीक नाटक अधिकांशत: दार्शनिक हैं, इनमें चरित्रों के माध्यम से किसी न किसी दार्शनिक समस्या को सुलझाने तथा किसी दार्शनिक मतवाद की स्थापना का इतिहास प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है । इनके अधिकांश चरित्र अमूर्त हैं और नाटककारों ने अपनी भावप्रवणता और सृजनशीलता से उन्हें सजीव और जीवन्त बनाने की चेष्टा की है । ये सभी अमूर्त पात्र वस्तुत: अमूर्त लगते नहीं है । रंगमंच पर उनकी प्रस्तुति ठीक वैसी ही होती है जैसी कि लौकिक नाटक के चरित्रों की । रंगमंच पर वे लौकिक चरित्रों की भांति रोते हंसते और वार्तालाप करते हैं । यह एक अद्भुत वस्तु है कि दया, क्षमा, विवेक, मोह इत्यादि चलते-फिरते मांसल शरीर-धारी दिखाई पड़ते हैं । निश्चय ही दर्शकों में एक कुतूहल मिश्रित आनन्द की अभिव्यक्ति होती होगी जबकि वे ऐसे नाटकों को रंगमंच पर अभिनीत देखते होंगे ।

इन प्रतीक नाटकों के लेखकों ने धार्मिक सिद्धान्तों को भी इन प्रतीक नाटकों के माध्यम से प्रतिष्ठित किया है जैसा कि पहले देख चुके हैं धर्मविजय का मूल प्रतिपाद्य `धर्म की प्रतिष्ठा` ही है । भूदेवशुक्ल ने अपनी इस कृति में लोक-मानस को धार्मिक प्रवृत्तियों की ओर अग्रसित करने का प्रयास किया है । इसके अतिरिक्त भक्ति की प्रतिष्ठापना भी इन नाटकों की लक्ष्यभूत रही है `जीवानन्द में शिवभक्ति और पुरंजनचरितम् ` आदि में विष्णु भक्ति को श्रेयस का अद्वितीय मानकर उसके प्रतिष्ठापन में अनेक युक्तियां प्रदर्शित की गई हैं ।

इन प्रतीक नाटकों में न केवल धर्म और दर्शनको व्याख्यायित किया गय

है वरन् लोक जीवन की अन्य महत्त्वपूर्ण समस्याओं पर भी विचार किया गया है। शारीरिक रोग लोक-जीवन की एक ऐसी ही अनिवार्य समस्या है। नाटककार आनन्दरायमखी और वैंकटरमणाचार्य ने क्रमश: `जीवानन्दनम्` और `जीव-संजीविनी` में एक व्यापक धरातल पर इसी समस्या को अपना मूल प्रतिपाद्य विषय बनाया है। शारीरिक रोगों के लक्षण उपलब्ध उपलक्षण और उनकी औषधि का रोचक वर्णन इन नाटकों में किया गया है। इसीलिए इन नाटकों को न केवल साहित्य के क्षेत्र में बल्कि औषधिविज्ञान के क्षेत्र में भी अन्यतम स्थान प्राप्त है।

इनमें तत्कालीन दार्शनिकों की नोक-फोंक का बड़ा ही लोमहर्षक परिचय दिया गया है। दार्शनिकों की प्रतिस्पर्धा और उनके शास्त्रार्थ प्राचीन काल में लोक-प्रिय रहे हैं। अपनी-अपनी बातों के सत्यापन के लिए विद्वानों में बड़ा संघर्ष चलता रहा है। एकमतवादी दूसरे के मत के खण्डन में अपनी सारी शक्ति लगा देता था। इन दार्शनिकों का खण्डन-मण्डन ही भारतीय दर्शन-शास्त्र के विशाल वाड़्मय ~~इन नाटकों में~~ का कारण है। इन नाटकों में भी नाटककारों ने अपने मत-सिद्धान्तों को सर्वोत्कृष्ट मत प्रदर्शित करने का प्रयास किया है। नाटक के चरित्रों द्वारा उक्त मतवादों का सविस्तार खण्डन-मण्डन कराया गया है। पात्रों के चुनाव , कथा के संघटन और नाटक की मूल व्यंजना में भी इस दृष्टिकोण का प्रत्यक्ष प्रभाव दीख पड़ता है। इस प्रकार हर नाटक एक न एक मतवाद का प्रतिनिधित्व करता हुआ जान पड़ता है :—
यथा— प्रबोधचन्द्रोदय अद्वैतदर्शन का , तो संकल्पसूर्योदय विशिष्टाद्वैत का ,मोहराजपराजय जैन दर्शन का तो अमृतोदय न्यायदर्शन का ।

इन दार्शनिक नाटकों का महत्त्व इसलिए है कि इनमें दार्शनिक रूक्ष शैली के स्थान पर सरस और कान्तासम्मित उपदेश करने वाली शैली में गूढ़ दार्शनिक तत्त्वों को व्यक्त किया गया है। इन नाटककारों ने अपने - अपने

दर्शन का जनमानस तक यह जो प्रसार किया है वह भारतीय दर्शन के इतिहास की एक महत्त्वपूर्ण बात है। दर्शन की वह विचार धारा जो मुठ्ठी भर उच्च -बुद्धि-स्तरीय विद्वद्मण्डली में ही व्याप्त थी उसे लोक मानस के इस व्यापक धरातल पर उतारने में इन नाटककारों का अभूतपूर्व योगदान है।

इस प्रशंसा के साथ ही ये नाटक अपनी साहित्यिक शिथिलता के लिए वचनीय भी बनते हैं। प्रतीक नाटकों में कलाका वह स्वरूप नहीं उभर पाया है जो सामान्य संस्कृत साहित्यिक नाटकों में मिलता है। इनमें नाट्यशास्त्र के नियमों का पालन तो किया गया है किन्तु काव्यात्मक सौन्दर्य की अभिव्यक्ति का नामोनिशान भी दुर्लभ है। इनमें मानव सुलभ भावों की व्यंजना नहीं मिलती। इनमें वर्णित घटनाएं और पात्रोंकी यथार्थ स्थिति दर्शकों या पाठकों के लिए कभी भी विश्वसनीय नहीं हो पाती। कहने की आवश्यकता नहीं कि रसाभिव्यक्ति में यह बात कितनी अधिक बाधक होती है। रसाभिव्यक्ति के अभाव में किसी भी काव्यग्रन्थ को काव्य कहे जाने का सौभाग्य नहीं मिल सकता। हम तो कहेंगे कि इन कृतियों में काव्यात्मक सौन्दर्य है ही नहीं। इन नाटकों के पात्र भी मनुष्यों जैसे नहीं लगते ऐसी स्थिति में साधारणीकरण की क्या गति होगी ? इन नाटककारों में से कुछ ने अपनी अभिव्यक्ति की कुशलता से चरित्रों के मनुष्य होने का आभास अवश्य कराया है किन्तु उनका यह कार्य आभास की स्थिति से आगे नहीं बढ़ पाता। रंगमंच की प्रस्तुति भी इन नाटकों की सम्भव नहीं हो पाती। ये कुछ उच्च बौद्धिकों के मनोरंजन में तो समर्थ हो सकते हैं किन्तु इनमें रसविभोर कराने की क्षमता शून्य ही समझनी चाहिए।

लेकिन इसका तात्पर्य यह नहीं है कि ये नाटक सर्वथा महत्त्वहीन हैं। वस्तुत: इनका महत्त्व इनकी दार्शनिकता में ही है। पाश्चात्य परम्परा के समस्या-प्रधान नाटकों को भी नाटक होने का महनीय आदर तो प्राप्त है।

परिशिष्ट

परिशिष्ट सं॰ १

KLEINERE SANSKRIT - TEXT

HEFT I

BRUCHSTUCKE BUDDHISCHER

DRAMEN

HERAUSGEGEBEN

VON

HEINRICH LUDERS

MITG TAFELN

BERLIN 1911

DRUCK UND VERLAG VON

GEORG REIMER

Page 66

Vorderseite

1. ---- y bhavanivarttakeṣu Kleśesu na kiñcidasti pprahatavyam yasya nityam— anitya(m) v(a) na K(i)ṅc(i)d = ast(i) boddhavya(ṁ)[1]—t. m. y. n. kṣ. pt.[2] --------(m). (y) ūkh.ṛ.[3] ------------ (r). J. (y). sy. (dh)v. (s)T[4]

2. ---- yen = āvaptam[5] = Paramam = amṛtan = durllabham = ṛtam[6] manobuddhis = tasmiminn = aham = abhirame śantiparame — Dhrti -------- asti asti tat matprabhavaparigrhitam =

purusa(m) Jñakam = Tejah,Praaubbhuta(m)-

5. ---------------(d) šrī = K.[11] -------- — Buddhih-
tathā tat apica — nityam sa supta(i)va yasya na
buddhir = asti nityam sa matt ive yo
dhrtiviprahīna[12] ---------------------- se ca ya
~~(?)~~(s)y. n. k.[13]

RUCKSEITE

1. ----- tis(tn) yas(y)a kīrt.īn[14]— Kīrti ----
kva punar = idānīm[15] sa purusavigrahs dharmah
Samprati viharati — Buddhih — Svādhīnāyām =
ṛddhan kvapunar = naviha[16] --------------------
va[17] vyomni yati vra-[18]

2. ~~66~~-------- sa(n)g.(s)t.(y)-----d[19] = gām =
praviśati bahudhā mūrttim vibha(jati) Khe varsaty
= ambudhārām jvalati ca yugapat = sandhyambuda[20]
iva sva- cchandat = parvva -----(v)rajati ca
vi(dhiv).(d) = dh ----(m)m.(ñ) = c(ca)-[21]

3. ----(ñ) = jacaraṇ — Dhṛtiḥ — tena hi sarvvāyeva tā

vad = enaṁ viśavṛksikumāh hi sa maharsir =

magadhapurasy= opavane samprati — Sor mabohr(ū)s =

tanumṛdujalāpānipā(da)-[22]

---

1. boddhavya ist später nachgetragen. 2. Lies tamo

yena ksiptam. 3. Lies myūkhair. 4. Die Letzten

akṣaras dieṣer Zeile sind später nochgezogen. Lies

rajo yasya dhvastaim. 5. Lies = āvatam. 6. Der

anusvara ist später nachgetragen. 7. Lies paraspṛryam.

11. Lies idānīm = K. 12. Lies oviprahinah. 13. Lies

etwa na. Kīrttir = asti. 14. Lies Kirttih. 15. das i

und im sind später nachgezogan. 16. Lies viharati. 17.

Lies dem letzten ca steht noch ein undeutliches aksara

von späterer Hand 22. Das ā von jā ist später

nachgezogen. Lies opādah.

परिशिष्ट सं० २

सहायक-ग्रन्थ सूची —

सौकर्य की दृष्टि से ग्रन्थसूची अकारादि क्रम से रखते हुए अंग्रेजी हिन्दी, संस्कृत —तीन वर्गों में प्रस्तुत की गई है।

अंग्रेजी -ग्रन्थ

इण्डियन फिलासफी — डा० एस० राधाकृष्णान् ।

इण्डियन फिलासफी — चन्द्रधर शर्मा, बनारस हिन्दू यूनिव०,१९५२

ए हिस्ट्री आफ इंग्लिश लिटरेचर — (एम० कैजामिया)

एहिस्ट्री आफ इंग्लिश लिटरेचर — (फ्राम चासर टू माडर्न टाइम), अमरनाथ जौहरी, सरस्वतीसदन,मंसूरी, प्रथम संस्करण जनवरी १९६१, पृ० १०८—१०९

ऐनशैण्ट इण्डिया — आर०सी० मजूमदार,मोतीलाल बनारसीदास, १९५२ ईसवी

ड्रामाज़ — एच०एच० विल्सन, चौखम्भा संस्कृत सीरीज़, वाराणसी,१९६२

दी हिस्ट्री आफ इण्डियन फिलासफी — डा० दास०गुप्ता

दी हिस्ट्री आफ कल्चर आफ द इण्डियन पिपुल — आर०सी मजूमदार, भारतीय विद्याभवन, बाम्बे, पृ० ३१२, ३८४, ४४४, ४४३

दी नम्बर आफ रसाज़ — डा० वी० राघवन्, मद्रास, १९४०

पोलिटिकल हिस्ट्री आफ इण्डिया — हेमचन्द्रराय चौधरी, कलकत्ता यूनिवर्सिटी प्रेस, दिसम्बर १९५३, पृ० ८३

हिस्ट्री आफ इण्डियन लिट्रेचर — एम० वीन्टरनीट्ज, मोतीलाल बनारसीदास वाल्यूम ३, भाग १

हिस्ट्री आफ़ ऐनशेण्ट इण्डिया — रमाशंकर त्रिपाठी, मोतीलाल बनारसीदास, पृ० २२५, २२६, २३१

हिस्ट्री आफ संस्कृत लिट्रेचर — ए० वी० कीथ

हिस्ट्री आफ संस्कृत लिट्रेचर — मैकडानल, लन्दन, द्वितीय संस्करण, नवम्बर, १९०५ ई०

संस्कृत-ग्रन्थ

अमृतोदयम् नाटकम् — गोकुलनाथश्री उपाध्याय, निर्णयसागर प्रेस कोलभटलेन, बाम्बे, द्वितीय संस्करण, १९३५ ई०

अमृतोदयम् नाटकम् — गोकुलनाथोपाध्याय, चौखम्भा संस्कृत सीरीज, व्याख्याकार — आचार्य रामचन्द्र मिश्र, १९६५

चैतन्यचन्द्रोदयम् — कविकर्णपूर, निर्णयसागर प्रेस, २३ कोलभट लेन, बाम्बे, द्वितीय संस्करण, १९१७

जीवन्मुक्तिकल्याणम् — श्री नल्लाध्वरी, श्रीरङ्गम, श्रीवैणाविलासप्रेस, गोपालमन्दिर लेन, बनारस सिटी, १९३०

जीवसंजीविनीनाटकम्	—	श्रीवेंकटरमणाचार्य, बंगलोर, वि०वि० सुव्वय्य अण्ड सन्स मुद्राक्षरशाला, मुद्रित १९५५ ।
जीवानन्दनम् नाटकम्	—	श्री आनन्दरायमखी, अड्यार, मद्रास, १९४७ ई०
जीवानन्दनम्	—	श्री आनन्दरायमखी – हिन्दी व्याख्याकार श्री रामचन्द्र शुक्ल, टाइम टेबुल प्रेस, बनारस, सितम्बर १९३५
धर्मविजयनाटकम्	—	भूदेव शुक्ल, विद्याविलास प्रेस, गोपाल मन्दिर लेन, बनारस सिटी, १९३०
प्रबोधचन्द्रोदयनाटकम्	—	श्रीकृष्णमिश्र, हिन्दी व्याख्याकार – श्री रामचन्द्र मिश्र, चौखम्बा विद्या-भवन, बनारस-१, १९५५
प्रबोधचन्द्रोदयनाटकम्	—	श्रीकृष्ण मिश्र, (चन्द्रिका व्याख्या, प्रकाश व्याख्या सहित) निर्णय सागर प्रेस, बाम्बे, षष्ठ संस्करण, १९३५
पुरंजनचरितम्	—	श्रीकृष्णदत्त मैथिल, चेटरबुक स्टाल, प्रथम संस्करण, १९५५
मोहराजपराजयम्	—	यशपाल, सैन्ट्रल लाइब्रेरी, बड़ौदा, १९१८ ई०
यतिराजविजयनाटकम्	—	श्रीवरदाचार्य, तिरुमाला-तिरुपति-देवस्थानम्-तिरुपति, १९५६
विद्यापरिणयम्	—	श्री आनन्दरायमखी, निर्णयसागर, प्रेस, द्वि०सं०, बाम्बे, १९३०
संकल्पसूर्योदयम्	—	श्रीवेंकटनाथ, वेदान्तदेशिक, अड्यार, मद्रास, १९४८

अन्य संस्कृत के सहायक ग्रन्थ–

अमर कोश	–	श्री अमरसिंह, श्री वेंकटेश्वर प्रेस, बाम्बे १९५२ ई०
ग्रीब्स जर्मन डिक्शनरी	–	(जर्मन एण्ड इंग्लिश) ,पु०न०४४३५।४ इलाहाबाद यूनिवर्सिटी लाइब्रेरी ।
मेदिनीकोश	–	—
वाचस्पत्यम् (बृहत् संस्कृताभिधानम्)	–	चौखम्बा संस्कृत सीरीज़, ग्रन्थ स०– ९४, पंचम तथा षष्ठ भाग, १९६२
वेब्सटर्स न्यू इन्टरनेशनल डिक्शनरी	–	पृ० ६८
वैदिकपदानुक्रम कोश	–	(उपनिषद्), खण्ड ३, लाहौर , १९४५ (प–ह)
वैदिकपदानुक्रमकोश या ए वैदिक वर्ड कानकार्डेंस	–	(ब्राह्मण एण्ड आरण्यक), (त–ह) विश्वबन्धु शास्त्री,लाहौर, वाल्यूम २, १९५६,पृ० ६७४ ।
शब्दकल्पद्रुम	–	स्याररराजाराधाकान्त देव, चौखम्बा संस्कृत सीरीज़, वाराणसी, तृतीय भाग पृ० २६८
शब्दरत्नसमन्वयकोश	–	पृ० २०, ५९
संस्कृत इंग्लिश डिक्शनरी	–	मोनियर विलियम्स, न्यू एडीशन, पृ० ८८६
संस्कृत इंग्लिश डिक्शनरी	–	वामन शिवराम आप्टे, जवाहर नगर, डेलही – ६, १९६५

संस्कृत-हिन्दी कोश — वामन शिवराम आप्टे, मोतीलाल - बनारसी दास, १९६६,पृ० १०५६

हलायुधकोश — (अभिधानरत्नमाला) संपादक- जयशंकर जोशी,सरस्वती भवन, वाराणसी, प्रकाशन ब्यूरो, सूचना विभाग,उत्तर प्रदेश, पृ० ४५६

काव्य एवं लक्षण ग्रन्थ-

ईशादि नौ उपनिषद् — व्याख्याकार- हरिकृष्णदास, गोयन्दका,गीता प्रेस,गोरखपुर, सं० २०२०

उत्तररामचरितम्[१] — भवभूति, चौखम्बा संस्कृत सीरीज़,वाराणसी,चतुर्थ संस्करण, सं० २०१९

उपनिषदार्यभाष्य-द्वितीयभाग — (छान्दोग्य और बृहदारण्यक साथ-साथ

ऋग्वेद संहिता — सायण भाष्य, (९- १०वां मण्डल), चतुर्थ भाग, सं० १८३८

काव्यप्रकाश — मम्मटाचार्य,झलकीकर, भण्डारकर ओरियण्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट,सप्तम संस्करण, पूना, १९६५

काव्यतत्त्वसमीक्षा — नरेन्द्रनाथ शर्मा चौधरी, मोतीलाल-बनारसीदास,१९५९

कालिदास — एस०ए० सावनिस, बाम्बे,१९६६

गोपथब्राह्मणोत्तरभाग — कलकत्ता, १८७२

छान्दोग्योपनिषद् — (सानुवाद शांकरभाष्य), गीता प्रेस, गोरखपुर, च०सं०,सम्वत् २०१९

---

१. कालिदास,भवभूति,भट्टनारायण,शूद्रक,विशाखदत्त आदि की कृतियां(सामान्यनाटक)

तैत्तिरीयब्राह्मण प्रथम भाग — ग्रन्थाङ्क ३७, १९३९

दशरूपकम् — धनंजय कृत, व्याख्याकार- डा० भोला-नाथ शङ्कर व्यास, चौखम्भा विद्या-भवन, वाराणसी, द्वितीय संस्करण, १९६२

नाट्यशास्त्र — गायकवाड ओरीयण्टलसीरीज, भाग १-३ १९५६

नाट्यशास्त्र — काव्यमाला-४२, बाम्बे, १९४३

निरुक्त —यास्काचार्य, बाम्बे संस्कृत सीरीज़ ।

बालचरितम् — भास, व्याख्याकार-रामजी मिश्र, चौखम्भा विद्याभवन, चौक, वाराणसी-१ प्रथम संस्करण, १९६१

महाकवि अश्वघोष — डा० हरिदत्त शास्त्री, शान्तिनिकेतन, कानपुर, प्रथम संस्करण, १९६३

महाभारत (मूलमात्र) — महर्षि श्रीकृष्णाद्वैपायन, आदिपर्व, भण्डारकर ओरियण्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट पूना, १९३३

यजुर्वेदसंहिता — अजमेर, १९७४ वि०

रसगङ्गाधर — पण्डितराजजगन्नाथ, मधुसूदन शास्त्री, बनारस हिन्दू यूनिवर्सिटी, प्रथम भाग, सं० २०२०

शतपथब्राह्मण — वर्लिन, १८५५

शांख्यायनब्राह्मण — आनन्दाश्रमसंस्कृत सीरीज,पूना,१९११ ।ए०

शिशुपालवधम् — श्री माघ,टीकाकार–हरिगोविन्द शर्मा चौखम्बा विद्याभवन,वाराणसी , द्वितीय संस्करण, सं० २०१८

श्रीमद्भागवत्महापुराण(मूलमात्र) — गीताप्रेस, गोरखपुर, द्वितीय संस्करण, सं० २०२०

श्रीमद्वाल्मीकिरामायण — द्वितीय संस्करण, मद्रास,~~२०२०~~ १९१८

साहित्यदर्पण — विश्वनाथ कविराज,मोतीलाल बनारसीदास, द्वितीय संस्करण,१९५६ ।

सामवेदसंहिता — चतुर्थसंस्करण, सं० २००८ ।

हिन्दी-ग्रन्थ

अर्वाचीन संस्कृत साहित्य — प्रो० श्रीधर भास्कर, माडर्न बुक स्टोर, अकोला एवं नागपुर, सन् १९६३ ।

चन्देल और उनका राजत्वकाल — श्री केशवचन्द्र मिश्र ,पृ० १०६

प्रतीकशास्त्र — श्री परिपूर्णानन्द वर्मा, हिन्दी समिति सूचना०, उत्तरप्रदेश,लखनऊ, ग्रन्थमाला–९७ , प्रथमसंस्करण, १९६४

प्राकृत साहित्य का इतिहास — डा० जगदीशचन्द्र जैन , चौखम्बा विद्याभवन,वाराणसी, प्रथम संस्करण, सं० २०१८, पृ० ६१४

प्राचीन भारत का इतिहास — डा० विमलचन्द्र पाण्डेय(२५०ई० से ७५०),

प्राचीन भारत का राजनीतिक तथा सांस्कृतिक इतिहास — (पूर्व ऐतिहासिक काल से ३२०ई०, तक), विमलचन्द्र पाण्डेय, हिन्दुस्तानी एकेडमी, इलहाबाद, पृ०१३

भारतीय प्रतीक विद्या — डा० जनार्दन मिश्र, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना ३, वि० २०१५

भारतीय दर्शन — श्री बलदेव उपाध्याय, शारदा मन्दिर. वाराणसी, षष्ठ संस्करण, १९६०

भारतीय दर्शन — श्री सतीशचन्द्र चट्टोपाध्याय एवं श्री धीरेन्द्र मोहन दत्त, श्रीहिमालय प्रेस, पटना, ४, १९६४

रङ्गमंच — शेल्डान चीनी, अनुवादक, श्रीकृष्णदास, हिन्दी समिति सूचना विभाग, उत्तर-प्रदेश, लखनऊ

हमारी नाट्यपरम्परा — श्रीकृष्णदास, साहित्यकार संसद, प्रथम संस्करण, १९५६

हिन्दी साहित्य कोश — सं० धीरेन्द्र वर्मा, ज्ञानमण्डल लि०, वाराणसी, प्रथम संस्करण, सं० २०१५

संस्कृत नाटककार — कान्तिकिशोर भरतिया, प्रथम संस्करण, १९५९

संस्कृत आलोचना — पं० बलदेव उपाध्याय, प्रकाशन ब्यूरो, सूचना विभाग, उत्तरप्रदेश, लखनऊ, प्रथम संस्करण १९५७ ।

संस्कृत नाटक — ए०बी०कीथ, भाषान्तरकार - उदयभानुसिंह, मोतीलाल बनारसीदास, प्रथम रूपान्तर, १९६५

संस्कृत साहित्य का इतिहास — वाचस्पति गैरोला, चौखम्बा विद्याभवन. वाराणसी, १ ।

संस्कृत साहित्य का नवीन इतिहास — कृष्णचैतन्य, अनुवादक—विनयकुमार राय, चौखम्बा विद्या भवन, वाराणसी ।

शोध-निबन्ध

थियरी एण्ड प्रैक्टिस आफ हास्य रस इन संस्कृत ड्रामा — डा० लालरमायदुपाल सिंह, पृ० ४०३

द ऋग्वैदिक डाइलाग्स-ए स्टडी — कु० उषाकरम वेलकर, पृ० २१, २३, २७, २६, ३० ।

नैषध परिशीलन — डा० चन्द्रिकाप्रसाद शुक्ल , पु०न० $\frac{८१०}{१०}$ स,

प्रबोधचन्द्रोदय और उसकी हिन्दी परम्परा — डा० सरोज अग्रवाल, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रथम संस्करण, १९६२ ।

भोजाज शृंगारप्रकाश — डा० वी० राघवन्, अड्यार, मद्रास, २० १९६३ ।

हिन्दी काव्य में अन्योक्ति — डा० संसारचन्द्र, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली प्रथम संस्करण, १९६० ।

हिन्दी नाटकों का विकासात्मक अध्ययन (संस्कृत और अंग्रेजी नाटकों के परिपार्श्व में) — डा० शान्तिगोपाल पुरोहित, साहित्य-सदन देहरादून, प्रथम संस्करण, १९६४, पृ० १४३ ।

हिन्दी नाटकों का उद्भव और विकास — डा० दशरथ ओझा, द्वितीय संस्करण, सं० २०१३

हिन्दी काव्य में प्रतीकवाद का विकास — डा० वीरेन्द्रसिंह, प्रयाग विश्वविद्यालय प्रयाग, १९६४ ।

संस्कृत साहित्य में अन्योक्ति के उद्भव एवं विकास का एक आलोचनात्मक अध्ययन (शोध-प्रबन्ध) — डा० राजेन्द्रप्रसाद मिश्र

संस्कृत काव्यशास्त्र को पण्डितराज जगन्नाथ का योगदान (शोध-प्रबन्ध) — डा० कमलेशदत्त त्रिपाठी, पृ० ७८-६०

पत्र-पत्रिकाएं एवं सूची-पत्र

इलाहाबाद यूनिवर्सिटी स्टडीज- (द वृषाकपि हिम्), वा० प्रथम, सीनेट हाउस, इलाहाबाद-१६२५, पृ० ६७-१५६ ।

इण्डियन हिस्टारिकल क्वाटरली- वाल्यूम द्वितीय, पृ० ४१३-१५

इण्डियन एण्टीक्वेरी, वाल्यूम ४२, पृ० ३८२ ।

इण्डोलाजिकल स्टडी, पार्ट ३, १६५६

एनुअल रिपोर्ट आफ द आर्कियोलाजिकल सर्वे ।

ए डेस्क्रिप्टिव कैटलाग आफ संस्कृत मैनुस्क्रिप्ट्स, वाल्यूम ६, १६०६

एनसाइक्लोपीडिया आफ रीलीजन एण्ड एथिक्स, वाल्यूम १, २, ४, ७

एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटानिका, वाल्यूम १, पृ० ६४५

एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटानिका वाल्यूम २१, पृ० ७००

कल्याण-भागवतांक, प्रथम खण्ड, एडीटेड-एच०पी० पोद्दार एण्ड सी०एल० गोस्वामी, गीताप्रेस, गोरखपुर, पृ० ३८६-३६४ ।

कैटलागसआफ संस्कृत मैनुस्क्रिप्ट्स इन मैसूर एण्ड कूर्ग, मैसूर गवर्नमेन्ट प्रेस, १८८४ ।

कैटलाग आफ एम०एस०एस० इन द सेन्ट्रल लाइब्रेरी, बड़ौदा, वाल्यूम १, पृ० ४६८ ।

कैटलाग आफ संस्कृत एण्ड प्राकृत मैनसक्रिप्ट्स इन द सेण्ट्रल प्रावीन्सेज एण्ड बेरार राज बहादुर हीरालाल, पृ० ३८७

जनरल आफ ओरियण्टल, मद्रास

जनरल आफ द आसाम रिसर्च सोसाइटी

डेसक्रिप्टिव कैटलाग आफ द संस्कृत मैनुस्क्रिप्ट्स, वाल्यूम ३, १६३०, वैणीविलास प्रेस, श्रीरङ्गम् ।

थ्योडार आफ्रेक्ट कैटलागस कैटलागारम - वाल्यूम १, २, पृ० २६, ४०७, ३५२, २०७ ।

द एनसाइक्लोपीडिया अमेरिका, वाल्यूम १, पृ० ४११

बौद्ध साहित्य में कवि अश्वघोष का अवदान --लक्ष्मणासेन गुप्त, नालन्दा त्रैमासिक पत्रिका, कलकत्ता, १६६६ ।

बर्नेल्स कैटलाग नं० १०६६८

संस्कृत एण्ड तमिल मैनसक्रिप्ट्स फार द इयर १८६६-६७, नं० १, गवर्नमैण्टप्रेस १८६८ ।